एम.ए. पूर्वार्द्ध

राजनीति विज्ञान, प्रथम प्रश्नपत्र

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

(MODERN INDIAN POLITICAL THOUGHT)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY - BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College, Bhopal (M.P.)

2. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

3. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University
   Bhopal (M.P.)

2. Dr L.S. Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

3. Dr L.P. Jharia
   Director
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal (M.P.)

4. Dr. Amar Nayak
   Associate Professor
   Govt. S.N. Girls Autonomous (PG) College
   Bhopal (M.P.)

5. Dr. Bhavana Bhadoriya
   Professor
   Govt. Hamidia College, Bhopal (M.P.)

6. Dr. Akhilesh Sharma
   Professor, OSD
   RUSA, Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Dr Rajneesh Kumar Gupta, Assistant Professor, Centre for Study of Diaspora, Faculty Block, Central University of Gujarat, Gandhinagar
Units: (1.3-1.3.2, 2.3-2.3.2, 2.3.4, 3.3)

Dr Biswaranjan Mohanty, Asst. Professor, Department of Political Science, SGTB Khalsa College, University of Delhi
Units: (1.0, 1.1,1.2, 1.3.3, 1.3.4, 1.3.5, 1.3.6, 1.4-1.8, 2.0-2.1, 2.2, 2.3.3, 2.3.5, 2.4-2.8, 3.0-3.1, 3.2-3.2.2, 3.2.3, 3.4-3.8, 4.0-4.1, 4.2-4.2.3, 4.3-4.3.6, 4.4-4.8, 5)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन : उत्पत्ति एवं विकास भारतीय पुनर्जागरण : राममोहन राय से विवेकानंद तक	**इकाई 1** : भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन और भारतीय पुनर्जागरण **(पृष्ठ 3–42)**
इकाई–2 उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद	**इकाई 2** : उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद **(पृष्ठ 43–90)**
इकाई–3 गांधीवाद उदारवाद	**इकाई 3** : गांधीवाद, उदारवाद **(पृष्ठ 91–118)**
इकाई–4 साम्यवाद समाजवाद	**इकाई 4** : साम्यवाद, समाजवाद **(पृष्ठ 119–194)**
इकाई–5 जाति व्यवस्था की आलोचना अंबेडकर का समग्र राष्ट्रवाद	**इकाई 5** : जाति व्यवस्था की समीक्षा **(पृष्ठ 195–210)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन और भारतीय पुनर्जागरण **3–42**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन : उत्पत्ति एवं विकास
1.3 भारतीय पुनर्जागरण : राममोहन राय से विवेकानंद तक
  1.3.1 राजा राममोहन राय
  1.3.2 स्वामी विवेकानंद
  1.3.3 स्वामी दयानंद सरस्वती
  1.3.4 एनी बेसेन्ट एवं थियोसोफिकल सोसाइटी
  1.3.5 महादेव गोविंद रानाडे एवं प्रार्थना समाज
  1.3.6 सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले
1.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.5 सारांश
1.6 मुख्य शब्दावली
1.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद **43–90**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा
2.3 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद
  2.3.1 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के कारण
  2.3.2 बाल गंगाधर तिलक
  2.3.3 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद
  2.3.4 वीर सावरकर
  2.3.5 सुभाषा चंद्र बोस
2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.5 सारांश
2.6 मुख्य शब्दावली
2.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 गांधीवाद, उदारवाद **91–118**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य

3.2 गांधीवाद
3.2.1 गांधीजी के अंहिसा संबंधी विचार
3.2.2 सत्याग्रह
3.3.3 अपरिग्रह
3.3 उदारवाद
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 साम्यवाद, समाजवाद **119–194**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 साम्यवाद
4.2.1 साम्यवाद की अवधारणा
4.2.2 भारत में साम्यवाद का विकास
4.2.3 साम्यवाद के संबंध में एम.एन. राय के विचार
4.3 समाजवाद
4.3.1 समाजवाद के उद्भव की ऐतिहासिक खोज
4.3.2 फेबियन समाजवाद
4.3.3 लेनिन और मार्क्सवाद
4.3.4 भारतीय समाजवादी विचारक : राममनोहर लोहिया
4.3.5 पं. दीनदयाल उपाध्याय
4.3.6 जयप्रकाश नारायण
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 जाति व्यवस्था की समीक्षा **195–210**

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 जाति व्यवस्था की आलोचना
5.3 अंबेडकर का समग्र राष्ट्रवाद
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धरित एम.ए. (पूर्वार्द्ध) राजनीति विज्ञान के पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन का प्रारंभ वैदिक काल से लेकर मुगल काल तक माना जाता है। यह वैदिक काल से अद्यतन अपनी गौरवशाली परंपरा के साथ खड़ा है। यह गौरवशाली परंपरा वैदिक काल से वर्तमान तक निर्बाध प्रवाहित हो रही है।

आधुनिक राजनीतिक चिंतन वैज्ञानिक सिद्धांत के अनुसार होता है। बीसवीं शताब्दी में व्यवहारवादी और उत्तर–व्यवहारवादी राजनीतिक विज्ञान का उदय हुआ। व्यवहारवाद तथा उत्तर–व्यवहारवाद का उद्देश्य शासन एवं राजनीति संबंधी घटनाओं को देखना तथा उनको मानव व्यवहार के रूप में प्रकट करना है। राजनीति में सिद्धांतों के पतन के पश्चात राजनीति शास्त्र के पुनरुद्धार के लिए अनेक विचारकों ने योगदान दिया है। वर्तमान समय में राजनीतिक चिंतन पर क्रांतियों और आविष्कारों के प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं। आदर्शवादी विचारधारा ने भी राजनीतिक चिंतन को निरंतर प्रभावित किया है। 20वीं शताब्दी में हरित राजनीतिक सिद्धांत का आरंभ भी एक क्रांतिकारी परिवर्तन रहा है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के संदर्भ में वैज्ञानिक व दार्शनिक विचारों को भी समझा जा सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का तथ्यपरक वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट किया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं।

पुस्तक में पांच इकाइयों को समायोजित किया गया है, जिनका विवरण इस प्रकार है–

पहली इकाई में भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन किया गया है तथा भारतीय पुनर्जागरण पर प्रकाश डाला गया है। इसके अंतर्गत भारतीय राजनीतिक चिंतन का अर्थ, व्यापकता, उसके स्रोत तथा उपयोगिता का वर्णन किया गया है। साथ ही इसकी विशेषताओं का भी विवेचन किया गया है।

दूसरी इकाई उदारवादियों एवं चरमपंथियों के बीच की बहस और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद पर आधारित है। इसमें उदारवाद एवं चरमपंथ की अवधारणा का अध्ययन किया गया है साथ ही क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का संपूर्ण विश्लेषण किया गया है।

तीसरी इकाई गांधीवाद तथा उदारवाद पर आधारित है। यह इकाई गांधी जी के मूल विचारों और उनकी अहिंसा वाली प्रकृति पर प्रकाश डालती है। सत्याग्रह के स्वरूप और तकनीक तथा उदारवाद का इस इकाई में विस्तृत अध्ययन किया गया है।

चौथी इकाई साम्यवाद तथा समाजवाद के अध्ययन पर आधारित है। इसमें साम्यवाद की अवधारणा, भारत में उसकी स्थापना एवं विस्तार का विस्तृत अध्ययन

किया गया है। साथ ही समाजवाद के प्रकारों तथा साम्यवाद व समाजवाद में अंतर का भी विश्लेषण किया गया है।

पुस्तक की पांचवीं एवं अंतिम इकाई में जाति व्यवस्था की आलोचना का वर्णन प्रस्तुत किया गया है, साथ ही अंबेडकर के समग्र राष्ट्रवाद का विवेचन किया गया है।

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। इन इकाइयों में प्रस्तुत किए गए विस्तृत अध्ययन से छात्र विषय के विभिन्न पहलुओं से अवगत हो पाएंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्धन करेगी।

इकाई 1 भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन और भारतीय पुनर्जागरण

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन : उत्पत्ति एवं विकास
1.3 भारतीय पुनर्जागरण : राममोहन राय से विवेकानंद तक
  1.3.1 राजा राममोहन राय
  1.3.2 स्वामी विवेकानंद
  1.3.3 स्वामी दयानंद सरस्वती
  1.3.4 एनी बेसेन्ट एवं थियोसोफिकल सोसाइटी
  1.3.5 महादेव गोविंद रानाडे एवं प्रार्थना समाज
  1.3.6 सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले
1.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.5 सारांश
1.6 मुख्य शब्दावली
1.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के साथ ही देश पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के संपर्क में आया। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में आकर ही भारतीयों ने विदेशी सभ्यता और साहित्य के बारे में ढेर सारी जानकारियां एकत्र कीं तथा अपनी सभ्यता से उनकी तुलना कर सच्चाई को जाना। इससे भारतीय समाज का आंतरिक कमजोरियों का पक्ष उजागर हुआ। परिणामस्वरूप देश में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों का जन्म हुआ। राजनीतिक चिंतन के अध्ययन की दृष्टि से भारतीय पुनर्जागरण की दो स्पष्ट धाराओं की व्याख्या की जा सकती है– सुधारवादी और पुनरावर्तनवादी। सुधारवादी विचारधारा यूरोपीय सामाजिक–सांस्कृतिक मानदंडों से अनुप्रेरित थी और भारतीय समाज को उसी दिशा में ले जाना चाहती थी। वहीं पुनरावर्तनवादी विचारकों का प्रेरणा स्रोत देश का स्वर्णिम अतीत था और उनके द्वारा प्रारंभ किए गए सुधारों का लक्ष्य देश में प्राचीन सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना था।

प्रस्तुत इकाई में भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन किया गया है तथा भारतीय पुनर्जागरण के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन कर पाएंगे;
- भारत में राजनीतिक चिंतन की उत्पत्ति एवं विकास की जानकारी ग्रहण कर पाएंगे;

टिप्पणी

- भारतीय पुनर्जागरण के मुख्य लक्षणों को जान पाएंगे;
- राजा राममोहन राय के समाज सुधारों की विवेचना कर पाएंगे;
- राजा राममोहन राय के राजनीतिक विचारों को समझ पाएंगे;
- पुनर्जागरण में स्वामी विवेकानंद के योगदान की समीक्षा कर पाएंगे;
- आदर्श राज्य की स्वामी विवेकानंद की अवधारणा का विश्लेषण कर पाएंगे।

1.2 भारतीय राजनीतिक चिंतन का अवलोकन : उत्पत्ति एवं विकास

राजनीतिक चिंतन एक ओर राजनीतिक व्यवहार के अनुभव और दूसरी ओर विचारक के विश्व–दर्शन पर आधारित होता है। पहला परिवर्तनशील है, दूसरा अधिकतर राष्ट्रीय परंपराओं से प्रभावित है। इस प्रकार, भारतीय राजनीतिक चिंतन की परंपरा अत्यधिक प्राचीन रही है। यह वह परंपरा है, जिसके अंतर्गत उन प्रसंगों अथवा विषयों का अवलोकन एवं विवेचन किया जाता है, जिनका संबंध मानव के सार्वजनिक जीवन से होता है।

समाज की समस्त परंपराओं में से मात्र राजनीतिक–प्रबंधन ऐसा विषय है, जिसका संबंध संपूर्ण सामाजिक–समुदाय से है, न कि किन्हीं गिने–चुने समूहों से। इस संबंध के अंतर्गत संपूर्ण समुदाय के संदर्भ में सत्ता का प्रयोग किया जाता है। सबके लिए नियम बनाए जाते हैं, सबके अधिकारों और कर्तव्यों का निर्धारण सुनिश्चित किया जाता है। इस कारण राज्य और शासन की प्रकृति के बारे में गहन रूप से अध्ययन करना अत्यंत अनिवार्य है। आधुनिक भारतीय राजनीति चिंतन उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों के उन विचारकों और आंदोलनों के साथ जुड़ा है जिन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अधीन भारत की दुर्दशा पर गहरी चिंता प्रकट की, साथ ही भारत के खोए हुए गौरव को वापस प्राप्त करने पर भी गहन विचार किया। इसी के साथ भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान का आह्वान किया। इनमें से कुछ विचारकों ने भारतीय समाज की कुरीतियों तथा कमियों की ओर जनमानस का ध्यान खींचते हुए समाज को जड़ से सुधारने पर अधिक जोर दिया। कुछ अन्य विचारकों ने स्वतंत्रता समानता तथा राष्ट्रवाद के महान आदर्शों का निरूपण करते हुए भारत को विदेशी शासन से मुक्त कराने की मांग की और संपूर्ण मानवता के उज्जवल भविष्य का सपना संजोते हुए विश्व को एक नवीन राह दिखाने का बीड़ा उठाया। चूंकि ऐसा अधिकांश चिंतन भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि में उभरकर सामने आया, अतः उसकी शुरुआती पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त करना समीचीन होगा। उपनिवेशवाद की प्रथा साम्राज्यवाद की एक अभिव्यक्ति है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की आधुनिक विचारधारा जानने के पूर्व इसकी प्राचीन और उत्पत्ति की धारणा को जानना भी अत्यंत आवश्यक है। प्राचीन भारतीय चिंतन का इतिहास, अत्यंत प्राचीन है। इसका प्रारंभ वैदिक काल से लेकर मुगलकाल तक माना जाता है। भारतीय वेद, पुराण, उपनिषद प्राचीन भारतीय चिंतन के उत्कर्षतम उदाहरण है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिंतन के आधुनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण हैं।

भारतीय चिंतन व्यावहारिक ही नहीं अत्यंत उपयोगी भी है। भारतीय चिंतन का मूल मानव–मात्र है और मनुष्य के परितः घूमता रहता है। पाश्चात्य चिंतन में मानव अठाहरवीं शताब्दी में केंद्रबिंदु बना, जबकि भारतीय चिंतन में यह आरंभ से ही रहा है। भारतीय राजनीतिक चिंतन को राजधर्म, राजशास्त्र, दंडनीति तथा नीतिशास्त्र के नामों से संबोधित किया जाता रहा है। पंचतंत्र में इसे "नृपतंत्र" कहा जाता था।

इस प्रकार प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के अनेकशः स्रोत हैं, जिनमें प्राचीन साहित्य, वेद–पुराण, धर्मशास्त्र, उपनिषद, महाकाव्य, जैन ग्रंथ एवं बौद्ध जातक सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त समय–समय पर अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुकनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें ह्वेनसांग एवं फाह्यान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त पुरातन अवशेषों गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। इसके स्रोत के रूप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन में धर्म और राजनीति को एकसाथ जोड़ा गया है। इसके अंतर्गत आध्यात्मिकता पर बल दिया गया है। भारतीय राजनीतिक चिंतन में 'राज' को आवश्यक माना जाता है। इसमें 'राज' का कार्यक्षेत्र अत्यधिक व्यापक है।

चिंतन का अर्थ एवं व्यापकता

भारतीय राजनीतिक चिंतन वैदिक काल से अद्यतन अपनी गौरवशाली परंपरा के साथ खड़ा है। यह वैदिक काल से मुगल काल और वर्तमान तक विस्तारित होता है। वर्तमान से हजारों वर्ष पूर्व जबकि विश्व में चिंतन का विस्तार नहीं हो पाया था, उस समय भी भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक चिंतन अपने सर्वोत्कृष्ट स्तर पर विद्यमान था तथा यह गौरवशाली परंपरा वैदिक काल से वर्तमान तक निर्बाध प्रवाहित है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन के वेद, पुराण, उपनिष्द उत्कृष्ट प्रमाण हैं। वहीं कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिंतन के आधुनिक स्वरूप का प्रतिपादक है। अरस्तू के समकालिक कौटिल्य का संपूर्ण चिंतन व्यावहारिक है तथा यह प्रमाणित करता है कि भारतीय चिंतन कहीं भी कमतर अथवा पिछड़ा हुआ नहीं है। यद्यपि भारतीय औपनिवेशिक काल में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने यह भ्रम फैलाने का भरसक प्रयास किया कि भारतीय प्राचीन चिंतन अति साधारण, आदर्शवादी, अव्यावहारिक एवं रहस्यवाद से भरा हुआ है। इस मिथक को मैक्समूलर, डनिग जैसे पूर्वाग्रह से ग्रसित विद्वानों ने और बल दिया है। किंतु समयानुसार भारतीय राजनीतिक चिंतन के उत्कृष्ट नवीन तथ्य समक्ष आते गए और फैलाए हुए भ्रम टूटते चले गए। यह बात मैक्सी के कथन से और अधिक स्पष्ट हो जाती है, वे कहते हैं– "हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनीतिक इतिहास यूरोप के राजनीतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनीतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।"

"एशियाटिक सोसायटी" के उदय के साथ स्थिति में बदलाव प्रारंभ हुआ।

राजनीतिक चिंतन की उपयोगिता

विश्व के अनेक विद्वानों ने राजनीतिक चिंतन को अनुपयोगी तथा निष्फल एवं हानिकारक माना। इस विचारधारा को मानने वालों में मुख्य रूप से बेकन, लेस्ली, स्टीफन, बर्क, डनिंग आदि शामिल हैं। स्टीफन का कथन है कि– "वे देश भाग्यशाली

टिप्पणी

हैं, जिनके पास कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है, क्योंकि ऐसा तत्व चिंतन निकट भविष्य में होने वाली क्रांतिकारी उथलपुथल का सूचक होता है।"

इस प्रकार के मत को मानने वालों का कथन है कि राजनीतिक चिंतन आदर्शवादी, काल्पनिक एवं भ्रम पैदा करने वाले होते हैं। इस प्रकार की मान्यता रखने वाले विचारकों के लिए तथाकथित परिस्थितियों से उपजी हुई निराशा मुख्य कारण हो सकती है, जिसने उनके विचारों को नकारात्मक बना दिया। राजनीतिक चिंतन में अनेक दोष निकालने पर भी यह सर्वमान्य तथ्य है कि यह चिंतन मानव के लिए उपयोगी है। कुछ प्रमुख बिंदु इस प्रकार हैं, जो अत्यंत महत्वपूर्ण हैं–

1. राजनीतिक चिंतन मनुष्य के परितः घूमता है, अतः मनुष्य के साथ इसका घनिष्ठ संबंध है। इस चिंतन की विचारधारा के प्रतिपादक विद्वानों द्वारा दिए गए विभिन्न सिद्धांतों ने मनुष्य को अत्यधिक लाभान्वित किया है। रूसो के विचारों ने अठाहरवीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रांति को जन्म दिया तथा इसी क्रांति से समानता, स्वतंत्रता एवं भाईचारे का विचार उजागर हुआ। मार्क्स ने बीसवीं शताब्दी में "बोल्शेविक क्रांति" को जन्म दिया। इसी से साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ। राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से यह भी लाभ होता है कि हमें ऐतिहासिक घटनाओं को समझने और उनकी व्याख्या एवं विश्लेषण करने में सहायता मिलती है, जिससे वर्तमान परिप्रेक्ष्य पर सटीक निर्णय लिए जा सकते हैं।
2. यह सर्वविदित ही है कि वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव भूत अर्थात इतिहास में ही रहती है। अतः वर्तमान घटनाओं को समझकर इतिहास से उनका निवारण प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार चिंतन वर्तमान समस्याओं का न सिर्फ निवारण करता है बल्कि भविष्य में होने वाली समस्याओं का हल निकालता है और मार्ग प्रशस्त करता है।
3. किसी भी राज्य अथवा देश का मूर्तरूप उसकी 'सरकार' होती है। यह मनुष्य निर्मित है और मनुष्य के ही इर्द–गिर्द घूमती है। इसलिए मनुष्य के संबंध में विचार अथवा चिंतन करना, उससे संबंधित विभिन्न प्रश्नों पर विचार करना मनुष्य एवं समाज के लिए कल्याणकारी है।

   राजनीतिक चिंतन की एक भिन्न प्रकार की उपयोगिता यह भी होती है कि यह विचारधारा विभिन्न प्रकार की शब्दावलियों एवं सिद्धांतों को जन्म देती है, जो कि एकरूप राष्ट्र के निर्माण को प्रेरित करती है। इसमें राष्ट्रीयता, लोक–कल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद एवं पंथ–निरपेक्षता प्रमुख रूप है।

राजनीतिक चिंतन के प्रमुख अभिधान

राजनीतिक चिंतन यूं तो मनुष्य के कल्याण के लिए मनुष्य द्वारा किया जाने वाला वह प्रयास है, जो 'सर्वहिताय सर्वसुखाय' को प्रतिपादित करता है। इस कारण इसे प्राचीन समय से ही विभिन्न नामों से अभिहित किया जाता रहा है और कालचक्रानुसार यह अपनी महत्ता को खोता एवं प्राप्त करता रहा है। प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र को राजधर्म, राजशास्त्र, दण्डनीति, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि नामों से जाना जाता रहा है। इसे विभिन्न स्मृतियों में राजधर्म, महाभारत में राजशास्त्र, दंडनीति एवं अर्थशास्त्र कहा गया है। पंचतंत्र में इसे 'नृपतंत्र' भी कहा गया है। बहुत से विद्वान राजसत्ता का

अंतिम आधार 'दंड' को ही मानते हैं, इसलिए उनका कथन है कि राजनीतिक सत्ता यदि कानून तोड़ने वालों को दंड नहीं देगी तो अराजकता उत्पन्न होगी। इसलिए 'दंड' द्वारा ही भय उत्पन्न कर कानून व्यवस्था निर्मित की जा सकती है। अतः राजनीतिक चिंतन को 'दंडनीति' भी कहा गया है। किंतु कौटिल्य ने राजनीतिक चिंतन की इस धारणा को अस्वीकार किया है। कौटिल्य के अनुसार दंड से भय उत्पन्न होता है। उनका कथन है कि कानून तोड़ने वालों को दंडित करने हेतु आमजन स्वतः कानून का पालन करने की ओर अग्रसर होता है। जबकि मनुस्मृति में मनु ने दंड देने वाली मानवीय सत्ता को राजा नहीं माना अपितु दंड को शासन माना है।

'नीतिशास्त्र' शब्द के अंतर्गत 'नीति' का अर्थ 'सही मार्ग दिखाने' से संदर्भित किया जाता है। उचित–अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र 'नीतिशास्त्र' कहा जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध 'नीतिशतकम्' इसी विशाल अर्थ को परिलक्षित करता है। कामंदक एवं शुक्र के शासन संबंधी ग्रंथ को 'अर्थशास्त्र' कहा जाता है। कौटिल्य की मान्यता थी कि 'अर्थ' शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय परिलक्षित होता है और वह भू–भाग भी इंगित होता है, जिस पर रहकर व्यवसाय किया जाता है। अतः उस भू–भाग को प्राप्त करना और उसको बनाए रखने का शास्त्र ही अर्थशास्त्र है। शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र न केवल संपत्ति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है, अपितु शासन शास्त्र के सिद्धांतों को भी स्थापित करना है।

इस प्रकार प्राचीन भारत से ही 'राजशास्त्र' का व्यापक प्रभाव रहा है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है, उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते हैं। यह विषय संकुचित न होकर व्यापक है। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म और राजसत्ता आदि के साथ अनेक जनकल्याणकारी कार्य भी सम्मिलित थे।

भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोत

भारतीय राजनीतिक चिंतन के कई स्रोत हैं जिनमें प्रमुखतया प्राचीनतम एवं प्राचीन साहित्य जैसे– वेद, पुराण, उपनिषद, धर्म–सूत्र, धर्म–शास्त्र, महाकाव्य, जैन एवं बौद्ध धर्म ग्रंथ सम्मिलित हैं। इन सबके अतिरिक्त समय–समय पर विभिन्न विद्वानों की कालजयी रचनाएं जैसे– कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांतदकीय नीतिशास्त्र, शुक्रनीति, मनुस्मृति आदि भी भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोतों में सम्मिलित होती रही हैं। विभिन्न शासकों के शासनकाल में विदेशी विद्वानों ने राज्य भ्रमण के अतिरिक्त व्यापक सामयिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण भी अपने लेख–ग्रंथों में किया। इनमें फाह्यान एवं ह्वेनसांग का वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कुछ संस्कृत के विद्वानों के ग्रंथों जैसे– पाणिनी के व्याकरण ग्रंथ अष्टाध्यायी, कालिदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्राराक्षस से भी भारतीय राजनीतिक चिंतन की जानकारी प्राप्त होती है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन के स्रोतों को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नलिखित दो खंडों में विभाजित कर सकते हैं–

1. भारतीय अथवा देशी स्रोत
2. विदेशी स्रोत।

टिप्पणी

1. भारतीय अथवा देशी स्रोत

भारतीय स्रोतों में ऐतिहासिक एवं अनैतिहासिक दोनों प्रकार के साहित्य सम्मिलित हैं, जिनमें से सर्वाधिक प्रमाणिक एवं महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य है। इनमें भी मुख्य रूप से वेद संहिताएं, ब्राह्मण ग्रंथ और सूत्र सम्मिलित हैं। वैदिक साहित्य के पश्चात महाकाव्य जैसे– रामायण, महाभारत का स्थान आता है। अन्य धर्मों जैसे– जैन व बौद्ध धर्म के साहित्य भी उल्लेखनीय हैं।

भारतीय राजनीतिक चिंतन के भारतीय स्रोत इस प्रकार हैं–

1. **वेद**– भारतीय धार्मिक साहित्य का प्राचीनतम ग्रंथ वेद है। वेद चार प्रकार के हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद। इनमें मंत्रों के माध्यम से शासन एवं राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों का पता चलता है। इनसे राजा के अधिकार, राजा–प्रजा संबंध एवं राज्य संचालन का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।
2. **ब्राह्मण एवं उपनिषद**– वेदों में वर्णित मंत्रों की गद्यात्मक टीकाओं को ब्राह्मण कहा जाता है। इनमें भी पंचविंश, शतपथ ब्राह्मण, तैत्तरीय ब्राह्मण प्रमुख हैं। उपनिषदों में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, शासन–तंत्र, राजा–प्रजा के संबंधों का वर्णन मिलता है। इनमें वृहदारण्यक, छान्दयोग, श्वैतारउपनिषद, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक आदि प्रमुख हैं। इनसे बिम्बसार के पूर्व की राजनीतिक दशा की जानकारी प्राप्त होती है।
3. **महाकाव्य**– वेदों के बाद प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति का संपूर्ण ज्ञान यदि किसी माध्यम से प्राप्त होता है, तो वह है– रामायण एवं महाभारत। वाल्मिकी कृत रामायण में तत्कालीन समाज का संपूर्ण चित्रण सजीव हो उठता है। महाभारत में शांति–पर्व व राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्य तथा राज्य के साथ संबंधों का वर्णन है।
4. **पुराण**– जिस प्रकार महाकाव्य भारतीय राजनीतिक चिंतन को समृद्ध करते हैं, उसी प्रकार पुराण अपने समय की ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं। ये महाकाव्यों के समकालीन हैं। इनमें आदिमकाल से गुप्त काल पर्यंत समस्त स्थितियों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। विष्णु पुराण मौर्य वंश के विषय में तो मत्स्य पुराण आंध्रदेश के विषय में व्याख्या करते हैं। वायु–पुराण गुप्तकालीन शासनकाल की व्याख्या करते हैं तथा इसी में ही सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था की उत्पत्ति का वर्णन प्राप्त होता है।

   अग्नि पुराण का राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है, जिसमें जनकल्याण का आधार शासन को बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में सामाजिक वर्ग व्यवस्था के नियमों का पालन तथा मानवकल्याण पर बल दिया गया है।
5. **स्मृतियां**– स्मृतियों का ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्व है। मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्कस्मृति, नारद स्मृति आदि महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं। ये सभी धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इनमें समाज की सभी व्यवस्थाओं का विस्तारित चिंतन दिया गया है।

6. **जैन साहित्य**– भारतीय राजनीति चिंतन को प्रमुखता से जैन साहित्य प्रमाणित करता है। मुख्य रूप से जैन–साहित्य प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा में उपलब्ध है। जैन–सूत्रों में ऐतिहासिक विषय–वस्तु उपलब्ध है। इसमें हेमचंद्र लिखित "परिशिष्ट–पर्वन" अत्यधिक महत्व रखता है। इसमें महावीर काल से मौर्य–काल पर्यंत विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।
7. **बौद्ध साहित्य**– बौद्ध धर्म के तीन प्रमुख ग्रंथों को त्रिपिटक के नाम से जाना जाता है। ये संत पिटक, धम्म पिटक और विनय पिटक है। इन पिटकों से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं का संपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म ग्रंथ दिव्यावदान, ललितविस्तार, महावस्तु, मंजुषी आदि संस्कृत भाषा में हैं। इसके अतिरिक्त अश्वघोष का 'बुद्धचरित', वसुबंधु का धर्मकोष, नागार्जुन का महयियका सूत्र महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं।
8. **लौकिक साहित्य**– उपरोक्त ऐतिहासिक माध्यमों के अतिरिक्त एक अन्य माध्यम है–लौकिक साहित्य। इसमें तत्कालीन समाज का विभिन्न काल–खंडों में चित्रण किया गया है। इनमें कालिदास, पाणिनी, पतंजलि की रचनाएं प्रमुख हैं।
9. **कौटिल्य का अर्थशास्त्र**– कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' भारत ही नहीं अपितु विश्व के प्रमुख राजनीतिक ग्रंथों में से एक है। इसे 'राजनीतिशास्त्र' का आधार माना जाता है। अर्थशास्त्र में राजा को वेद तथा तत्व ज्ञान विषयों का अध्ययन करने को कहा गया है।
10. **नीतिशास्त्र**– नीतिशास्त्र में कामंदकीय नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति सार का विशेष योगदान है। कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र के पश्चात राज्य एवं शासन व्यवस्था पर लिखे गए ग्रंथों में ये ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। कामंदकीय नीतिशास्त्र गुप्तकाल में 500 ई. के आसपास लिखा गया था। शुक्रनीति भी तत्कालीन शासन व्यवस्था का वर्णन करती है। इस समय तक गणराज्यों का अंत हो चुका था। अतः इसमें राजा का ही वर्णन है। शुक्रनीति के अनुसार शासन का उद्देश्य प्रजा का सर्वांगीण विकास करना है।
11. **अन्योन्य ऐतिहासिक स्रोत**– इसके अंतर्गत विभिन्न कालखंडों में रचित विभिन्न रचनाएं हैं। इनमें कल्हण द्वारा रचित 'राजतरंगिणि' प्रमुख है। इसमें प्राचीन से 12वीं शती पर्यंत कश्मीरी इतिहास का वर्णन है। बाणभट्ट द्वारा रचित "हषिचरित" में हर्ष के शासन के विभिन्न पक्षों का वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल का "नवसाहसांकचरित" परमार वंश की जानकारी देता है। वाक्पतिराज के काव्यग्रंथ "गौडवहों" से कन्नौज के राजा यशोवर्मन के राजव्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। चंदरवरदाई की रचना 'पृथ्वीराज रासो' से तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

2. विदेशी स्रोत

भारतीय राजनीतिक चिंतन को यदि सर्वांगीण रूप से समझना है, तो विदेशी स्रोतों से प्राप्त जानकारी लेना भी अत्यंत आवश्यक है। विदेशी स्रोतों में प्रमुख रूप से विदेशी विद्वानों की रचनाएं, टीकाएं तथा संस्मरण सम्मिलित हैं। विदेशी विचारकों में यूनान एवं

टिप्पणी

रोम के विचारकों को सम्मिलित किया जाता है। इनमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण यूनानी दृष्टिकोण माना जाता है। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से इसे तीन वर्गों में विभक्त किया जाता है–

(i) सिकन्दर के पूर्व के विचारक

(ii) सिकन्दर के समकालीन विचार

(iii) सिकन्दर के बादके विचारक।

(i) **सिकन्दर के पूर्व के विचारक**– इनमें सर्वप्रमुख यूनानी सैनिक स्काइलेक्स है। उसने अपनी संस्मरण स्वरूप लिखी पुस्तक में भारतीय सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन किया है। इसके साथ ही हेरोडोटस ने भी भारतीय व्यवस्था का वर्णन किया है। चूंकि ये लोग भारत के सीमावर्ती प्रदेशों में अधिक रहे, इसलिए इनके संस्मरण लेखों में मुख्यतः सीमावर्ती क्षेत्रों की तत्कालीन स्थितियों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

(ii) **सिकंदर के समकालीन विचारक**– यह सर्वविदित है कि सिकंदर ने विश्व विजय के लक्ष्य के साथ भारत में प्रवेश किया था और अरिस्टोवुसल, निर्याकस, ओनिसक्रेटिस, एरियन आदि विचारक सिकन्दर के साथ आक्रमण के समय भारत आए थे। इस कारण वे भारतीय सामाजिक व्यवस्था से निकटता से जुड़े रहे। और यही वह ठोस कारण है, कि इनके द्वारा दिया गया विवरण अधिक सटीक और प्रमाणिक माना गया है।

(iii) **सिकन्दर के बाद के विचारक**– सिकन्दर के पश्चात मुख्य रूप से यूनान से भारत आने वाले विचारक मेगस्थनीज, डायमेक्स, टिखनी, डायोडोरस, प्लूटार्क आदि हैं। इनमें सर्वाधिक प्रमाणित विवरण मेगस्थनीज का माना जाता है। इनकी प्रसिद्ध रचना 'इण्डिका' है जिसमें तत्कालीन भारतीय व्यवस्था का अत्यंत प्रमाणिक विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त एरियन, जस्टिन, डोयोडोरस का विवरण प्रमुखतया सिकन्दर के आक्रमणों से संबंधित था। इन सब के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण रचना है– "पेरीप्लस ऑफ द एरीशीन सी" जिसमें तत्कालीन व्यापार, कृषि एवं भारत के विदेशों के साथ संबंधों का विस्तृत विवरण दिया गया है। इन विचारकों के अलावा टाल्मी के 'भूगोल', टिलनी के 'नैचुरल हिस्ट्री' तथा इंडकोरलुस्टस के 'क्रिश्चियन ऑफ द यूनीवर्स' में भारत की भौगोलिक स्थिति एवं संस्कृति का वर्णन प्राप्त होता है।

चीनी यात्रियों का विवरण

भारतीय सामाजिक स्थिति पर समय–समय पर चीनी यात्रियों द्वारा दिया गया विवरण भी अत्यंत महत्वपूर्ण एवं प्रमाणिक है। इनमें फाहयान, ह्वेनसांग तथा इटसिंग प्रमुख हैं। फाहयान, चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में भारत आया था। उसने प्रमुखतया बौद्ध तीर्थों का भ्रमण किया तथा उनका विवरण दिया। ह्वेनसांग हर्ष के शासन काल में भारत आया और उसने समूचे भारत का भ्रमण किा था। इसके पश्चात सातवीं शताब्दी में इटसिंग ने भारत के शिक्षा के उच्च केन्द्रों नालंदा विश्वविद्यालय एवं तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इस वर्णन से तत्कालीन शैक्षणिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का सहज ज्ञान उपलब्ध होता है।

टिप्पणी

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरण

भारत में इस्लामिक राष्ट्रों के आक्रमणकर्ताओं के साथ आए मुस्लिम इतिहासकारों एवं यात्रियों के द्वारा भी भारतीय व्यवस्थाओं का वर्णन प्राप्त होता है। अल्बरूनी के ग्रंथ 'तहकीक–ए–हिन्द' से तत्कालीन राजपूती भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म, रीति–रिवाज आदि का वर्णन प्रमुखता से प्राप्त होता है। अलमसऊदी की 'मजरूल जहाब' भी तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था का चित्रण करती है।

अन्योन्य स्रोत (पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप)

भारतीय इतिहास में प्राचीन काल से अद्यतन अनेक रहस्यों का अनावरण पुरातनी अवशेषों के माध्यम से ही हुआ है। इनमें भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'पुरातन अवशेष' है। सातवाहन वंश के इतिहास का ज्ञान भी इसी से हुआ। पुरातत्व में प्रमुखता से प्राचीन अभिलेख, मुद्राएं, भवन, स्मारक आदि को सम्मिलित किया जाता है। खुदाई में मिली पुरातात्विक वस्तुओं से तो सभ्यताओं की संपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। इनसे इतिहास के नवीन स्वरूप को समझने में मदद मिली और जनमानस की विचारधारा में बड़ा परिवर्तन आया। आर.डी. बनर्जी ने 1921–22 में सिंध प्रान्त में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब में हड़प्पा की संस्कृति खुदाई से प्राप्त की। खुदाई से जो तथ्य सामने आये उनसे स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता अत्यंत प्राचीन है। इस संदर्भ में मार्शल का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी श्रृंखला में कालीबंगा, लोथल, गया आदि महत्वपूर्ण स्थानों की खुदाई के द्वारा अनेक रहस्यों से पर्दा हटा। पुरातन वैज्ञानिकों ने खुदाई में प्राप्त वस्तुओं जैसे– शव, मुद्रा, हड्डी, बर्तन, हथियार, औजार, श्रृंगार सामग्री आदि का अध्ययन करके इतिहास को नवीन प्रमाणिक तथ्य प्रदान किए। इनके अतिरिक्त अनेक अभिलेख विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुए हैं, जिनके अध्ययन से विभिन्न कालिक राजनीति, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है। इनमें से अशोक के अभिलेखों को प्राचीनतम माना जाता रहा है। इनमें हाथीगुम्फ अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख, गुप्तकालीन अभिलेख आदि सम्मिलित हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेखों में मुख्य रूप से प्रयाग का अभिलेख महत्वपूर्ण है। दक्षिण के चोल, पल्लव, पाण्डव राजाओं के अभिलेख भी महत्वपूर्ण हैं। ये समस्त अभिलेख भारतीय प्राचीन इतिहास एवं राजनीतिक विचारधारा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं।

मुद्राएं

भारत में ईसा पूर्व 200 से 300 ई. तक के भारतीय इतिहास की संपूर्ण जानकारी मुद्राओं के माध्यम से ही प्राप्त होती है। इसलिए भारतीय इतिहास के ज्ञान का प्रमुख आधार भी यही मुद्राएं हैं। अनेक प्राचीन शासकों जैसे– पल्लव, शक, वैक्ट्रियन आदि के अध्ययन का प्रमुख आधार मुद्राएं ही हैं। इनमें भी गुप्तकालीन मुद्राओं का महत्व बहुत अधिक है। ये मुद्राएं न केवल कलात्मक हैं, अपितु इनके निहितार्थ भी अत्यंत व्यापक हैं। ये राजा की वंशावली, तिथिक्रम तथा उत्तराधिकारी का लेखा–जोखा भी बताती हैं। मुद्राओं के माध्यम से ही अनेक राजाओं का अस्तित्व भी सिद्ध हुआ है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणादे आदि गणतंत्रों का अस्तित्व भी इन मुद्राओं के द्वारा प्रमाणित होता है।

स्मारक

प्राचीन मंदिरों, स्तूपों, विहारों, मूर्तियों, भवनों आदि को स्मारक में सम्मिलित किया गया है। इनसे तत्कालिक सामाजिक–धार्मिक जीवन की जानकारी प्राप्त होती है। तक्षशिला

के जर्जर भवनों से कुषाण वंश का संपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। वहीं पाटलिपुत्र के खंडित–खंडहरों से मौर्य वंश का, तो देवगढ़, कानपुर, झांसी आदि के जर्जर भवनों से गुप्तवंश की राजनीतिक, सामाजिक व धार्मिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है।

टिप्पणी

उपरोक्त सभी स्रोतों के आधार पर स्पष्ट है कि भारतीय राजनीतिक चिंतन को आदि से वर्तमान तक समझने और प्रमाणित करने में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिंतन की अवधारणा न केवल समृद्ध है, अपितु अतिप्राचीन एवं उत्तरोत्तर परिष्कृत है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की अवधारणा

भारतीय राजनीतिक चिंतन के इतिहास के संदर्भ में यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण है कि भारतीय चिंतन की परंपरा पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन से बहुत प्राचीन है। भारतीय चिंतन की परंपरा वैदिक काल से आरंभ होकर अद्यतन निर्बाध प्रवाहशील है, समय–समय पर इसमें परिवर्तन आते रहे, बदलाव होते रहे, किंतु मानव मात्र के कल्याण की भावना और परंपरा सदैव बनी रही। भारत में राजतंत्रीय और गणतंत्रीय शासन प्रणालियां यूनानी नगर राज्यों की शासन प्रणालियों से भी पूर्व से विकसित हो चुकी थीं। साथ ही भारतीय मनीषियों ने प्राचीन यूनान के राजनीतिक दार्शनिकों सुकरात, अरस्तु और प्लेटो से भी पहले राज्य शास्त्र और शासन कला पर अत्यंत परिमार्जित सिद्धांत दे दिए थे।

भारतीय राजनीतिक चिंतन अपने मूल रूप में ब्राह्मणवाद के अभ्युदय के समय विकसित हुआ था, कालक्रमानुसार जब नवीन धार्मिक आंदोलनों, नवीन जातियों, श्रेणियों तथा संघों का उदय हुआ तथा भारत को विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करना पड़ा तब इन समस्याओं के समाधान के उद्देश्य से भारतीय राजनीतिक चिंतन में नवीन विचारों का सूत्रपात हुआ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र, शुक्रनीति और अनेकानेक राजनीतिक ग्रन्थों के अंतर्गत नवीन परिस्थितियों के यथोचित निर्देश प्रस्तुत किए गए। राजनीति दर्शन जिन परिस्थितियों की व्याख्या करता है, वे मनुष्य के जीवन की आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा उद्देश्यों से संबंध रखती हैं, क्योंकि व्यक्ति तथा राज्य का परस्पर संबंध ही राजनीतिक चिंतन का मूलआधार है। इस विचारधारा पर पाश्चात्य विचारकों टॉमस हॉब्स, जॉन लॉक, रूसो, हेगल, लास्की आदि ने अपनी मान्यताओं के अनुसार राजनीतिक दायित्य के भिन्न–भिन्न आधार तथा तर्कों एवं सीमाओं का विवरण दिया है। इसका एक सुंदर उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है, जैसे प्रत्येक पीढ़ी को नवीन वाहन बनाने के लिए पहिए का आविष्कार नहीं करना पड़ता, वैसे ही हमें अपना राजनीतिक तर्क प्रस्तुत करने के लिए नवीन संकल्पनाओं और नवीन शब्दावलियों का निर्माण नहीं करना पड़ता। हम अपनी आधुनिक चेतना के आलोक में ही युग–युगान्तर से प्रचलित तर्क शृंखला का पुनरावलोकन कर सर्वश्रेष्ठ दृष्टिकोण बनाते हैं।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की अवधारणा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान कौटिल्य का माना जाता है, जिन्हें भारतीय राजनीतिक चिंतन का जनक कहा जाना सर्वथा उचित है। कौटिल्य ने अपने व्यावहारिक राजनीतिक विचारों के द्वारा संपूर्ण राजनीतिक चिंतन को प्रभावित किया है। साथ ही इस तथ्य में भी संदेह नहीं कि वर्तमान में

कौटिल्य की कुछ मान्यताएं महत्वहीन प्रतीत होती हैं, जैसे– उन्होंने राजतंत्र का समर्थन किया है, जबकि वर्तमान समय प्रजातंत्र में आस्था रखता है। उन्होंने दास प्रथा का समर्थन किया, जबकि वर्तमान में दासता के किसी भी रूप को अमानवीय माना जाता है, तथापि कौटिल्य के अधिकांश विचार वर्तमान संदर्भ में भी प्रासंगिक हैं, जैसे– कौटिल्य का कथन है कि शासकों को श्रेष्ठचरित्र, कर्मठ, निष्ठावान, सत्यवादी, प्रजा के प्रति समर्पित और विजय की इच्छा रखने वाला होना चाहिए। राज्य के पदाधिकारियों की नियुक्ति एवं योग्यता के संबंध में उसके विचार, प्रशासनिक भ्रष्टाचार के विषय में उसकी अवधारणा, गुप्ततंत्र के संगठन तथा उनकी कार्य–प्रणाली के संदर्भ में उसका विश्लेषण, कानून का विस्तारित ज्ञान आदि पर कौटिल्य के विचार आधुनिक समय में प्रासंगिक हैं। उसी प्रकार विधवा–विवाह, तलाक, स्त्री शिक्षा जैसे सामाजिक मुद्दों पर भी कौटिल्य के विचार अनुगृहणीय हैं।

यदि हम 'मनु' के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करें तो पाएंगे कि 'मनुस्मृति' राजनीति की एक उत्कृष्ट कृति है। मनु ने राज्य की उत्पत्ति, राजा की स्थिति, अधिकार, कर्तव्य, न्याय, दंड, अंतर्राष्ट्रीय संबंध आदि अनेक राजनीतिक पक्षों पर व्यापक विश्लेषण किया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि मनु एक अत्यंत सूक्ष्मदर्शी विचारक थे, जिनकी विशाल दृष्टि से मनुष्य का, मनुष्य से संबंधित सामाजिक संस्थाओं तथा राजनीतिक संस्थाओं का कोई भी पक्ष ओझल नहीं रह पाया।

भारतीय राजनीतिक चिंतन का विकास

जितनी प्राचीन संकल्पना भारतवर्ष की है, उतनी ही प्राचीन है भारतीय राजनीतिक चिंतन की अवधारणा। अतः भारत में राजनीतिक चिंतन के विकास का प्रारंभ भारत में आर्यों के आगमन से माना जाता है। समय अवधि के अनुसार विचार किया जाए तो यह लगभग 1600 से लेकर 1400 वर्ष ईसा पूर्व है। ऋग्वेदीय परंपरा के अनुसार इन आगंतुक आर्यों का समाज पितृप्रधान था। शासन राजतंत्रात्मक तथा राजा निर्वाचित एवं नियंत्रित हुआ करता था। कालक्रमानुसार राजा वंशानुगत एवं नियंत्रण मुक्त हो गया। इस काल (वैदिक काल) में समिति एवं सभा का गठन लोकप्रिय था। समाज के वरिष्ठ एवं शक्तिशाली लोगों की परिषद ही राजा का चुनाव करती थी तथा राजकार्य में समय–समय पर महत्वपूर्ण परामर्श भी देती थी। मनुष्य के सामाजिक विकास के साथ ही राजनीतिक विकास भी उत्तरोत्तर बढ़ता गया। कालक्रमानुसार धर्म एवं कर्मकांड का प्रभाव बढ़ता गया। इसी क्रम में युद्ध में विजय प्राप्त करने की लालसा और फायदे के लालच ने बलि प्रथा को बढ़ावा दिया। पुरोहितों के कार्यों में व्यापकता आयी तथा उनका वर्चस्व बढ़ता गया। जनसंख्या वृद्धि के कारण कार्यों के आधार पर विशेषीकरण पर बल दिया गया। युद्धों के बढ़ने एवं राज्य विस्तार की लालसा ने संगठित सेना रखने पर विवश किया। युद्ध के क्षेत्र में आने वाले लोगों को क्षत्रिय कहा गया। कर्मकाण्डों एवं रिवाजों के कारण ब्राह्मण वर्चस्व में बढ़ोत्तरी हुई। उपजाऊ भूमि क्षेत्र में कृषि को बढ़ावा मिला और अन्य व्यापारिक गतिविधियों में भी वृद्धि हुई। जिसके कारण समाज में प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। साथ ही कृषि–कार्य एवं अन्य कलाओं से जुड़ी नवीन जातियां भी बनने लगीं।

विकास की इस श्रृंखला के द्वितीय चरण में बड़े राज्य स्थापित हो गए थे तथा सामाजिक विकास के साथ ही राजनीतिक विकास की श्रृंखला आरंभ हुई। राजा की

टिप्पणी

सैनिक एवं भौतिक शक्ति का विकास होने लगा। राजा का निर्वाचन न होकर वंश परंपरा के अनुसार होने लगा और राजा कानून का संरक्षक एवं संप्रभु हो गया।

इसी प्रकार विकास के तीसरे चरण में राजा धर्म के प्रभुत्व से बाहर आ गया। वह अत्यंत सशक्त और धर्म का प्रतिनिधि बन गया। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म के साथ प्रारंभ हुई। ब्राह्मणवाद का दमन हुआ, उनके वर्चस्व में कमी आयी। इन दोनों धर्मों का विस्तार एवं ब्राह्मण वर्चस्व में कमी आ गयी। साथ ही राजनीति के नवीन विचारों का विकास हुआ और नए कानून बनाने पर विकसित व्यवस्था आयी।

इस प्रकार निर्मित नवीन परिस्थितियों में राजा की स्थिति और मजबूत हो गयी। कट्टर पुरातनवाद का अंत एवं निरंतर नवीन धर्मों का आरंभ होने लगा तथा राजाओं का झुकाव भिन्न–भिन्न नवीन धर्मों में होने लगा। जिस प्रकार सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म का समर्थक था, तो सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का प्रवर्तक था। सामाजिक समरसता एवं सौहार्द बनाए रखने तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए राजा द्वारा बल का प्रयोग करना आरंभ हुआ। मौर्य राजवंश के पतन के पश्चात भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन हुए। इनमें शक एवं कुषाण जैसे राज्य एवं अनेक छोटे–बड़े राज्यों की स्थापना हुई। इनमें से अधिकतर विदेशी आक्रमणकारी थे, जिन्होंने भारतीय सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था पर प्रहार किया। दैवीय अधिकारों को बल मिला। शक तथा कुषाण शासकों से कई शासकों ने स्वयं को ईश्वर पुत्र घोषित किया और इसी व्यवस्था से राजा का धर्म पर भी प्रभुत्व स्थापित हो गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप संघात्मक था, तथापि महत्वपूर्ण क्षेत्रों में सत्ता का केन्द्रीयकरण था। राजा सर्वोच्च था और उसकी सर्वोच्चता भूमि एवं जल पर स्थापित थी। वह देवता के समतुल्य तथा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। इस प्रकार कालचक्र में अनेक शासक आए और राज्य तथा राजनीतिक विचारधारा स्थापित करते चले और यह परंपरा चलते–चलते मुगल शासकों से होती हुई डच, फ्रांसीसी तथा ब्रिटिश औपनिवेशवाद तक पहुंची। इस समय तक भारतीय राजनीतिक विचारधारा का चिंतन निरंतर राष्ट्रवादी एवं प्रजातांत्रिक होता चला गया।

भारतीय राजनीतिक चिंतन के आधुनिक काल को हम कई चरणों में बांट सकते है, जिनमें स्वतंत्रता पूर्व के आधुनिक भारतीय विचारक एवं विचारधारा प्रमुख है।

भारतीय औपनिवेशवाद काल में भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। क्योंकि जिस तंत्र में परतंत्रता हो और सामाजिक धार्मिक कुरीतियों की भरमार हो वहां इसके विरुद्ध विद्रोह का अंकुरण होना बहुत स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी अंकुरित बीज के पोषण एवं पल्लवन का कार्य भारतीय समाज सुधारकों तथा राजनीतिक विचारकों ने किया। जिनके सुधारों और विचारों ने भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन को एक नवीन दिशा और दशा प्रदान की। इनमें से कुछ प्रमुख आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचार इस प्रकार हैं–

(1) **राजा राममोहन राय**– यद्यपि राजा राममोहन राय, गोखले, तिलक की भांति एक राजनीतिज्ञ नहीं थे तथापि देश–विदेश की राजनीति में उनकी विशेष रुचि थी। मूलतः वे समाज सुधारक थे। भारत में सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना जगाने के कारण ही उन्हें नवीन भारत का संदेशवाहक कहा जाता है। उनका कहना था कि– "संपूर्ण मानव जाति एक विराट परिवार है, असंख्य राष्ट्र तथा

उपजातियां केवल शाखाएं हैं। अतः प्रत्येक देश के विदग्ध लोग यह महसूस करते हैं कि सारी बाधाओं को हटाते हुए प्रत्येक दिशा से मानवीय मेल–मिलाप को प्रोत्साहित करना तथा सरल बनाना होगा, ताकि सारी मानव जाति की पारस्परिक सुविधाओं और आनंद में वृद्धि हो।" इसी विचारधारा के कारण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन्हें भारत के सांविधानिक आंदोलन का जनक कहा था। राजा राममोहन राय कानून तथा न्याय के क्षेत्र में सुधार के भी पक्षधर थे। उनके अनुसार धर्म के आधार पर न्याय नहीं किया जाना चाहिए। इसी कारण वे हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख एवं इसाई इत्यादि धर्मावलंबियों के लिए एक ही न्याय व्यवस्था के पक्षधर थे। उनका मत जमींदारी प्रथा के विरुद्ध था। उनका मानना था कि जमींदारी प्रथा के कारण धन संचय केवल कुछ ही लोगों तक सीमित रह जाता है और साधारण कृषक की स्थिति अत्यंत दयनीय एवं शोचनीय हो जाती है। इसके लिए प्रयास में उन्होंने भूमि को किराया कम करने तथा किसानों द्वारा दी जाने वाली लगान को कम करने की मांग रखी। इन सुधारों के अलावा इन्होंने ब्रिटिश भारतीय सेना के भारतीयकरण, न्यायपालिका और कार्यपालिका, दीवानी कानूनों के बनाए जाने तथा फारसी भाषा के स्थान पर न्यायालयों में अंग्रेजी भाषा के प्रयोग के लिए मांग उठायी। इस प्रकार राजा राममोहन राय भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन के लिए नींव के पत्थर के समान हैं।

(2) **गोपाल कृष्ण गोखले**– भारतीय राजनीति ही नहीं, अपितु भारतीय जनमानस में गोपाल कृष्ण गोखले का नाम अत्यंत सम्मान और श्रद्धा के साथ लिया जाता है, महात्मा गांधी के राजनीतिक गुरु, भारतीय राजनीति के महान उदारवादी नेता, व्यावहारिक आदर्शवादी गोपाल कृष्ण गोखले ने भारतीयता को नयी परिभाषा एवं नवीन आयाम दिया। गोखले ने तत्कालीन भारतीय राजनीति और स्वशासन की मांग को अव्यावहारिक माना। अंग्रेजों की न्यायप्रियता और समुचित आचरणशीलता के प्रति उनकी अपनी निष्ठा इतनी अधिक थी कि वे यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि भारत में अंग्रेज अधिकारियों में सुधार करना संभव नहीं है। गोखले का प्रयास यह था कि तथ्यों तथा तर्कों को अपनी बात का आधार बनाया जाए और समझा कर इन लोगों के विचार बदले जाएं, जिनका कुछ महत्व है। ब्रिटेन के साथ भारत के संबंधों को वे हितकारी मानते थे। अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उन्हें संवैधानिक संघर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय पसंद नहीं था। वे सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मीकरण कराना चाहते थे। उनकी धार्मिक प्रवृत्ति और साधुवृत्ति के कारण ही महात्मा गांधी ने उन्हें अपना राजनीतिक गुरु माना। भारतीय तत्कालीन उदारवादियों को ब्रिटिश शासन में दो कारणों से प्रगाढ़ भरोसा था– पहला ब्रिटिश शासन की न्यायप्रियता का विचार और दूसरा ब्रिटिश शासन की लोकतांत्रिक संस्थाओं तथा शिक्षण पद्धति के प्रति आकर्षण। गोखले व्यावहारिक राजनीतिक बुद्धि के धनी थे। वे ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों की न्याय और उदारता की भावना को उकसा कर उन्हें भारत को अपने साम्राज्य के भीतर ही स्वशासन देने को तैयार करना चाहते थे। गोखले जी का विचार था कि उग्रवादी नीतियों से भारत का हित नहीं होगा। उनका मानना था कि उदारवादी अंग्रेजों के साथ उदारवादिता से ही काम लेना चाहिए। उनका कथन था कि– "इस मनोवैज्ञानिक विधि से ही कार्य करके ऐसी

स्थितियां उत्पन्न की जा सकती हैं कि अंग्रेज तथा भारतवासी दोनों अपने हितों को एक रूप में समझने लगे।" गोपाल कृष्ण गोखले ने राष्ट्रीय एकता का संचार किया। उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम की एकता को राष्ट्र के लिए कल्याणकारी माना तथा सभी धर्मों को समभाव–समदृष्टि से देखने पर जोर दिया। राष्ट्रीय एकता और सार्वजनिक नीति के आध्यात्मीकरण के विचारों को मूर्तरूप देने के लिए गोखले ने 12 जून, 1905 को 'भारत सेवक समाज' नामक संस्था की स्थापना की। साथ ही गोखले राजनीति में धार्मिक दृष्टिकोण के साथ प्रविष्ट हुए थे। गोखले भारतीय व्यवस्था में वित्तीय, प्रशासकीय एवं आर्थिक सुधारों के प्रबल समर्थक थे। उनके द्वारा ब्रिटिश सरकार पर भारत के भौतिक एवं नैतिक उत्थान के लिए सुधारात्मक कदम उठाने के लिए दबाव डाला गया। उनका सरकार पर लगातार यह दबाव रहा कि वह जनकल्याण पर अधिक व्यय करे, सरकारी कर्मचारियों की संख्या घटाए, सैनिक व्यय को कम करे तथा प्रशासनिक सुधार के लिए आवश्यक कदम उठाए। गोखले ने जिन आर्थिक सुधारों की आवश्यकता बतायी वे थे– (1) निर्धनता उन्मूलन (2) रेल निर्माण (3) निर्धन व्यापार (4) घाटे पर रोक (5) सैनिक दृष्टिकोण का उन्मूलन।

(3) **लाला लाजपत राय**– लाला लाजपत राय एक राजनीतिज्ञ से अधिक समाज सुधारक थे। उनका कहना था कि भारत का धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन तभी आदर्श तथा प्रतिष्ठावान बन सकता है, जब वह सामाजिक सुधार की दिशा में अग्रसर हो। इसी के साथ उनका यह भी मानना था कि शारीरिक, भौतिक तथा नैतिक किसी भी दृष्टिकोण से भारतीय विश्व की सभ्यता से कमतर नहीं हैं। उनमें बस यह कमी है कि वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने में घोर उपेक्षा करते हैं। अत्यंत प्रखर क्षमताओं और विशेषताओं से संपन्न होते हुए भी भारतीयों को पराधीनता इसलिए भोगनी पड़ रही है, क्योंकि वे सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने में असफल रहे हैं।

बंग–भंग के पश्चात राष्ट्रवाद का जो प्रखर आंदोलन आरंभ हुआ उसमें लाल–बाल–पाल ये तीनों उग्रवादी विचारधारा के महान स्तम्भ बन गए। लाला जी स्वयं को आर्य समाजी मानते थे और एक सच्चे और निष्ठावान आर्य समाजी के रूप में लाला लाजपत राय ने प्राचीन भारतीय नैतिक मूल्यों, वैदिक रीतियों एवं परंपराओं में अपना विश्वास प्रकट किया। उनका संदेश था कि– 'हिंदू धर्म महान है, भारतवासी पश्चिम की चकाचौंध में डूबकर अतीत की अपनी महान धरोहर को नष्ट न होने दें और अपनी अमूल्य संस्कृति को खो न बैठें।'

लाला लाजपत राय भारतीय समाज की विभाजन रेखा से अत्यंत दुखी थे कि जाति प्रथा ने हिंदू समाज की एकता को अनेक जातियों– उपजातियों में विभाजित करके रख दिया था। उन्होंने जाति–प्रथा, सामाजिक विषमता, अंधविश्वास, अशिक्षा तथा धार्मिक कुप्रथाओं का कड़ा विरोध किया। और सामाजिक एकरूपता के पक्ष को सशक्त रूप से रखने का भरसक प्रयास आजीवन किया। उन्होंने धर्म को जीवन का अंग माना, किंतु धर्म के नाम पर ध र्मावलंबी परस्पर द्वेष का विरोध किया। उन्होंने धर्म के संकीर्ण अर्थ को नकारा एवं धर्म के व्यापक रूप को प्रोत्साहित किया। उनका कहना था कि हमारी

टिप्पणी

संतानों को उस समाज के विषय में भली प्रकार शिक्षित किया जाना चाहिए जिसका भविष्य में उन्हें क्रियाशील सदस्य बनना है।

इस प्रकार स्वतंत्रता पूर्व अन्योन्य राजनीतिक विचारक, समाज सुधारक हुए जिन्होंने भारतीय राजनीतिक चिंतन को नए आयाम दिए, भारतीय राजनीति को 'भारत राष्ट्र' के रूप में एक ठोस उद्देश्य दिया तथा भारतीय राजनीतिक चिंतन का उत्तरोत्तर विकास तथा संवर्धन होता रहा। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं होगा कि भारत की नवीन प्रजातांत्रिक विचारधारा का आधार गोखले, तिलक, लाला लाजपतराय, महात्मा गांधी आदि महान विचारकों का चिंतन ही है।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की कतिपय विशेषताएं

भारतीय राजनीतिक चिंतन वैदिक काल से मुगल काल तक होता हुआ ब्रिटिश औपनिवेश काल को पार करता हुआ निर्बाध प्रवाहशील है। इतने लंबे कालावधि के प्रवास में अनेक उतार–चढ़ाव आए, कभी उत्थान तो कभी पतन के दौर आए किंतु भारतीय राजनीतिक चिंतन रूपी नदी निर्बाध प्रवाहित होती रही और कुरीतियों और बुराइयों को हटाते हुए अद्यतन प्रवाहित होती रही है। क्योंकि भारत में प्राचीन काल से वर्तमान तक जो भी राजनीतिक व्यवस्थाएं रहीं उनकी अपनी विशेषताएं रहीं, जो उन्हें पाश्चात्य चिंतन और विचारधाराओं से अलग करती रही हैं। ये विशेषताएं कालक्रमानुसार सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक कारणों से प्रभावित होती रही हैं। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से भारतीय राजनीतिक चिंतन की विशेषताओं को हम निम्नलिखित कतिपय प्रमुख बिंदुओं के रूप में ग्रहण कर सकते हैं–

1. **राजनीति तथा धर्म का सामंजस्य**– प्राचीन भारत में राजनीतिक व्यवस्थाओं को धर्म के रूप में देखा गया। यही कारण है कि प्राचीन राजनीतिक चिंतन में धर्म के पालन की आशा की जाती थी। यहां तक कि प्राचीन धार्मिक ग्रंथ ही राजनीति के ग्रंथ माने जाते थे। किंतु शनैः शनैः परिस्थितियों में परिवर्तन आया। गणतंत्रात्मक राज्यों की स्थापना हुई। फिर ऐसा समय भी आया कि विदेशी आक्रमणकारियों ने न केवल भारतीय अर्थव्यवस्था पर धावा बोला वरन सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों को भी प्रभावित किया। जैसे कि भारतीय परंपरा में "वसुधैव कुटुम्बकम्" को प्रधानता मिली है, उसी आधार पर औपनिवेश काल तक आते–आते राजे–रजवाड़े आपस में लड़ना भूलकर राष्ट्रीय एकता और अखण्ड भारत की बात कहने लगे तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के अनेक आंदोलनों ने इस भावना को भली–भांति पोषित कर भारत को एक राष्ट्र के रूप में न केवल स्थापित किया बल्कि भारतीय राजनीति चिंतन को श्रेष्ठतम प्रजातांत्रिक रूप भी प्रदान किया।
2. **आध्यात्मिकता का महत्वपूर्ण स्थान**– भारत को आज भी विश्व का 'आध्यात्मिक गुरु' कहा जाता है। प्राचीन भारत से लेकर वर्तमान तक भारतीय राजनीति का झुकाव आध्यात्म की ओर अत्यधिक रहा है। जीवन के प्रत्येक पहलू का विचार आध्यात्म से ही है। हमारी जीवनशैली ही आध्यात्मिक रही है। यही कारण है कि भारतीय राजनीति में भी अध्यात्म का गहरा प्रभाव रहा है। भारतीय राजनीति में मानव के सर्वांगीण विकास पर बल दिया गया है। भारतीय चिंतन में यह माना गया है कि जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है तथा यह जीवन इसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

टिप्पणी

3. **राष्ट्र/राज्य आवश्यक संस्था**– भारतीय चिंतन की यह भी एक प्रमुख विशेषता रही है कि वह राष्ट्र अथवा राज्य को अनिवार्य संस्था मानता है। जीवन के प्रथम तीन लक्ष्य– धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति राज्य के बिना संभव नहीं है। अराजकतावादी राज्य/राष्ट्र को अनुपयोगी एवं अनावश्यक मानते हैं। व्यक्तिवादी राज्य को बुराई मानते हैं। इन सब के विपरीत भारतीय चिंतन ने राष्ट्र/राज्य को अत्यंत आवश्यक माना है। यह न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है, बल्कि आत्म विकास करने का माध्यम भी है।

4. **राष्ट्र/राज्य के कार्य क्षेत्र पर विशेष बल**– भारतीय राजनीतिक चिंतन में आदर्शवाद का समावेश तो है, किंतु व्यक्तिवाद का सर्वथा अभाव है। प्राचीन समय में जब राजतंत्र था, तब राजा का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक था। कालांतर में राष्ट्रवादी विचारधारा के चलते गणतंत्र प्रमुख अथवा राज्य प्रतिनिधि पर प्रजा के भौतिक एवं नैतिक उत्थान की जिम्मेदारी होती थी।

5. **राष्ट्र/राज्य का दंड विधान**– भारतीय राजनीतिक चिंतन आदि से लेकर अद्यतन तक दंड विधान के प्रावधान का प्रवर्तक रहा है; चूंकि भारतीय राजनीतिक चिंतन में राष्ट्र/राज्य का स्थान सर्वोच्च है और असामाजिक एवं देश विरोधी तत्वों के प्रति कठोर दण्ड का कानून विधान है। इस विधारधारा का यह मानना है कि मनुष्य में आसुरी शक्तियों के उभरने से वह अपराध के लिए प्रेरित होता है और इन पर अंकुश लगाने के लिए कठोकर दंडों का प्रावधान किया जाता रहा है, जिससे समाज में संदेश जाए और अन्य लोग कानून का उल्लंघन करने से डरें। मनु से लेकर भारतीय संविधान में दण्ड का प्रावधान है।

6. **व्यावहारिक दृष्टिकोण एवं सामाजिक संस्थाओं पर बल**– भारतीय चिंतन अत्यंत प्रायोगिक एवं व्यावहारिक है, इसमें प्लूटो, अरस्तू की तरह कल्पना का सर्वथा अभाव है। यह दृष्टिकोण बड़े–बड़े राजनीतिक सिद्धांतों पर नहीं, अपितु राष्ट्र के छोटे–छोटे सामाजिक व्यवहारों को प्रधानता देता है। इसीलिए सामाजिक संस्थाओं का निर्माण 'सर्वजन हिताय–सर्वजन सुखाय' की भावना के साथ किया गया।

7. **सामाजिक व्यवस्था एवं राज्य के कार्यों का व्यापक वर्णन**– प्रत्येक राष्ट्र की राजनीतिक व्यवस्था उस राष्ट्र की सामाजिक व्यवस्था पर आश्रित होती है। यह सर्वमान्य नियम है कि प्रत्येक व्यवस्था में राजनीति होने वाले परिवर्तनों से सामाजिक परिवर्तन निश्चित है। साथ ही राज्य के कार्यों का वर्णन उसके शासक पर निर्धारित किया जाता है, जैसे यदि राजतंत्र है, तो राजा के लिए शासन संबंधी नियम अथवा गणतंत्र या प्रजातंत्र में जनता द्वारा चुने गए शासकों के लिए शासन संबंधी नियम अत्यंत स्पष्ट हो रहे हैं।

भारतीय राजनीतिक चिंतन की उत्पत्ति एवं विकास का क्रम वैदिक काल से लेकर इस्लामिक शासन काल तक तथा ब्रिटिश औपनिवेशवाद से लेकर अद्यतन उत्तरोत्तर विकासशील रहा है। यद्यपि भारतीय चिंतन को लेकर पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण बहुत अधिक सकारात्मक नहीं रहा है, तथापि भारतीय राजनीति चिंतन न केवल व्यवहारवादी है, बल्कि आधुनिक भी है। भारतीय चिंतन का केंद्र मानव एवं मानव मात्र का विकास है। पाश्चात्य विचारकों की अनेक आलोचनाओं के पश्चात भी भारतीय चिंतन अनवरत 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' पर अग्रसर रहा है।

भारतीय राजनीति चिंतन के अनेक स्रोत हैं। इनमें प्रमुख रूप से प्राचीन रचनाएं जैसे– वेद, पुराण, धर्मसूत्र, उपनिषद, महाकाव्य, लौकिक ग्रंथ आदि प्रमुख हैं। विदेशी पर्यटक विद्वानों के विवरण भी उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। साथ ही साथ कालक्रमानुसार उपलब्ध प्रमुख पुस्तकें जैसे– अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यही नहीं अपितु भारतीय राजनीति चिंतन शिलालेखों, स्तंभलेखों, गुफालेखों और ताम्रलेखों पर भी परिलक्षित होता है। भारतीय राजनीतिक चिंतन व्यापक धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की शुद्धता एवं आध्यात्म पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय राजनीतिक चिंतन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। कठोर दंड का विधान है, तो वीरता एवं सौहार्द के लिए पुरस्कार की भी व्यवस्था है। राज्य का व्यापक कार्यक्षेत्र माना गया है। सामाजिक संस्थाओं को अत्यधिक महत्व दिया गया है। संपूर्ण भारतीय राजनीतिक चिंतन न केवल प्राचीन है अपितु अत्यंत व्यावहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का दर्पण सदृश्य दिखता है, तो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप बदलता हुआ भी प्रतीत होता है।

अपनी प्रगति जांचिए

1. किसका अर्थशास्त्र चिंतन के आधुनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण है?
   (क) कौटिलय का (ख) दुर्खीम का
   (ग) बुद्ध का (घ) गांधी का
2. उचित–अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र क्या कहा जाता है?
   (क) अर्थशास्त्र (ख) नीतिशास्त्र
   (ग) समाजशास्त्र (घ) राजशास्त्र

1.3 भारतीय पुनर्जागरण : राममोहन राय से विवेकानंद तक

एक सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में पुनर्जागरण का अभ्युदय यूरोप में चौदहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य हुआ। पुनर्जागरण के फलस्वरूप यूरोप में आमूलचूल परिवर्तन आये। वहीं भारत इस समय तक मध्यकाल की दकियानूसी मान्यताओं में ही जकड़ा रहा। जब यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों ने भारत में अपना कब्ज़ा जमाया तब भारतीय समाज में रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, जाति प्रथा, छुआछूत की भावना, सती–प्रथा, स्त्री–बाल हत्या जैसी अनेक कुप्रथाएं व्याप्त थीं। भारतीय पुनर्जागरण का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जाता है जब देश में अनेक सामाजिक व धार्मिक आन्दोलनों की शुरुआत हुई।

औपनिवेशिक काल के दौरान पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति के संपर्क ने भारतीय पुनर्जागरण के अभ्युदय में निर्णायक भूमिका निभाई। देश के अनेक युवकों को पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्राप्त हुआ जिसने उनके दृष्टिकोण को परिवर्तित किया।

टिप्पणी

संकीर्ण विचारों का स्थान व्यापक व उदार दृष्टिकोण ने ले लिया तथा अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता दूर होती गई। अंग्रेज़ी शासन के फलस्वरूप ईसाई मिशनरियों ने बड़े ज़ोरों के साथ अपने धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। इससे जहां एक ओर समाज का एक तबका धर्म परिवर्तन को उन्मुख हुआ वहीं दूसरी ओर अनेक विद्वानों ने हिंदू धर्म ग्रंथों का विषद अध्ययन कर समाज में व्याप्त इन कुरीतियों को शास्त्र विरुद्ध सिद्ध किया और समाज सुधार का बीड़ा उठाया। इसके अतिरिक्त 1857 की क्रान्ति ने भारतीयों में एक प्रबल राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया तथा यह चेतना उत्तरोत्तर बलवती होती गई और सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों मे नियोजित हो गई।

इन सब कारणों के अतिरिक्त सौभाग्यवश उस काल में अनेक ऐसे अनेक सुधारक तथा उपदेशक हुए जिन्होंने सामाजिक और धार्मिक सुधारों का कार्य बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया। इन समाज सुधारकों में राजाराममोहन राय का नाम अग्रणी है जिन्होंने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। 1837 ई. में महाराष्ट्र में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई, जिसका प्रधान लक्ष्य था– विधवाओं के पुनर्विवाह और स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देना तथा बालविवाह को रोकना। 1875 ई. में स्वामी दयानन्द सरस्वती' ने 'आर्य समाज' की स्थापना कर छुआछूत और जाति प्रथा का विरोध कर हिंदू समाज की एकता को सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीयों से 'वेदों की ओर लौटने का आह्वान किया। 'स्वामी विवेकानंद' ने अपने गुरु 'रामकृष्ण परमहंस' की शिक्षाओं के प्रचार हेतु 'रामकृष्णमिशन' की स्थापना की जिसने समाजसुधार और सामाजिक प्रगति के प्रसंशनीय कार्य किए। 19वीं शताब्दी में देश में सामाजिक और धार्मिक सुधार के आन्दोलनों से भारतीय समाज में पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ। इस दौरान मुस्लिम समाज तथा इस्लाम धर्म में सुधार के लिए भी अनेक आन्दोलन चलाये गये जैसे– सर सैय्यद अहमद ख़ां द्वारा चलाया गया अलीगढ़ आन्दोलन, रायबरेली के 'सैय्यद अहमद' द्वारा प्रवर्तित वहाबी आन्दोलन, मिर्ज़ा गुलाम अहमद द्वारा शुरू किया गया अहमदिया आन्दोलन तथा मुहम्मद क़ासिम ननौत्वी एवं रशीद अहमद गंगोही द्वारा स्थापित देवबन्द स्कूल। पारसी धर्म में सुधार आन्दोलन की शुरुआत 'रहनुमाए माजदायासन सभा' के माध्यम से हुई जिसकी स्थापना नौरोजी फरदोनजी, दादाभाई नौरोजी, आर.के. कामा और एस एन बंगाली ने की। समाज के वंचित तबकों ने भी इस दौर में आन्दोलन प्रारंभ किए जिनमें प्रमुख हैं– ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले, ई. वी. रामास्वामी नायकर (पेरियार), नारायाणस्वामी, पंडिता रमाबाई इत्यादि द्वारा चलाये गये विभिन्न आन्दोलन। इस प्रकार, धार्मिक परिशोधन, राजनीतिक सुधार, शिक्षा का प्रसार, राष्ट्रीय भावना का विकास, सामाजिक कुरीतियों का विनाश व भारतीय सभ्यता और संस्कृति का पुनर्जागरण प्रारम्भ हुआ।

1.3.1 राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय को भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत और आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। भारतीय सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण के क्षेत्र में उनका विशिष्ट स्थान है। वे ब्रह्म समाज के संस्थापक, भारतीय भाषायी प्रेस के प्रवर्तक, जनजागरण और सामाजिक सुधार आंदोलन के प्रणेता तथा बंगाल में नव–जागरण युग के पितामह थे। सोफिया फॉलेट ने उन्हें भारतीय इतिहास में एक ऐसे सजीव पुल के रूप में देखा है जिसके ऊपर से होकर भारत अपने असीम अतीत से निकलकर अज्ञात भविष्य की ओर अग्रसर होता है। सील के अनुसार, 'राजा विश्व मानवता के विचार के

संदेशवाहक थे। वे मानवतावादी, पवित्र तथा सरल थे। वे विश्व इतिहास में विश्व मानवता के दिग्दर्शन करते थे।'

टिप्पणी

जीवनवृत्त

राजा राममोहन राय का जन्म 22 मई 1772 ई. को पश्चिम बंगाल के राधा नगर में एक सम्पन्न बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने अपने जीवन में अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, ग्रीक, हिब्रू आदि भाषाओं का अध्ययन किया था। हिंदू, ईसाई, इस्लाम और सूफी धर्म का भी उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। 17 वर्ष की अल्पायु में ही वे मूर्ति पूजा के विरोधी हो गये थे। 1805 में राजा राममोहन राय बंगाल में अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेवा में सम्मलित हुए और 1814 तक वे इसी कार्य में लगे रहे। इस दौरान वे अंग्रेज़ी भाषा और सभ्यता से काफ़ी प्रभावित हुए। इस प्रकार वह उस बंगाली 'भद्रलोक' की श्रेणी में रखे जा सकते हैं जिसका उदय देश में अंग्रेजी राज के प्रसार के साथ हो रहा था। नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात वे कलकत्ता में स्थायी रूप से रहने लगे और उन्होंने पूर्ण रूप से स्वयं को समाज सुधार के लिये समर्पित कर दिया। सन 1814 ई. में उन्होंने 'आत्मीय सभा' को आरम्भ किया और 20 अगस्त, 1828 ई. को उन्होंने 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की। सन 1831 में एक विशेष कार्य के संबंध में दिल्ली के मुग़ल सम्राट के पक्ष का समर्थन करने के लिए इंग्लैंड गये। वे उसी कार्य में व्यस्त थे कि ब्रिस्टल में 27 सितंबर, 1833 को उनका देहान्त हो गया।

विचारों को जानने के स्रोत

बहुमुखी प्रतिभा के धनी राजा राममोहन राय बहुभाषाविज्ञ थे। उन्हें बांग्ला, फारसी, अरबी, संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी, ग्रीक, फ्रैन्च, लैटिन आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान था। इन भाषाओं में वे अपने भावों को कुशलता से अभिव्यक्त करने की क्षमता रखते थे। वैष्णव भक्त परिवार के होने के बावजूद राजा राममोहन राय की आस्था अन्य धर्मों में भी थी। वेदों एवं उपनिषदों में प्रतिपादित एकेश्वरवाद में आस्था रखने वाले राजा राममोहन राय ने इस्लाम और ईसाई धर्मों का भी गहन अध्ययन किया। राजा राममोहन राय के विचारों में मोंथेको, ब्लेक्सटन तथा बेन्थैम की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। आपके विचारों को जानने का मुख्य स्रोत तुहफात उल मुवादिन, वेदान्तसार, प्रीसेप्ट्स ऑफ़ जीसस जैसी पुस्तकें एवं मिरात उल अख़बार तथा संवाद कौमुदी में प्रकाशित लेख हैं। इसके अतिरिक्त, हिंदू उत्तराधिकार कानून के सम्बन्ध में लिखी गई संक्षिप्त टिप्पणियां जिनमें उन्होंने हिंदू शास्त्रों द्वारा स्त्रियों को प्रदत्त अधिकारों पर किए गये अतिक्रमणों का ब्यौरा दिया है, प्रेस नियमन के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय एवं सम्राट को सौपी गई याचिका, अंग्रेजी शिक्षा पर लार्ड एमहर्स्ट को लिखे पत्र इत्यादि भी उनके विचारों को जानने के महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

आध्यात्मिक मान्यताएं

राजा राममोहन राय का विश्वास था कि आध्यात्मिक जटिलता के स्थान पर सहज, सुगम, सरल सिद्धांतो का प्रतिपादन आवश्यक है। वे न तो विधर्मी थे और न ही अनीश्वरवादी किन्तु बहुदेववाद, धार्मिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा एवं कट्टरतावाद उन्हें पसंद नहीं थे। उनकी पुस्तक तुहफात उल मुवादिन में एकेश्वरवाद का विद्वतापूर्ण समर्थन मिलता है। सन 1816 में प्रकाशित पुस्तक 'वेदांतसार' में उस समय प्रचलित बहुईश्वरवादी तथा कर्मकांड ग्रस्त धर्म के स्थान पर वेदान्तीय एकेश्वरवाद को अपनाने का आह्वान

टिप्पणी

किया गया। अपनी इन्हीं मान्यताओं के प्रसार हेतु उन्होंने 'आत्मीय सभा' एवं 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की।

सामाजिक विचार

राजा राममोहन राय मूलतः एक समाज सुधारक थे जिन्होंने देश में सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। उनका विश्वास था कि धार्मिक और सामाजिक सुधारों के बिना देश में राजनीतिक सुधारों का कोई महत्त्व नहीं होगा। राजा राममोहन राय ने आजीवन उदार और वैज्ञानिक सामजिक विचारों के विकास के अथक प्रयास किए। उन्होंने नारी स्वातंत्र्य, नारी अधिकार और नारी शिक्षा पर सर्वाधिक ध्यान दिया और हिंदू नारी के साथ हो रहे अन्याय, अनाचार और अत्याचार की तीव्र भर्त्सना की। सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने व्यापक संघर्ष किया और एक लंबे संघर्ष के पश्चात वे इसे गैर कानूनी घोषित करवाने में सफल हो सके। उन्होंने विधवा विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया तथा बाल–विवाह और बेमेल विवाह की प्रथाओं का विरोध किया। राजा राममोहन राय ने बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाते हुए ऐसी वैज्ञानिक व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया कि कोई भी हिंदू अपनी पहली पत्नी के रहते हुए दूसरा विवाह न कर सके। उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा पर बल दिया तथा लीलावती, भानुमती, मैत्रेयी इत्यादि के उदाहरण देकर सिद्ध किया कि अतीत में स्त्रियों को ज्ञानार्जन की पर्याप्त स्वतंत्रता प्राप्त थी। राय ने जाति प्रथा के विरुद्ध प्रचार किया और यह दृढ़ विश्वास व्यक्त किया कि हिंदुओं की राजनीतिक कमजोरी का सबसे बड़ा कारण उनका जातियों और उप–जातियों में विभाजन है। उन्होंने यह मत रखा कि किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता के निर्धारण का मापदंड उनके व्यक्तिगत गुण–दोष होने चाहिये न कि किसी कुल/वंश में जन्म प्राप्त होने का संयोग।

राजनीतिक विचार

वस्तुतः राजा राममोहन राय कोई राजनीतिज्ञ नहीं थे किन्तु उन्हें देश–विदेश की राजनीतिक घटनाओं का गहरा ज्ञान था और वह बेकन, ह्यूम, बैंथम, ब्लैकस्टोन और मॉन्टेस्क्यू जैसे यूरोपीय दार्शनिकों से अत्यधिक प्रभावित थे। भारत में राजनीतिक चेतना जगाने का उन्होंने अप्रतिम कार्य किया और इसलिए उन्हें 'भारत में संवैधानिक आन्दोलन का जनक' कहा जाता है। राय वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रबल पक्षधर थे। वे व्यक्ति की गरिमा के संरक्षण के पोषक थे और स्वतंत्रता, अधिकार, न्याय आदि राजनीतिक विचारों को सर्वोच्च आदर्श मानते थे तथा उनका दृढ़ विश्वास था कि इनका संरक्षण एवं परिवर्धन करना राज्य का उत्तरदायित्व है। उनके अनुसार राज्य और व्यक्ति एक–दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। एक उदारवादी चिन्तक होते हुए भी राय उस दौर में यूरोप में प्रचलित 'अहस्ताक्षेप' की नीति से सहमत नहीं थे और यह मानते थे कि राज्य का दायित्व है कि वह समाज के निर्बल वर्गों के कल्याण हेतु विशेष सुविधाओं की व्यवस्था करे।

राजा राममोहन राय विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के विशेष पक्षधर थे। उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता का विशेष आग्रह किया सन् 1823 ई. में उन्होंने इसके लिये न्यायालय के समक्ष विशेष याचिका भी दाखिल की। इस याचिका में उन्होंने तर्क दिया कि प्रेस की स्वतंत्रता शासक एवं शासित दोनों के लिये समान रूप से लाभदायक है।

टिप्पणी

यह शासन को जनता की इच्छाओं और आकांक्षाओं की जानकारी इकट्ठा कर उस सम्बन्ध में निर्णय लेने हेतु सहयोग करेगी जो कि जन–असंतोष को शांत करने में मददगार होगा। इस प्रकार प्रेस जन–असंतोष को दबाएगा न कि उसे बढ़ाएगा।

राममोहन राय विधि के शासन का समर्थन करते थे। उन्होंने प्रशासन और न्यायिक विभागों को अलग–अलग करने की मांग उठाई। जीवन और स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये उन्होंने कानूनों को संहिताबद्ध करने, शक्ति– पृथक्कीकरण, न्यायाधीशों की ईमानदारी, कुशलता, स्वाधीनता, ज्युरी प्रणाली तथा बंदी प्रत्यक्षीकरण को अपनाने और अधिकारियों के कानूनी उत्तरदायित्व की मांग की। उनका विचार था कि दीवानी और फौजदारी कानूनों को इस तरह संहिताबद्ध कर दिया जाए कि विभिन्न धर्मावलम्बियों को अपने विशिष्ट धर्म–ग्रंथों का हवाला देकर बार–बार इनकी व्याख्या करने की आवश्यकता ही न रहे। राजा राममोहन राय का सुझाव था कि 'यदि अंग्रेज चाहते हैं कि भारतीय उनकी सरकार के प्रति आस्थावान बने रहें तो उन्हें शिक्षा एवं योग्यता के अनुरूप महत्वपूर्ण सरकारी पदों पर नियुक्त करना होगा'। भारत में आधुनिकता के प्रसार हेतु राय ने कुछ यूरोपीय लोगों से भारत में आकर स्थायी रूप से निवास करने का भी आग्रह किया।

राममोहन राय के राजनीतिक विचारों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है– मानवतावाद, विश्व भ्रातृत्व और सार्वभौम धर्म के प्रति उनकी आस्था। वे मानवतावाद की प्रतिमूर्ति थे, विश्व भ्रातृत्व के उपासक थे और धार्मिक मत–मतान्तरों से ऊपर उठकर सार्वभौम धर्म के चिन्तक थे। उन्होंने मानव मात्र की गरिमा को सम्पूर्ण दार्शनिक एवं राजनीतिक चिंतन का मौलिक तत्व माना। पूरी गंभीरता और निष्ठा से दुनिया के विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया और इनमें निहित विज्ञान को समझा। हिंदू, इस्लाम, बौद्ध और ईसाई धर्म में उन्होंने एकता की खोज की और समन्वय का आदर्श रखा। उन्होंने एक ऐसे विश्व संगठन की कल्पना की जिसमें विभिन्न राष्ट्रों के मध्य विवादों को परस्पर वार्तालाप से सुलझाने की व्यवस्था हो। 'इस प्रकार की कांग्रेस (विश्व संगठन) से सभी प्रकार के मतभेद, चाहे वे राजनीतिक हों या व्यापारिक, मित्रतापूर्वक एवं न्यायपूर्वक तय किए जा सकते हैं और इससे दोनों ही पक्षों को संतोष होगा'।

शिक्षा एवं विज्ञान संबंधी विचार

राजा राममोहन राय की शिक्षा और विज्ञान में गहरी आस्था थी। उनके शिक्षा संबंधी विचार रचनात्मक थे और विज्ञान के प्रति स्वीकृति का आग्रह था। राजा राममोहन राय के अनुसार 'भारत के लिये शिक्षा विस्तार की सबसे अधिक आवश्यकता है और यह कार्य समाज के सबसे निचले स्तर से प्रारंभ होना चाहिये; जैसे जब आग पर कोई चीज पकायी जाती है तो बर्तन के नीचे से ही आग लगाने की आवश्यकता होती है'। शिक्षा संबंधी अपने विचारों को मूर्तरूप प्रदान करने के लिये सन 1816 में उन्होंने कोलकाता में अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। ये पहला अंग्रेजी स्कूल था जिसका व्यय पूर्णतः भारतीयों द्वारा वहन किया जाता था। उनके प्रयासों से सन 1822–1823 में हिंदू कॉलेज की स्थापना हुई। राजा राममोहन राय ने अपने मन–मस्तिष्क पर पूर्वाग्रहों को कभी भी हावी होने नहीं दिया। उनका मानना था कि अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति का प्रसार भारत के लिये लाभदायक है। उन्होंने वेदों तथा

टिप्पणी

उपनिषदों का बंगाली तथा अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। तत्कालीन समय में प्रचलित मान्यता कि ईसाई स्कूल में बाइबल पढ़ने से जाति भ्रष्ट होने का डर रहता है को दकियानूसी बताया। इस सन्दर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि, "किसी भी धर्म का ग्रन्थ पढ़ने से जाति भ्रष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उठता मैंने बहुत बार बाइबल और कुरान शरीफ को पढ़ा मैं न ईसाई बना और न ही मुसलमान बना। बहुत से यूरोपीय गीता तथा रामायण पढ़ते हैं, व तो हिंदू नहीं हुए।"

आर्थिक विचार

यद्यपि राजा राममोहन राय ने किन्हीं आर्थिक सिद्धांतों की रचना नहीं की किन्तु देश की कतिपय आर्थिक समस्याओं के समाधान हेतु अपनी बेबाक राय दी। उन्होंने भारत में प्रचलित जमींदारी प्रथा के खिलाफ आवाज उठाई और जमीदारों की लूट से किसानों को बचाने हेतु अंग्रेज सरकार को सुझाव दिया कि विलासिता की सामग्री पर कर बढ़ा दिए जाएं और उच्च वेतनमान वाले यूरोपीय कलेक्टरों के स्थान पर कम वेतन वाले भारतीय कलेक्टरों की नियुक्ति की जाए। अंग्रेजों द्वारा फ़ौज पर किए जाने व्यय को कम करने का उन्होंने सुझाव दिया। भारत से इंग्लैंड को हो रही धन की निकासी को रोकने की दृष्टि से उन्होंने सुझाव दिया कि भारत में पूंजी संगृहीत करने वाले यूरोपीयों को भारत में ही स्थायी रूप से बस जाने के लिये प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। देश में नमक की बढ़ती हुई कीमतों पर नियंत्रण लाने के लिये उन्होंने नमक निर्माण पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त किए जाने की मांग की। विदेशों में भारतीय उत्पादों की प्रतियोगी कीमतें बनाने की दृष्टि से उन्होंने निर्यात कर को ख़त्म कर देने या इसकी दरें घटाने का विचार प्रस्तुत किया। महिलाओं के आर्थिक अधिकारों की सुरक्षा के लिये उन्होंने पैतृक संपत्ति में पुत्री के अधिकारों की वकालत की।

1.3.2 स्वामी विवेकानंद

उठो, जागो और तब तक रुको नहीं जब तक मंजिल प्राप्त न हो जाए का उद्घोष करने वाले स्वामी विवेकानंद ने एक युवा संन्यासी के रूप में भारतीय संस्कृति की महत्ता को जिस प्रभावी ढंग से दुनिया भर में स्थापित किया उसके लिये देश युगों–युगों तक उनका ऋणी रहेगा। नरेंद्रनाथ दत्त, जो कि स्वामी विवेकानंद के नाम से विख्यात हुए साहित्य, दर्शन और इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान थे। वे एक ऐसे युगांतरकारी आध्यात्मिक गुरु थे जिन्होंने हिंदू धर्म को गतिशील तथा व्यावहारिक बनाया और सुदृढ़ सभ्यता के निर्माण के लिए आधुनिक मानव से पश्चिमी विज्ञान व भौतिकवाद को भारत की आध्यात्मिक संस्कृति से जोड़ने का आग्रह किया। कलकत्ता के एक कुलीन परिवार में जन्मे नरेंद्रनाथ चिंतन, भक्ति व तार्किकता, भौतिक एवं बौद्धिक श्रेष्ठता के साथ–साथ संगीत की प्रतिभा का एक विलक्षण संयोग थे।

जीवनवृत्त

स्वामी विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी, 1863 ई. को कलकत्ता में हुआ था। इनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था। इनके पिता विश्वनाथ दत्त कलकत्ता हाईकोर्ट के एक प्रसिद्ध वकील थे। उनके पिता पाश्चात्य सभ्यता में विश्वास रखते थे। वे अपने पुत्र नरेन्द्र को भी अंग्रेजी पढ़ाकर पाश्चात्य सभ्यता के ढर्रे पर चलाना चाहते थे। इनकी माता भुवनेश्वरी

देवी धार्मिक विचारों की महिला थीं। उनका अधिकांश समय भगवान शिव की पूजा–अर्चना में व्यतीत होता था। नरेन्द्र की बुद्धि बचपन से बड़ी तीव्र थी और परमात्मा को पाने की लालसा भी प्रबल थी। इस हेतु वे पहले 'ब्रह्म समाज' में गये किन्तु वहां उनके चित्त को सन्तोष नहीं हुआ। वे वेदान्त और योग को पश्चिम संस्कृति में प्रचलित करने के लिए महत्वपूर्ण योगदान देना चाहते थे। सन 1881 ई. में वह श्रीरामकृष्ण परमहंस के संपर्क में आये तथा जनवरी 1887 ई. में वराह नगर मठ में संन्यास की औपचारिक प्रतिज्ञा ली। तत्पश्चात् उन्होंने पैदल ही पूरे भारतवर्ष की यात्रा की। सन् 1893 ई. में शिकागो (अमेरिका) में विश्व धर्म परिषद में भारत के प्रतिनिधि के रूप में पहुंचे। एक अमेरिकन प्रोफेसर के प्रयास से उन्हें भी धर्म संसद में बोलने के लिये थोड़ा समय मिला किन्तु उनके विचार सुनकर सभी विद्वान चकित हो गये। इस भाषण से वे अमेरिका में अत्यधिक प्रसिद्ध हो गये और वहां इनके भक्तों का एक बड़ा समुदाय हो गया। अगले तीन वर्ष तक वे अमेरिका में रहे और वहां के लोगों को भारतीय तत्वज्ञान की अद्‌भुत ज्योति प्रदान करते रहे। उनकी वक्तृत्व–शैली तथा ज्ञान को देखते हुए वहां के मीडिया ने उन्हें 'साइक्लॉनिक हिंदू' का नाम दिया। 1 मई, 1897 को उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसकी शीघ्र ही देश–विदेश में अनेक शाखाएं स्थापित हुईं। महज 39 वर्ष की आयु में 4 जुलाई, 1902 को उनका देहावसान हो गया।

विचारों को जानने के स्रोत

स्वामी विवेकानंद का दर्शन भारत को उसके पुरातन मूल्यों से अवगत करा कर विश्व गुरु के रूप में स्थापित करने का अतुलनीय प्रयास था। उन्होंने अनेक देशों में भ्रमण कर अपने जीवन दर्शन, धर्म, अध्यात्म के ज्ञान से पश्चिम के विचारों को और विद्वानों के बीच उपेक्षित और निम्नतर समझे जाने वाले भारत की कीर्ति ध्वजा विश्व भर में स्थापित की। पूरे भारत का भ्रमण कर उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, अज्ञान, अशिक्षा, नारी उत्पीड़न, परतंत्रता जैसे समकालिक विषयों पर अपनी ओजस्वी वाणी से जनमानस में नई चेतना और ऊर्जा का संचार किया, जिसकी परिणिति आगे भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में भी देखने को मिलती है। स्वामी विवेकानंद एक ओजस्वी वक्ता थे और उनके विचारों को जानने का सबसे प्रमुख स्रोत समय–समय पर उनके द्वारा दिए गये भाषण एवं प्रवचन हैं। रामकृष्ण मिशन ने उन्हें 9 खंडो में 'कम्पलीट वर्क्स ऑफ़ स्वामी विवेकानंद' शीर्षक से प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त विभिन्न विषयों पर उनके विचारों को अभिव्यक्त करती छोटी–छोटी पुस्तिकाएं भी प्रकाशित हुईं हैं जिनमें से प्रमुख हैं– आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग, हे भारत उठो जागो, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भारत और उसकी समस्याएं, मरणोत्तर जीवन, सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार, भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्‌गीता, देववाणी, भक्तियोग, व्यक्तित्व का विकास, शिक्षा, प्राच्य और पाश्चात्य, ध्यान तथा इसकी पद्धतियां, अग्निमन्त्र, वेदान्त, धर्मविज्ञान, महापुरुषों की जीवनगाथाएं, विविध प्रसंग, हिंदू धर्म, राजयोग, विवेकलहरी, परिव्राजक मेरी भ्रमण कहानी, नारद भक्तिसूत्र एवं भक्ति विवेचन, युवकों के प्रति, मेरा जीवन तथा ध्येय, सरल राजयोग, भारतीय व्याख्यान, जाति संस्कृति और समाजवाद, प्रेमयोग, मेरी समर–नीति, मन की शक्तियां तथा जीवन–गठन की साधनाएं, चिन्तनीय बातें, शिकागो वक्तृता, सूक्तियां एवं सुभाषित, पवहारी बाबा, भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबंध, हमारा भारत, आत्मतत्त्व, नया भारत गढ़ो, धर्मतत्त्व, भगवान बुद्ध तथा उनका सन्देश, वर्तमान भारत, भारतीय नारी, हिंदू धर्म के पक्ष में, व्यावहारिक जीवन में वेदान्त।

टिप्पणी

स्वामी विवेकानंद द्वारा विश्व धर्म सम्मेलन, शिकागो में 1893 में दिये गये भाषण का हिंदी अनुवाद

अमेरिकी बहनो और भाइयो,

आपने जिस सौहार्द और स्नेह के साथ हम लोगों का स्वागत किया है, उसके प्रति आभार प्रकट करने के निमित्त खड़े होते समय मेरा हृदय अवर्णनीय हर्ष से पूर्ण हो रहा है। संसार में संन्यासियों की सब से प्राचीन परम्परा की ओर से मैं आपको धन्यवाद देता हूं; धर्मों की माता की ओर से धन्यवाद देता हूं और सभी सम्प्रदायों एवं मतों के कोटि–कोटि हिंदुओं की ओर से भी धन्यवाद देता हूं।

मैं इस मंच पर से बोलने वाले उन कतिपय वक्ताओं के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं, जिन्होंने प्राच्य के प्रतिनिधियों का उल्लेख करते समय आपको यह बताया है कि सुदूर देशों के ये लोग सहिष्णुता का भाव विविध देशों में प्रचारित करने के गौरव का दावा कर सकते हैं। मैं एक ऐसे धर्म का अनुयायी होने में गर्व का अनुभव करता हूं, जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सार्वभौम स्वीकृति, दोनों की ही शिक्षा दी है। हम लोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन समस्त धर्मों को सच्चा मान कर स्वीकार करते हैं। मुझे ऐसे देश का व्यक्ति होने का अभिमान है, जिसने इस पृथ्वी के समस्त धर्मों और देशों के उत्पीड़ितों और शरणार्थियों को आश्रय दिया है। मुझे आपको यह बताते हुए गर्व होता है कि हमने अपने वक्ष में यहूदियों के विशुद्धतम अवशिष्ट को स्थान दिया था, जिन्होंने दक्षिण भारत आकर उसी वर्ष शरण ली थी, जिस वर्ष उनका पवित्र मन्दिर रोमन जाति के अत्याचार से धूल में मिला दिया गया था। ऐसे धर्म का अनुयायी होने में मैं गर्व का अनुभव करता हूं, जिसने महान जाति के अवशिष्ट अंश को शरण दी और जिसका पालन वह अब तक कर रहा हैं। भाइयो, मैं आप लोगों को कुछ पंक्तियां सुनाता हूं, जिनकी आवृत्ति मैं बचपन से कर रहा हूं और जिनकी आवृति प्रतिदिन लाखों मनुष्य किया करते हैं–

रुचिनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

– 'जैसे विभिन्न नदियां भिन्न भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न–भिन्न रुचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े–मेढ़े अथवा सीधे रास्ते से जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।'

यह सभा, जो अभी तक आयोजित सर्वश्रेष्ठ पवित्र सम्मेलनों में से एक है, स्वतः ही गीता के इस अद्‌भुत उपदेश का प्रतिपादन एवं जगत के प्रति उसकी घोषणा है–

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

मम् वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।

– 'जो कोई मेरी ओर आता है – चाहे किसी प्रकार से हो – मैं उसको प्राप्त होता हूं। लोग भिन्न मार्ग द्वारा प्रयत्न करते हुए अन्त में मेरी ही ओर आते हैं।'

साम्प्रदायिकता, हठधर्मिता और उनकी बीभत्स वंशधर धर्मान्धता इस सुन्दर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुकी हैं। वे पृथ्वी को हिंसा से भरती रही हैं,

उसको बारम्बार मानवता के रक्त से नहलाती रही हैं, सभ्यताओं को विध्वस्त करती और पूरे–पूरे देशों को निराशा के गर्त में डालती रही हैं। यदि ये बीभत्स दानवी न होती, तो मानव समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता । पर अब उनका समय आ गया है, और मैं आन्तरिक रूप से आशा करता हूं कि आज सुबह इस सभा के सम्मान में जो घण्टाध्वनि हुई है, वह समस्त ध र्मान्धता का, तलवार या लेखनी के द्वारा होने वाले सभी उत्पीड़नों का, तथा एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मानवों की पारस्पारिक कटुता का मृत्यु निनाद सिद्ध हो।

स्रोत : https%@vivekanandatjind-wordpress.com

दार्शनिक एवं धार्मिक विचार

स्वामी विवेकानंद की भारत के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अटूट आस्था थी तथा देश की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत उनकी प्रेरणा स्रोत थी। अपने उपदेशों में उन्होंने वेदान्त दर्शन का प्रचार किया। तथापि उनके विचारों में किसी भी प्रकार की धार्मिक कट्टरता के लिये कोई स्थान नहीं था और न ही वे किसी भी प्रकार की अंधभक्ति का आग्रह करते थे। उन्हें वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत, विभिन्न पुराणों आदि का विषद ज्ञान था। वहीं दूसरी ओर उन्होंने आगस्ट कॉम्टे, हरबर्ट स्पेंसर, जॉन स्टूवर्ट मिल, चार्ल्स डॉरविन, इमानुएल कॉट, गॉतिब फिश्ते, डेविड ह्यूम, आर्थर शोपेनहॉवर, फ्रेडरिक हेगल तथा बारूथ स्पिनोज़ा आदि विभिन्न पाश्चात्य दार्शनिकों एवं मनीषियों के विचारों का भी विषद अध्ययन कर रखा था। स्वाभाविक रूप से स्वामी विवेकानंद धार्मिक होते हुए भी विचारों में बहुत आधुनिक थे और उनकी सोच में वैज्ञानिकता का पुट था। उन्होंने विभिन्न जातियों, धर्मों, संस्कृतियों की मान्यताओं, विश्वासों, धारणाओं एवं आचरण–पद्धतियों का समीक्षात्मक अन्वेषण किया। वे उनमें निहित सत्यांशों को अंगीकार करते गए तथा प्रतिगामी मान्यताओं एवं गतिरोधी रूढ़ियों एवं अंध–विश्वासों को विलगाते गए। विवेकानंद अकसर कहते थे "हम लोग केवल इसी भाव का प्रचार नहीं करते कि दूसरों के धर्म के प्रति कभी द्वेष न करो; इसके आगे बढ़कर हम सब धर्मों को सत्य समझते हैं और उनको पूर्ण रूप से अंगीकार करते हैं।" विवेकानंद ने बार–बार सभी धर्मों का आदर करने तथा मन की शुद्धि एवं निर्भय होकर प्राणी मात्र से प्रेम करने के रास्ते पर आगे बढ़ने का संदेश दिया। उन्होंने कहा–

प्राणिमात्र से प्रेम करने का प्रयास करो।... तुम्हारे लिए नीतिपरायणता तथा साहस को छोड़कर और कोई दूसरा धर्म नहीं। इसके सिवा और कोई धार्मिक मत–मतान्तर तुम्हारे लिए नहीं है। कायरता, पाप, दुराचरण तथा दुर्बलता तुममें एकदम नहीं रहनी चाहिए, बाक़ी आवश्यक वस्तुएं अपने आप आकर उपस्थित होंगी। उठो तथा सामर्थ्यशाली बनो। कर्म, निरन्तर कर्म; संघर्ष, निरन्तर संघर्ष; पवित्र और निःस्वार्थी बनने की कोशिश करो– सारा धर्म इसी में है।

निःसंदेह स्वामी विवेकानंद हिंदू मतावलंबी थे तथा विश्व भर में उनकी ख्याति 'हिंदू धर्म प्रचारक' की है। हिंदू धर्म की महानता और सार्वदेशिकता में उनका अखंड विश्वास था, उन्होंने बड़े गर्व से घोषणा की– 'पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिंदू

टिप्पणी

धर्म के समान इतने उच्च स्तर से मानवता के गौरव का उपदेश देता हो'। किन्तु तत्कालीन समय में हिंदू धर्म में व्याप्त पाखंड, अंधविश्वास, जातिवाद, छुआछूत, स्त्रियों की दुर्दशा ने उन्हें खिन्न कर रखा था। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा– 'पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है जो हिंदू धर्म के समान गरीबों और निम्न जाति वालों का गला ऐसी क्रूरता से घोंटता हो। प्रभु ने मुझे दिखा दिया है कि इसमें धर्म का कोई दोष नहीं है, वरन दोष उनका है जो ढोंगी और दम्भी हैं'। उन्होंने आह्वान किया– 'उन पाखण्डी पुरोहितों को, जो सदैव उन्नति के मार्ग में बाधक होते हैं, ठोकरें मारकर निकाल दो, क्योंकि उनका सुधार कभी न होगा, उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। उनकी उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों के अन्धविश्वासों और अत्याचारों के फलस्वरूप हुई है। पहले पुरोहिती पाखंड को जड़–मूल से निकाल फेंको। आओ, मनुष्य बनो'।

स्वामी विवेकानंद का विश्वास था कि पूरे विश्व में एक ही सत्ता है, एक ही शक्ति है। उस एक सत्ता, एक शक्ति को जब अलग–अलग नामों से पुकारा जाता है तो व्यक्ति को विभिन्न धर्मों, पंथों, सम्प्रदायों, आचरण–पद्धतियों की प्रतीतियां होती हैं। अपने–अपने मत को व्यक्त करने के लिए अभिव्यक्ति की विशिष्ट शैलियां विकसित हो जाती हैं। अलग–अलग मत अपनी विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करने लगते हैं। अपने विशिष्ट ध्वज, विशिष्ट चिन्ह, विशिष्ट प्रतीक बना लेते हैं। इन्हीं कारणों से वे भिन्न–भिन्न नजर आने लगते हैं। उन्होंने भिन्न धर्मों के बीच अन्तर्निहित एकत्व को पहचाना तथा उसका प्रतिपादन किया। मनुष्य और मनुष्य की एकता ही नहीं अपितु जीव मात्र की एकता का प्रतिपादन किया। उन्होंने सर्वधर्म समभाव का सन्देश देते हुए कहा–"सबके साथ मेल से रहो। अहंकार के सब भाव छोड दो और साम्प्रदायिक विचारों को मन में न लाओ। व्यर्थ विवाद महापाप है।"

सामाजिक चिंतन

विवेकानंद समाज को सावयवी मानते थे। अर्थात समाज एक शरीर है और व्यक्ति उसके अंग। जिस प्रकार शरीर के अभाव में पृथक अंगों का कोई महत्त्व नहीं है उसी प्रकार सामाजिक प्रगति के बिना व्यक्ति के कल्याण की कल्पना नहीं की जा सकती। वे तत्कालीन भारतीय समाज की परिस्थितियों से बेहद क्षुब्ध थे। भारत के पतन पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि भारतीय समाज के पतन का मुख्य कारण है, जात–पांत, साम्प्रदायिक संकीर्णता, छुआछूत, श्रद्धा का अभाव, पाश्चात्य भौतिक सभ्यता के प्रति अंधप्रेम, भ्रष्टाचार, बेईमानी, हीनता की भावना, धर्म की उपेक्षा, संकीर्ण मनोवृत्तियां, मौलिकता एवं साहस की कमी, शारीरिक विकास की कमी, अशिक्षा, गरीबी आदि। उनका दृढ़ विश्वास था कि सामाजिक सुधारों के बिना भारतवासियों का कल्याण नहीं हो सकता।

उन्होंने लोगों से कूप–मंडूक न बने रहकर खुली आंखों से दुनिया को देखने का आग्रह किया और आधुनिकता के पथ पर अग्रसर होने का आह्वान किया। उनका सन्देश था कि जीवन प्रगतिशील है और आज का हमारा जीवन पिछली अनेक सदियों में की गई प्रगति तथा विकास का परिणाम है। अतः हमें रूढ़िवादिता और प्रतिगामी विचारों के स्थान पर प्रगति पथ का अनुसरण करना चाहिये।

विवेकानंद ने भारतीय समाज में प्रचलित छुआछूत की प्रथा की तीव्र आलोचना की। उन्होंने इस प्रथा को कुछ परम्परावादी लोगों का अन्धविश्वास मात्र माना और इसे रसोईघर और पतीली–कड़ाही का निरर्थक पंथ करार दिया। उन्होंने तर्क दिया कि भारत की शास्त्रीय परंपरा में अस्पृश्यता की प्रथा के लिये कोई स्थान नहीं था बल्कि यह कालान्तर में जनमी एक सामाजिक बुराई है। वे पारंपरिक वर्ण व्यवस्था का समर्थन करते थे किन्तु जातीय भेदभावों के सख्त विरोधी थे। उन्होंने बाल–विवाह की भर्त्सना की और घोषित किया कि 'जिस प्रथा के अनुसार अबोध बालिकाओं का विवाह होता है, उसके साथ मैं किसी भी प्रकार के सम्बन्ध रखने में असमर्थ हूं'। उनके अनुसार बाल–विवाह के दुष्परिणाम स्वरूप असामयिक संतानोत्पत्ति होती है जिससे स्त्रियां दुर्बल और अल्पायु हो जाती हैं, उनकी संतानें कमजोर और रोगी होती हैं; बेमेल विवाहों की वजह से समाज में विधवा स्त्रियों की बड़ी तादाद पायी जाती है।

विवेकानंद के हृदय में गरीबों के प्रति सहानुभूति थी और वे उनका कल्याण चाहते थे। उनके मत में दरिद्रनारायण की सेवा संसार की सबसे बड़ी सेवा है। उन्होंने कहा– 'जब तक करोड़ों लोग भूख और अज्ञान में गोते खा रहे हैं, तब तक मैं हर आदमी को विश्वासघाती मानता हूं जिसने उनकी गाढ़ी कमाई के पैसे से शिक्षा पाई है और अब उन्हीं पर कोई ध्यान नहीं देता'।

राजनीतिक दर्शन

स्वामी विवेकानंद एक संन्यासी थे, वे न तो कोई राजनीतिज्ञ थे न ही कोई आन्दोलनकारी। उन्होंने केवल आत्मत्व का चिंतन किया और उनका दृढ़ विश्वास था कि यदि आत्मोन्नति हो जाए तो सब कुछ अपने आप ही ठीक हो जाएगा। तथापि चिंतन की स्वतंत्रता, व्यक्ति की गरिमा, नारी–जागरण, दलित– उद्धार, राष्ट्रप्रेम, स्वाभिमान, देशवासियों की समग्र उन्नति वेदान्तयुक्त मानवतावाद तथा विश्व–बंधुत्व आदि विषयों में उनकी गहरी रुचि थी। इस प्रकार, गंभीरता से एवं सूक्ष्मता से देखा जाए तो विवेकानंद ही वह व्यक्तित्व था, जिसने भारत में आत्मविश्वास जगाया, भारत की श्रेष्ठता सिद्ध की, जन–जन को जगाया।

विवेकानंद मनुष्य को एक विवेकशील प्राणी मानते थे जो नैतिक मूल्यों से परिपूर्ण होता है और उनमें परस्पर सहयोग की भावना होती है। इस दृष्टि से विवेकानंद के विचार मैकियावेली और लॉक जैसे पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों के विपरीत थे जो कि मनुष्य की प्रवृति को मूलतः स्वार्थी एवं झगड़ालू मानते हैं। वे ईसाई धर्म की इस मान्यता से भी सहमत नहीं थे कि मनुष्य का उदय किसी पाप का परिणाम है। वे मार्क्सवादी वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सहयोग के सिद्धांत पर विश्वास करते थे। उन्होंने मानव मात्र के गौरव पर अत्याधिक बल दिया और कहा– 'मानव स्वभाव के गौरव को कभी न भूलो। हममे से प्रत्येक मनुष्य घोषणा करे कि– मैं ही परमेश्वर हूं, जिससे बड़ा न कोई हुआ है और न होगा। ईसा और बुद्ध उस असीम महासागर की तरंगें मात्र हैं जो मैं हूं'।

विवेकानंद के राजनीतिक दर्शन की दूसरी उल्लेखनीय विशेषता उनकी स्वतंत्रता की अवधारणा है। उनके अनुसार, 'जीवन, सुख और समृद्धि की एकमात्र शर्त चिंतन और कर्म की स्वतंत्रता है; इनके अभाव में मानवजाति और राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी

टिप्पणी

है'। विवेकानंद के अनुसार सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति से मुख्यतः स्वतंत्रता की ही खोज कर रहा है। उनके अनुसार– 'शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरों को इस मार्ग पर सहयोग करना मानव का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व है। जो सामाजिक नियम इस स्वतंत्रता के विकास में बाधा डालते हैं वे हानिकारक हैं और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये'। वे भारतीय समाज में व्याप्त जातीय संकीर्णता, छुआछूत, अशिक्षा, गरीबी आदि को स्वत्रंत्रता के मार्ग में बाधक मानते थे। उनके द्वारा वर्णित आदर्श राज्य में इन बुराइयों के लिये कोई स्थान नहीं है।

विवेकानंद राजनीति का आध्यात्मीकरण चाहते थे और यह विश्वास करते थे कि भारत को जगाने का मूलमंत्र है इस देश की गौरवशाली धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं। स्वामी विवेकानंद ने इस बात को कई बार दोहराया था कि भारत के पतन का कारण धर्म नहीं है, अपितु धर्म के मार्ग से दूर जाने से ही भारत का पतन हुआ है। इतिहास साक्षी है कि जब–जब हम अपने धर्म को भूल गये तब तब हमारा पतन हुआ। हर बार धर्म के जागरण से ही नवोत्थान की लहर चली।

उन्होंने कहा– 'हे भारत, क्या तू दूसरों की संस्थाओं की नक़ल पर निर्भर रहेगा और दूसरों की प्रशंसा पाने के लिये व्यग्र रहेगा और पद के अधिकार के लिये मूढ़ दासता और घृणित नृशंसता में फंसा रहेगा? क्या तू इस प्रकार की निर्लज्ज कायरता से वह स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है, जिसके योग्य केवल वीर होते हैं? यह न भूल कि तेरा समाज महानता की भ्रान्ति में भूला हुआ है। अपने गिरे हुए गरीब, अज्ञ, भंगी, मेहतर को न भूल, वे तेरे रक्त–मांस हैं, वे तेरे भाई हैं। हे वीर, साहस कर, गर्वित हो कि तू भारतीय है और बड़े गर्व के साथ यह कह कि मैं भारतीय हूं और हरेक भारतीय मेरा भाई है, भारत की भूमि मेरे लिये सर्वोच्च स्वर्ग है, भारत की भलाई मेरी भलाई है।

स्पष्ट है कि विवेकानंद एक प्रखर राष्ट्रवादी विचारक थे किन्तु उनका राष्ट्रवाद कट्टरतावादी नहीं था। वे उस राष्ट्रवाद के घोर विरोधी थे जो कि जातीय अहंकार के नाम पर एक देश को दूसरे देश से लड़ाता है। वे भारतीय संस्कृति के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श से अनुप्रेरित थे और विश्व बंधुत्व के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने कहा– 'निः संदेह मुझे भारत से प्यार है, पर प्रत्येक दिन मेरी दृष्टि अधिक निर्मल होती जाती है। हमारे लिये भारत या इंग्लैंड या अमेरिका क्या है? हम तो उस ईश्वर के सेवक हैं जिसे अज्ञानी मनुष्य कहते हैं। जड़ में पानी देने वाला क्या सारे वृक्ष को नहीं सींचता है?'

शिक्षा संबंधी विचार

स्वामी विवेकानंद का शैक्षिक चिंतन अत्यंत व्यापक है, जैसे वे धार्मिक या भारतीय शिक्षा और पाश्चात्य शिक्षा दोनों का समन्वय करना चाहते थे। वे मैकाले द्वारा प्रतिपादित और उस समय प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था के विरोधी थे, क्योंकि इस शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ बाबुओं की संख्या बढ़ाना था। वे ऐसी शिक्षा चाहते थे जिससे बालक का सर्वांगीण विकास हो सके। बालक की शिक्षा का उद्देश्य उसको आत्मनिर्भर बनाकर अपने पैरों पर

खड़ा करना है। स्वामी विवेकानंद ने प्रचलित शिक्षा को 'निषेधात्मक शिक्षा' की संज्ञा देते हुए कहा है कि आप उस व्यक्ति को शिक्षित मानते हैं जिसने कुछ परीक्षाएं उत्तीर्ण कर ली हों तथा जो अच्छे भाषण दे सकता हो, पर वास्तविकता यह है कि जो शिक्षा जनसाधारण को जीवन संघर्ष के लिए तैयार नहीं करती, जो चरित्र निर्माण नहीं करती, जो समाज सेवा की भावना विकसित नहीं करती तथा जो शेर जैसा साहस पैदा नहीं कर सकती, ऐसी शिक्षा से क्या लाभ? अतः स्वामीजी सैद्धान्तिक शिक्षा की जगह व्यावहारिक शिक्षा को व्यक्ति के लिए उपयोगी मानते थे। व्यक्ति की शिक्षा ही उसे भविष्य के लिए तैयार करती है, इसलिए शिक्षा में उन तत्वों का होना आवश्यक है, जो उसके भविष्य के लिए महत्वपूर्ण हों।

स्वामी विवेकानंद ने धर्म की शिक्षा, नारी शिक्षा, जन शिक्षा के संबंध में शिक्षा पर बल दिया है। स्वामी जी शिक्षा को व्यवसायमूलक जीवन मूल्यों से परिपूर्ण विचारोत्तेजक और मानव निर्मित दिशा देने के पक्ष में थे। उनके अनुसार सामाजिक निरंकुशता और अंध विश्वास का नाश करना, शिक्षा का प्रथम कर्तव्य है। उनका कहना था कि भारत में शिक्षा के प्रसार के फलस्वरूप समाज शास्त्रीय अर्थपूर्ण सामाजिक गतिशीलता नहीं आ पाई है। वे भारतीय समाज का पूरी तरह सुधार चाहते थे।

उन्होंने ऐसे भारत की कल्पना की, जो परंपरागत अंधविश्वास, पाखंड, अकर्मण्यता, जड़ता और आधुनिक सनक और कमजोरियों से स्वतंत्र होकर आगे बढ़ सके। उनके अनुसार भारतीय समाज का विकास आंशिक वर्गगत और आंचलिक रूप से संभव नहीं। स्वामी विवेकानंद ने भौतिकवादी पाश्चात्य समाज में आध्यात्मिक योग और वेदांत की शिक्षा का प्रभाव डाला। वे उन भारतीय चिंतकों में से हैं, जिन्होंने भारतीय इतिहास की समाज शास्त्रीय और यथार्थवादी परिभाषा की। वे कहते थे कि आध ुनिकीकरण की होड़ का आधार भी भारतीय संस्कृति होना चाहिए। स्वामी विवेकानंद के शिक्षा दर्शन के आधारभूत उद्देश्य हैं–

(1) मानव प्रेम, समाज सेवा, विश्व चेतना और विश्व बंधुत्व के गुणों का विकास करना।

(2) आंतरिक एकता को बाह्य जगत में प्रकट करना, ताकि मनुष्य खुद को भली भांति समझे।

(3) मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक, धार्मिक, नैतिक, चारित्रिक, सामाजिक व्यावसायिक विकास करना।

(4) शिक्षा द्वारा मानव में देश भक्ति जाग्रत करना।

5) मानव की वैचारिक मुक्तता को बढ़ावा देना।

(6) आत्मविश्वास, आत्मश्रृद्धा, आत्मत्याग, आत्मनियंत्रण, आत्मनिर्भरता, आत्मज्ञान जैसे आलौकिक सदगुणों का विकास करना।

(7) मानव के ज्ञान चक्षुओं को खोलना।

(8) राष्ट्र, गुरु शुद्ध आदर्श के प्रति श्रद्धा और चेतना को जाग्रत करना।

टिप्पणी

1.3.3 स्वामी दयानंद सरस्वती

भारतीय इतिहास में 19वीं सदी अत्यंत महत्वपूर्ण सदी थी। 19वीं सदी अपने आरंभ से लेकर अंत तक अत्यंत घटना प्रधान रही। 1800 ई. से लेकर 1900 ई. तक पूरे 100 वर्ष का भारतीय इतिहास सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। इस काल में समाज एवं धर्म सुधार के क्षेत्र में कई सुधार आंदोलन संपन्न हुए। भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना के साथ समाज सुधार आंदोलनों की भी आधारशिला रखी। कालांतर में आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी एवं अलीगढ़ मुस्लिम आंदोलन, सिख सुधार आंदोलन और पारसी सुधार आंदोलन ने समाज के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त किया। कुछ सामाजिक एवं धार्मिक आंदोलनों की सांगोपांग विवेचना आगे प्रस्तुत की जा रही है।

स्वामी दयानंद सरस्वती का जन्म 1824 ई. में सौराष्ट्र में मोरवी राज्य के टनकारा ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। शिवरात्रि को एक चूहे को शिवलिंग पर रखा प्रसाद खाते देख, 14 वर्षीय मूलशंकर का मूर्तिपूजा पर से विश्वास उठ गया। 19 वर्ष की आयु में उनके चाचा का देहांत हो गया इससे उन्हें जीवन के सत्य का ज्ञान हुआ। उन्होंने विवाह नहीं किया तथा 21 वर्ष की आयु में उन्होंने गृह त्याग दिया एवं संन्यासी वेश–भूषा अपना ली। 1860 ई. में उन्होंने मथुरा के एक नेत्रहीन स्वामी विरजानंद से दीक्षा ली। गुरु दक्षिणा में उन्होंने वचन दिया कि वे–

1. सत्य के प्रचार के लिए,
2. हिंदू धर्म में व्याप्त कुरीतियों, अंधविश्वासों एवं पाखंडों के विनाश के लिए,
3. वैदिक युगीन धर्म, शिक्षा एवं संस्कृति की स्थापना के लिए निरंतर संघर्ष करेंगे।

काशी (वाराणसी) में स्वामी दयानंद सरस्वती ने 300 पंडितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया। वैदिक धर्म को वास्तविक हिंदू धर्म घोषित किया। मूर्तिपूजा, अवतारवाद एवं जाति प्रथा का खंडन किया। 1873 ई. में वे काशी से कलकत्ता गए। यहां वे केशवचंद्र सेन, देवेंद्रनाथ टैगोर एवं ईश्वरचंद्र विद्यासागर से मिले। केशवचंद्र सेन ने उन्हें परामर्श दिया कि वे अपने विचार संस्कृत के स्थान पर जनसाधारण की भाषा हिंदी में रखें। इसके बाद दयानंद सरस्वती बंबई गए एवं 10 अप्रैल, 1875 ई. को वहां आर्य समाज की स्थापना की।

1874 ई. में उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखा जिसका आधार वेद एवं उपनिषद था। इसके अलावा उन्होंने वेद भाष्य भूमिका भी लिखी। उन्होंने 'वेदों की ओर लौट चलो' का नारा भी दिया। उत्तर भारत एवं पंजाब में उनके विचारों का विशेष प्रभाव पड़ा एवं आर्य समाज के अनुयायियों की संख्या बढ़ी। कहा जाता है कि जोधपुर में किसी ने उन्हें भोजन में विष दे दिया था। इस तरह अजमेर में 30 अक्टूबर, 1883 ई. को उनकी मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु पर थियोसोफिकल सोसाइटी की संस्थापिका मैडम ब्लावेट्स्की ने लिखा था– ''यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के पश्चात भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।''

टिप्पणी

स्वामी दयानंद सरस्वती की मान्यताएं एवं कार्य

स्वामी दयानंद सरस्वती की प्रमुख मान्यताएं एवं कार्य निम्नानुसार थे–

1. **मूर्तिपूजा का विरोध**– उन्होंने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, पशुबलि का विरोध किया तथा विभिन्न देवी–देवताओं के स्थान पर एकेश्वरवाद पर जोर दिया।
2. **ब्राह्मणों की श्रेष्ठता अस्वीकृत**– दयानंद सरस्वती ने जन्म के आधार पर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता अस्वीकृत की। उनका स्पष्ट मानना था कि वेदों के अध्ययन का अधिकार केवल ब्राह्मणों का नहीं है।
3. **वेदों में आस्था**– उन्होंने 'वेदों की ओर लौट चलो' का नारा देकर वेदों की वैज्ञानिकता सिद्ध की। वेदों में वर्णित यज्ञ हवन को वायुमंडल का शुद्धीकरण बताया।
4. **मोक्ष प्राप्ति**– ईश्वर की उपासना, सत्कर्म एवं ब्रह्मचर्य के पालन को मोक्ष प्राप्ति का साधन माना।
5. **अंधविश्वासों पर प्रहार**– अंधविश्वासों से दूर रहने को कहा। श्राद्ध प्रथा को मूर्खतापूर्ण बताया।
6. **शुद्धि आंदोलन**– इसलाम व ईसाई धर्म ने कई हिंदुओं को मुसलमान व ईसाई बना लिया था। इस धर्म परिवर्तन को रोकने व जो लोग अन्य धर्मों में चले गए थे उन्हें वापस हिंदू धर्म में लाने हेतु दयानंद सरस्वती ने शुद्धि आंदोलन चलाया। आर्य समाज ने शुद्धि आंदोलन को भारत की धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक एकता के लिए आवश्यक कार्यक्रम माना। शुद्धि आंदोलन ने बलात मुस्लिम धर्म में गए लोगों को वापस हिंदू धर्म में लाने का मार्ग प्रशस्त किया।
7. **जाति प्रथा एवं अस्पृश्यता का विरोध**– दयानंद सरस्वती जाति–पाति के भेद को नहीं मानते थे। उन्होंने अस्पृश्यता का भी विरोध किया।
8. **अंतर्जातीय विवाह एवं विधवा विवाह का समर्थन**– दयानंद सरस्वती ने अंतर्जातीय विवाह का समर्थन किया। संतानहीन विधवा के विवाह का समर्थन किया। विवाह के लिए लड़के की आयु 25 वर्ष एवं लड़की की आयु 16 वर्ष बताई। पर्दा प्रथा एवं सती प्रथा का विरोध किया। उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष अधिकार देने पर बल दिया।
9. **हिंदी राष्ट्रभाषा बने**– केशवचंद्र सेन ने दयानंद सरस्वती से हिंदी में धर्म प्रचार करने को कहा था। दयानंद सरस्वती प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने पर जोर दिया।

आर्य समाज के सिद्धांत

स्वामी दयानंद सरस्वती ने 10 अप्रैल, 1875 ई. को बंबई में आर्य समाज की स्थापना की। दयानंद सरस्वती कृत 'सत्यार्थ प्रकाश' के आधार पर आर्य समाज के नियम एवं सिद्धांत निर्धारित किए गए जो कि निम्नलिखित हैं–

1. वेद सत्य ज्ञान के स्रोत हैं। सभी मनुष्यों को इनका अध्ययन, मनन एवं प्रचार करना चाहिए।

टिप्पणी

2. ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि अनुपम, सर्वव्यापक, अजर, अमर, पवित्र एवं सृष्टिकर्ता है। हमें उन्हीं की उपासना करनी चाहिए।

3. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सभी का आदि मूल परमेश्वर है।

1.3.4 एनी बेसेन्ट एवं थियोसोफिकल सोसाइटी

एनी बेसेन्ट की स्वतंत्रता की अवधारणा में न केवल राजनीतिक और सामाजिक स्वतंत्रता बल्कि आध्यात्मिक स्वतंत्रता का भी समावेश है। पुनर्जागरण काल में भारत में थियोसोफिकल सोसाइटी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 1907 में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट इस सोसाइटी की अध्यक्ष रही थीं। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट उन राष्ट्रीय विचारकों में थीं जो आध्यात्मिक राष्ट्रवाद पर अत्यधिक बल देते थे। भारतीय राजनीतिक विचारकों में जो अत्यंत राष्ट्रवाद परिलक्षित होता है उसका स्वरूप ऐनी बेसेन्ट के उन शब्दों में दृष्टिगोचर होता है, जो उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अध्यक्ष पद से कहे थे– "राष्ट्रीयता का जादू एकता की अनुभूति है और राष्ट्रीयता का उपयोग विश्व की उस विशिष्ट प्रकार से सेवा करना है जिसके लिए उसका प्रकार उपयुक्त है।"

इस परिप्रेक्ष्य में ऐनी बेसेन्ट के कथनानुसार प्रत्येक राष्ट्र दैवी शक्ति की विशिष्ट अभिव्यक्ति है। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी वैयक्तिकता और अपना स्वधर्म है। एनी बेसेन्ट के शब्दों में, "एक राष्ट्र स्पष्ट रूप से व्यक्ति है, जिसका एक चरित्र है, और वह चरित्र उस आत्मा की प्रकृति पर आधारित है, जो उसका मूल है और समस्त मानवता में उसका योगदान होने के लिए उसकी क्रमशः अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यदि भारतवर्ष पांच हजार वर्ष पूर्व के अपने समकालीनों के बाद भी जीवित है तो वह केवल इसलिए कि उसकी राष्ट्रीयता के विषय में इन विचारों की प्रतिध्वनि बाद के भारतीय राजनीतिक विचारों में दिखाई पड़ती है। उन्होंने राष्ट्र के निर्माण में राष्ट्रीय धर्म को एक महत्वपूर्ण अंग माना है। उनके अनुसार भारत में यह राष्ट्रीय धर्म हिन्दू धर्म है।" श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने राष्ट्रीयता पर चिंतन करने के साथ–साथ मानव एकता के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है। ऐनी बेसेन्ट ने कहा था– "समस्त राष्ट्रों की समग्रता ही मानवता का निर्माण करती है, जो स्वयं ईश्वर की मानवीय प्रतिछाया है, प्रत्येक का अपना व्यक्तित्व है।" ऐनी बेसेन्ट के अनुसार भारतीय आध्यात्मिकता राष्ट्रीयता का सार, धर्म है। यह धर्म एकता सिखाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को धर्म पर आधारित करने का उपदेश देते हुए ऐनी बेसेन्ट ने कहा था– "मैं दृढ़रूप से अनुभव करती हूं कि धर्म के आधार पर ही एक सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण हो सकता है। धर्म, स्वयं जो मानव कर्तव्य से बंधी हुई मानव गरिमा की भावना प्रदान करता है और भारत का आत्म–सम्मान कभी भी उस प्रकार से नहीं उठ सकता था, जैसा वह आज उठा है।"

'थियोसोफी' (Theosophy) शब्द ग्रीक भाषा के थियो (Theos) और सोफी (Sophia) शब्दों से मिल कर बना है जिसका अर्थ 'ईश्वर का ज्ञान' है। संस्कृत में इनके लिए 'ब्रह्मविद्या' शब्द का प्रयोग होता है। थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना 1875 में अमरीका में हुई थी। इसकी स्थापना एक रूसी महिला मैडम हेलना पेट्रोवना व्लावात्सकी (1831–91) और एक अमरीकी सैनिक अफसर कर्नल हेनरी स्टील ऑलकॉट्

टिप्पणी

(1931–97) ने की थी। 'धर्म को समाज–सेवा का मुख्य साधन बनाने और धार्मिक भ्रातृभाव के प्रचार और प्रसार हेतु उन्होंने थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना की गई।'

1882 में मद्रास के समीप अड्यार नामक स्थान पर इस की एक शाखा स्थापित की। भारत में इसकी सफलता का अध्याय तब शुरू हुआ जब 1893 में श्रीमती एनी बेसेन्ट भारत आई और सोसायटी का कार्यभार संभाला। इस सोसायटी के अनुयायी–

1. ईश्वरीय ज्ञान को आत्मिक हर्षोन्माद (spiritual ecstacy) और अंतर्दृष्टि (intuition) द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे।
2. उन्होंने हिंदू धर्म, जो राष्ट्रीय धर्म था और बौद्ध धर्म जैसे प्राचीन धर्मों को पुनर्जीवित कर उन्हें मजबूत बनाने की वकालत की।
3. वे पुनर्जन्म और कर्म के सिद्धांत को स्वीकार करते थे और सांख्य और उपनिषदों के दर्शन को अपना प्रेरणास्रोत मानते थे।
4. वे विश्वबंधुत्व की भावना का समर्थन करते थे।

सोसायटी प्रारंभ से ही हिंदू पुररुत्थान आंदोलन से संलग्न रही लेकिन यह धार्मिक पुनरुत्थानवादी के रूप में उतना सफल नहीं रही जितना समाज सुधार, शैक्षिक विकास और राष्ट्रवादी चेतना को जागृत करने में सफल रही। सोसायटी की शाखाएं संपूर्ण भारत में खुलीं, परंतु दक्षिण भारत में इसका प्रभाव ज्यादा रहा। अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एनी बेसेन्ट ने बनारस में सेंट्रल हिंदू स्कूल की स्थापना की और उसकी प्रगति के लिए भरसक प्रयत्न किया। यही स्कूल आगे चलकर एक कॉलेज में, और अंततः 1915 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में परिणत हो गया। आयरलैंड के स्वराज्य लीग के नमूने पर बेसेन्ट ने भारत में भी स्वराज्य लीग बनाई। एनी बेसेन्ट के व्यक्तित्व के आकर्षण– उनकी असामान्य वाक् शक्ति, लेखन–शक्ति तथा सुधारवादी उत्साह ने सोसायटी की सफलता में भरपूर योगदान किया। बेसेन्ट को प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति बड़ा जबर्दस्त आकर्षण था। अंततः वे हिंदू धर्म और समाज में पूरे तौर पर रम गई और हिंदू धर्म तथा भारत का पुनरुत्थान उनका कर्तव्य हो गया। इस दिशा में उन्होंने अदम्य उत्साह से काम किया और भारत की प्राचीन गौरव–गरिमा को पुनः स्थापित करने का यथासंभव प्रयत्न किया। उनके नेतृत्व में सभी धर्मावलंबी एक–दूसरे के नजदीक आए। देखते–देखते 'थियोसोफिकल हिंदूइज्म' अखिल भारतीय आंदोलन बन गया और इसने नई पीढ़ी के दृष्टिकोण को गंभीर रूप से प्रभावित किया। सबसे बढ़कर सोसायटी ने भारतीयों में उनके प्राचीन गौरव को उजागर कर आत्मसम्मान पैदा किया और राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में मदद की।

सोसायटी की हिंदू धर्म की व्याख्या रूढ़िवादी थी और इसके कई भारतीय नेता (जैसे बनारस के डॉ. भगवान दास और मद्रास के सर एस. सुब्रमण्य अयर) हिंदू रूढ़िवादिता के समर्थक थे। सोसायटी के रूढ़िवादी दृष्टिकोण का इसके प्रसार एवं सफलता पर विपरीत प्रभाव पड़ा। इसके तांत्रिक स्वरूप को देखकर ही कुछ लोग इसमें शामिल नहीं हुए या इससे अलग हो गए। लेकिन इसके सामाजिक सिद्धांत प्रगतिशील और ज्यादा महत्वपूर्ण थे।

1.3.5 महादेव गोविंद रानाडे एवं प्रार्थना समाज

1840 ई. में परमहंस मंडली ने महाराष्ट्र में धर्म सुधार आंदोलन आरंभ किया। महाराष्ट्र के प्रारंभिक धर्म सुधारकों में 'लोकहितवादी' गोपाल हरि देशमुख प्रमुख थे। महाराष्ट्र में व्यापक रूप से धार्मिक एवं समाज सुधार का श्रेय प्रार्थना समाज को जाता है।

महादेव गोविंद रानाडे (18 जनवरी 1842 – 16 जनवरी 1901) नासिक, महाराष्ट्र के एक छोटे से कस्बे निफाड़ में पैदा हुए थे। आरम्भिक काल उन्होंने कोल्हापुर में बिताया, जहां उनके पिता मंत्री थे। इनकी शिक्षा मुंबई के एल्फिन्स्टोन कॉलेज में चौदह वर्ष की आयु में आरम्भ हुई थी। वे बम्बई विश्वविद्यालय के कला स्नातकोत्तर (1862) एवं विधि स्नातकोत्तर (एल.एल.बी 1866) दोनों ही पाठ्यक्रमों में प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण हुए।

इन्हें बम्बई प्रेसीडेंसी मैजिस्ट्रेट (1871) मुंबई स्मॉल कौज़ेज़ कोर्ट के चतुर्थ न्यायाधीश, प्रथम श्रेणी उप–न्यायाधीश, पुणे 1873 में नियुक्त किया गया। सन 1885 से वे उच्च न्यायालय से जुड़े। उन्होंने सन 1887 से द डेक्कन एग्रीकल्चरिस्ट्स रिलीफ एक्ट के अन्तर्गत विशेष न्यायाधीश का पदभार भी संभाला। वे बम्बई वैधानिक परिषद के सदस्य भी थे। 1893 में उन्हें मुंबई उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किया गया। सन 1897 में रानाडे उस समिति में भी सेवारत रहे, जिसे शाही एवं प्रांतीय व्यय का लेखा जोखा रखने एवं आर्थिक कटौतियों का अनुमोदन करने का कार्यभार मिला था। इस सेवा हेतु, उन्हें कम्पैनियन ऑफ द ऑर्डर ऑफ इंडियन एम्पायर का दर्जा मिला।

उनकी प्रथम पत्नी की मृत्यु के बाद, उनके समाज सुधारक मित्र चाहते थे, कि वे एक विधवा से विवाह कर, उसका उद्धार करें। परन्तु, उन्होंने अपने परिवार का मान रखते हुए, एक बालिका, रामाबाई रानाडे से विवाह किया, जिसे बाद में उन्होंने शिक्षित भी किया। उनकी मृत्यु के बाद उनकी पत्नी ने उनके शैक्षिक एवं सामाजिक सुधार कार्यों को चलाया। उनके कोई संतान नहीं थी।

प्रार्थना समाज महाराष्ट्र में केशव चंद्र सेन ने आरम्भ किया था, जो एक दृढ़ ब्रह्मसमाजी थे। यह मूलतः महाराष्ट्र में धार्मिक सुधार लाने हेतु निष्ठ था। यह ब्रह्मो समाज से प्रेरित एक हिन्दूवादी आंदोलन था। यह प्रकाशित आस्तिकता के सिद्धांतों पर आधारित था, जो प्राचीन वेदों पर आधारित था। रानाडे अन्य सामाजिक आंदोलन सभाओं (पूना सार्वजनिक सभा, वक्त्रुत्तवोत्तेजक सभा) के भी संस्थापक थे, जिन्हें उन्होंने मृत्यु पर्यन्त समर्थन दिया, जिसके द्वारा उन्होंने समाज सुधार, जैसे बाल विवाह, विधवा मुंडन, विवाह के आडम्बरों पर भारी आर्थिक व्यय, सागरपार यात्रा पर जातीय प्रतिबंध इत्यादि का विरोध किया। उन्होंने विधवा पुनर्विवाह एवं स्त्री शिक्षा पर पूरा जोर दिया था। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी के संस्थापक सदस्यों में से एक थे।

रानाडे ने सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनितिक विषयों पर अनेक लेख और पुस्तकें लिखी हैं। इन रचनाओं को अनेक शीर्षकों से संकलित किया गया है। 1884 में उन्होंने 'शिशु विवाह' (Infant Marriage) और 'अनिवार्य विधवापन' (Compulsory Widowhood) नामक दो पर्चे लिखे, इन पर्चों को 'मालाबारी नोट्स' के रूप में ख्याति मिली। रानाडे द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था पर लिखे गए निबंधों का 'भारतीय अर्थशास्त्र पर निबंध' नाम से संपादन हुआ है।

टिप्पणी

प्रार्थना समाज

ब्रह्म समाज के अनुयायी केशवचंद्र सेन अपने धर्म के प्रचारार्थ 1864 ई. में बंबई गए। उन्हीं की प्रेरणा से 1867 ई. में प्रार्थना समाज की बंबई में स्थापना हुई। डॉ. आत्माराम पांडुरंग ने प्रार्थना समाज की स्थापना की तथा प्रार्थना समाज के प्रथम अध्यक्ष बने। दो वर्ष पश्चात 1869 ई. में रामचंद्र गणेश भंडारकर एवं महादेव गोविंद रानाडे के प्रार्थना समाज में जुड़ने से बंबई के प्रार्थना समाज में नवीन जोश तथा उत्साह का संचार हुआ। महादेव गोविंद रानाडे ने प्रार्थना समाज को एक नवीन दिशा का आयाम दिया। बंबई एवं पूना की सभाओं में रानाडे ने अपने धार्मिक विचारों की व्याख्या प्रस्तुत की। रानाडे के जीवनी लेखक प्रोफेसर जेम्स केलक ने उनके बारे में कहा है कि–''यद्यपि उन्हें हिंदू धर्म के प्रति गहन आस्था थी, लेकिन वे दूसरे धर्मों का आदर करते थे। उनकी दृष्टि में हिंदू धर्म सर्वाधिक उदार मतवाद का पोषक है जिससे सभी धर्मों का समन्वय हो सकता है।'' प्रार्थना समाज ने सभी धर्मों की एकता की पहल की।

उद्देश्य– प्रार्थना समाज के मुख्यतः दो उद्देश्य थे– प्रथम, एकेश्वरवाद का प्रचार एवं द्वितीय, सामाजिक सुधार कार्य। रानाडे ने एकेश्वरवाद के प्रचार के साथ–साथ हिंदू धर्म में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध भी आवाज उठाई।

कार्य– प्रार्थना समाज के कार्यों की विशेषता पर बल देते हुए मिस कैलेट ने लिखा है, ''ब्रह्म समाज के समान प्रार्थना समाज ने ब्रह्म समाज का उग्र विरोध नहीं किया'' प्रार्थना समाज का कार्यक्रम निम्नवत था–

1. सदस्यों के लिए मूर्तिपूजा का त्याग एवं जातिबंधनों का विरोध आवश्यक नहीं माना।
2. प्रार्थना समाज ने बाल–विवाह पर रोक, स्त्री शिक्षा पर बल एवं पर्दा प्रथा के त्याग पर जोर दिया। महर्षि कर्वे एवं ईश्वरचंद्र विद्यासागर की भांति एम.जी. रानाडे ने भी विधवा विवाह पर बल दिया तथा वे विधवा पुनर्विवाह एसोसिएशन के सदस्य बने।
3. प्रार्थना समाज के अनुयायियों ने विधवा आश्रम, अछूतोद्धार, रात्रि पाठशालाएं इत्यादि स्वयंसेवी संस्थाएं खोलीं।
4. दलित जाति मंडल, समाज सेवा संघ एवं दक्षिण शिक्षा सभा की स्थापना की। रानाडे के समर्थक, प्रशंसक एवं शिष्य गोपाल कृष्ण गोखले ने भारतीय समाज सेवक संस्थाएं खोलीं। गोखले के अलावा तिलक ने भी प्रार्थना समाज के तत्वावधान में शिक्षा के प्रसार में उल्लेखनीय योगदान दिया।
5. प्रार्थना समाज ने ब्रह्म समाज की भांति आत्मा के आवागमन, पुनर्जन्म एवं अवतारवाद के सिद्धांत को स्वीकार किया।

प्रार्थना समाज का मूल्यांकन

यद्यपि प्रार्थना समाज की स्थापना केशवचंद्र सेन की प्रेरणा से डॉ. आत्माराम पांडुरंग ने की मगर उसकी सफलता एवं उपलब्धियों का श्रेय महादेव रानाडे को जाता है। प्रार्थना समाज ने हिंदू धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित अनेक सिद्धांतों को माना एवं मराठी संत कवियों की वाणी का प्रयोग किया। यद्यपि ब्रह्म समाज के समान प्रार्थना समाज का भी अधिक प्रसार नहीं हुआ तथापि तेलगू भाषा प्रदेशों में प्रार्थना समाज ने लोकप्रियता

टिप्पणी

अर्जित की। एम.जी. रानाडे के प्रयासों से दक्षिण शिक्षा संस्था का गठन हुआ। धार्मिक गतिविधियों की अपेक्षा प्रार्थना समाज ने सामाजिक सुधार एवं शिक्षा के प्रसार में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की।

1.3.6 सत्यशोधक समाज एवं ज्योतिबा फुले

सत्यशोधक समाज (अर्थात सत्य की खोज करने वाला समाज) का उद्देश्य शूद्र एवं अस्पृश्य जाति के लोगों को विमुक्त करना था। शूद्रों–अतिशूद्रों को पुजारी, पुरोहित, सूदखोर आदि की सामाजिक–सांस्कृतिक दासता से मुक्ति दिलाना, धार्मिक–सांस्कृतिक कार्यों में पुरोहितों की अनिवार्यता को खत्म करना, शूद्रों–अतिशूद्रों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित करना सत्य शोधक समाज के प्रमुख उद्देश्य थे, ताकि वे उन धर्मग्रंथों को स्वयं पढ़–समझ सकें, जिन्हें उनके शोषण के लिए ही रचा गया है, सामूहिक हितों की प्राप्ति के लिए उनमें एकजुटता का भाव पैदा करना, धार्मिक एवं जाति–आधारित उत्पीड़न से मुक्ति दिलाना, पढ़े–लिखे शूद्रातिशूद्र युवाओं के लिए प्रशासनिक क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना आदि सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख बिंदु थे। जाति प्रथा, पुरोहितवाद, स्त्री–पुरुष असमानता और अंधविश्वास के साथ समाज में व्याप्त आर्थिक–सामाजिक एवं सांस्कृतिक भ्रष्टाचार के विरुद्ध सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता भारत में शताब्दियों से रही है। इन सब से मुक्ति के लक्ष्य को लेकर आधुनिक युग में सार्थक, सशक्त और सफल आंदोलन के रूप में सत्यशोधक समाज की प्रतिष्ठा रही है।

ज्योतिबा फुले

ऐसे कई आंदोलन हुए जिन्होंने जाति आधारित सामाजिक संगठन की मौलिकता पर सवाल उठाए, उनमें से सबसे अधिक चर्चा पश्चिमी भारत के गैर–ब्राह्मणवादी आंदोलनों की होती है। गैर–ब्राह्मणवादी आंदोलन की शुरुआत महाराष्ट्र में महान समाजसेवी, विचारक, लेखक, दार्शनिक और समाज सुधारक ज्योतिराव गोविंदराव फुले के नेतृत्व में हुई, जो माली जाति के थे। इन्हें ज्योतिबा फुले के नाम से भी जाना जाता है। निम्न जाति की महिलाओं में शिक्षा तथा अस्पृश्यता के उन्मूलन के प्रति उनका योगदान महत्वपूर्ण है। सितंबर, 1873 ई. में, फुले ने 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की जिसका उद्देश्य बहुजनों, शूद्रों तथा अतिशूद्रों को उच्च जातियों के शोषण से मुक्त कराना तथा उनकी रक्षा करना था। उन्होंने कई स्कूलों और अनाथालयों की स्थापना की जिनके दरवाजे सभी जातियों के बच्चों और महिलाओं के लिए खुले थे।

ज्योतिबा फुले ने प्राच्यवादियों के द्वारा प्रतिपादित 'आर्यवादी' सिद्धांत की व्याख्या की जिसका प्रभाव लोगों के विचारों पर पड़ा। उनका कहना था कि चूंकि उच्च जाति के नेता आर्य नस्ल के होने की डींग हांकते हैं, इसलिए वे भारत के मूल निवासी नहीं हैं। इसका यह भी अर्थ था कि जाति व्यवस्था विदेश से आई व्यवस्था है। फुले ने आर्यों को आक्रमणकारी और भारत में बहुत बाद में बसने वाला कहा तथा उनकी व्याख्या देसी आबादी को दबाने और देसी संस्कृति को नष्ट करने वालों के रूप में की। उन्होंने इस बात को माना कि निम्न जातियों के पूर्वज ही स्वदेशी यानी इस देश के मूल निवासी थे। इस व्याख्या के अनुसार, गोरी चमड़ी वाले ब्राह्मण आक्रमणकारियों के वंशज हैं, जबकि क्षत्रिय वास्तविक शासक वर्ग हैं। फुले के अनुसार, सत्ता और अवसरों पर एकाधिकार जमाने वाले ब्राह्मण ही शूद्रों और अति शूद्र जातियों की दुर्दशा के

जिम्मेदार हैं। ब्राह्मणों ने ही धर्म की आड़ में दूसरी जातियों को आतंकित किया तथा उन्हें गुलाम बना दिया। इसलिए, अब संतुलन स्थापित करने की आवश्यकता है, तथा उसके लिए एक सामाजिक क्रांति अवश्यंभावी हो गई है। उन्होंने गैर–ब्राह्मण कृषक जातियों के साथ दलित समूहों को मिलाकर एक साझा आंदोलन चलाया।

1857 में फुले की अभिरुचि आर्य समाज के प्रति जगी लेकिन वह कभी उस आंदोलन में शामिल नहीं हुए क्योंकि वह हमेशा ऊंची जाति के नेताओं को संदेह की दृष्टि से देखते थे और पाखंडी मानते थे। बेशक, इन नेताओं ने सामाजिक व्यवस्था के फलस्वरूप होने वाले अत्याचारों का विरोध किया, लेकिन खुद भी वे उन्हीं सामाजिक बंधनों में बंधे थे। उन्होंने कांग्रेस से बराबर दूरी बनाए रखी, जिसे उन्होंने एक विशुद्ध ब्राह्मण आंदोलन के रूप में देखा। उनका तर्क था कि कांग्रेस नेताओं ने कमजोर वर्गों के हितों की अनदेखी की है। उनके विचार में राष्ट्रवाद वह छलावा है जिसे ऊंची जातियों ने पैदा किया ताकि उसके पीछे भारतीय सामाजिक जीवन की कड़वी सच्चाई को छिपाया जा सके।

उन्नीसवीं सदी के अंत तथा बीसवीं सदी की शुरुआत में, फुले ने कुनबी किसानों के उद्धार पर अपना ध्यान केंद्रित किया। कुनबी किसानों पर ध्यान आकृष्ट होने के साथ–साथ मराठा पहचान और विशेषाधिकार की शुरुआत हुई, और उनके क्षत्रिय गुणों को स्थापित किया गया। दूसरे शब्दों में, जहां इस क्षेत्रिय पहचान से ब्राह्मणों के उपदेशों का मुकाबला किया गया जो उन्हें नीच जाति का मानते थे, वहीं दलित समूहों से भी उन्हें अलग किया गया। इसलिए सत्यशोधक समाज उस मंच के रूप में विफल रहा जिस पर सारे गैर–ब्राह्मणवादी समूहों (गैर–आर्य पहचान के मुताबिक) को एकजुट किया जा सके। अब उसका ध्यान मराठों को योद्धाओं के तौर पर अलग पहचान दिलाने पर था। यहां फुले निम्न जाति के लोगों को साथ लेकर चलने के पक्ष में नहीं थे। वे संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में शामिल थे।

आखिरकार सत्यशोधक समाज को मराठा संगठन माना जाने लगा, इसके बावजूद कि इसने शुरुआत में कांग्रेस से खुद को दूर रखा था। आगे चलकर, यह कांग्रेस के साथ मिल गया जिसमें ब्राह्मणों का बाहुल्य था। 1930 के दशक तक, महाराष्ट्र में जारी गैर–ब्राह्मणवादी आंदोलन से गांधी जी की कांग्रेस के साथ जुड़ गए। राष्ट्रवाद की शक्ति तथा कांग्रेस में गैर–ब्राह्मणवादी इच्छाओं को सुर देने की इच्छा के फलस्वरूप विदर्भ में 1938 में एक बड़ा विलय हुआ। बॉम्बे प्रेसिडेंसी के गैर–ब्राह्मण आंदोलन ने कांग्रेस में विलय का फैसला किया, जिससे उसे एक व्यापक जनाधार मिल गया।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत और आधुनिक भारत का जनक किसे कहा जाता है?

   (क) ज्योतिबा फुले को (ख) सावित्री बाई को

   (ग) रमा बाई को (घ) राजा राममोहन राय को

4. स्वामी विवेकानंद का बचपन का नाम क्या था?

   (क) स्वामीनाथ (ख) रामनाथ

   (ग) नरेंद्रनाथ (घ) राजेंद्रनाथ

टिप्पणी

1.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ख)
3. (घ)
4. (ग)

1.5 सारांश

भारतीय राजनीतिक चिंतन की उत्पत्ति एवं विकास का क्रम वैदिक काल से लेकर इस्लामिक शासन काल तक तथा ब्रिटिश औपनिवेशवाद से लेकर अद्यतन उत्तरोत्तर विकासशील रहा है। यद्यपि भारतीय चिंतन को लेकर पाश्चात्य विद्वानों का दृष्टिकोण बहुत अधिक सकारात्मक नहीं रहा है, तथापि भारतीय राजनीति चिंतन न केवल व्यवहारवादी है, बल्कि आधुनिक भी है। भारतीय चिंतन का केंद्र मानव एवं मानव मात्र का विकास है। पाश्चात्य विचारकों की अनेक आलोचनाओं के पश्चात भी भारतीय चिंतन अनवरत 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' पर अग्रसर रहा है।

भारतीय राजनीति चिंतन के अनेक स्रोत हैं। इनमें प्रमुख रूप से प्राचीन रचनाएं जैसे– वेद, पुराण, धर्मसूत्र, उपनिषद, महाकाव्य, लौकिक ग्रंथ आदि प्रमुख हैं। विदेशी पर्यटक विद्वानों के विवरण भी उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। साथ ही साथ कालक्रमानुसार उपलब्ध प्रमुख पुस्तकें जैसे– अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति आदि का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यही नहीं अपितु भारतीय राजनीति चिंतन शिलालेखों, स्तंभलेखों, गुफालेखों और ताम्रलेखों पर भी परिलक्षित होता है। भारतीय राजनीतिक चिंतन व्यापक धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की शुद्धता एवं आध्यात्म पर विशेष बल दिया गया है। साथ ही राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय राजनीतिक चिंतन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। कठोर दंड का विधान है, तो वीरता एवं सौहार्द के लिए पुरस्कार की भी व्यवस्था है। राज्य का व्यापक कार्यक्षेत्र माना गया है। सामाजिक संस्थाओं को अत्यधिक महत्व दिया गया है। संपूर्ण भारतीय राजनीतिक चिंतन न केवल प्राचीन है अपितु अत्यंत व्यावहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का दर्पण सदृश्य दिखता है, तो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप बदलता हुआ भी प्रतीत होता है।

राजनीतिक चिंतन के अध्ययन की दृष्टि से भारतीय पुनर्जागरण की दो स्पष्ट धाराओं की व्याख्या की जा सकती है– सुधारवादी और पुनरावर्तनवादी। सुधारवादी विचारधारा यूरोपीय सामाजिक–सांस्कृतिक मानदंडों से अनुप्रेरित थी और भारतीय समाज को उसी दिशा में ले जाना चाहती थी। पुनरावर्तनवादी विचारकों का प्रेरणा स्रोत देश का स्वर्णिम अतीत था और उनके द्वारा प्रारंभ किए गये सुधारों का लक्ष्य देश में प्राचीन सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना था।

भारतीय पुनर्जागरण की सुधारवादी धारा का प्रतिनिधित्व राजा राममोहन राय और पुनरावर्तनवादी धारा का प्रतिनिधित्व स्वामी विवेकानंद करते हैं। राजा राममोहन राय को भारतीय पुनर्जागरण का अग्रदूत और आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। राजा राममोहन राय का जन्म 22 मई, 1772 को पश्चिम बंगाल के राधा नगर में

टिप्पणी

एक सम्पन्न बंगाली ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने 'आत्मीय सभा' तथा 'ब्रह्मसमाज' की स्थापना की।

राजा राममोहन राय न तो विधर्मी थे और न ही अनीश्वरवादी किन्तु बहुदेववाद, धार्मिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा एवं कट्टरतावाद उन्हें पसंद नहीं थे। राय ने नारी स्वातंत्र्य, नारी अधिकार और नारी शिक्षा पर सर्वाधिक ध्यान दिया और हिंदू नारी के साथ हो रहे अन्याय, अनाचार और अत्याचार की तीव्र भर्त्सना की। सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने व्यापक संघर्ष किया और एक लंबे संघर्ष के पश्चात वे इसे गैर कानूनी घोषित करवाने में सफल हो सके।

स्वामी विवेकानंद ने एक युवा संन्यासी के रूप में भारतीय संस्कृति की महत्ता को जिस प्रभावी ढंग से दुनिया भर में स्थापित किया उसके लिये देश युगों–युगों तक उनका ऋणी रहेगा। स्वामी विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी, 1863 को कलकत्ता में हुआ था। इनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ था। 1 मई, 1897 को विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसकी शीघ्र ही देश–विदेश में अनेक शाखाएं स्थापित हुईं। स्वामी विवेकानंद का दर्शन भारत को उसके पुरातन मूल्यों से अवगत करा कर विश्व गुरू के रूप में स्थापित करने का अतुलनीय प्रयास था।

विवेकानंद राजनीति का आध्यात्मीकरण चाहते थे और यह विश्वास करते थे कि भारत को जगाने का मूलमंत्र है इस देश की गौरवशाली धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं। विवेकानंद एक प्रखर राष्ट्रवादी विचारक थे, किन्तु उनका राष्ट्रवाद कट्टरतावादी नहीं था। वे भारतीय संस्कृति के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श से अनुप्रेरित थे और विश्व बंधुत्व के प्रबल समर्थक थे।

1.6 मुख्य शब्दावली

- **आंतरिक** : अंदरूनी, भीतर का।
- **उजागर** : साक्ष्य रूप से दिखना।
- **पुनरावर्तन** : बार–बार दोहराना।
- **संकीर्ण** : संकुचित, संकरा, तंग।
- **गरिमा** : प्रतिष्ठा, शान, गौरव।
- **प्रदत्त** : दिया गया, प्रदान किया गया।
- **अनुप्रेरित** : प्रेरित करना, प्रेरणा देना।

1.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक चिंतन किस पर आधारित होता है?
2. भारत से इंग्लैंड को हो रहे धन की निकासी को रोकने के लिये राजा राममोहन राय का क्या सुझाव था?

टिप्पणी

3. राजा राममोहन राय विचार ने प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में क्या तर्क दिए?
4. स्वामी विवेकानंद के शिक्षा दर्शन के आधारभूत उद्देश्य क्या हैं?
5. विवेकानंद की स्वतंत्रता की अवधारणा का परिचय दीजिए।
6. विवेकानंद के विश्व बंधुत्व संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. भारतीय राजनीतिक चिंतन का आशय स्पष्ट कीजिए तथा इसके विभिन्न स्रोतों की समीक्षा कीजिए।
2. राजा राममोहन राय के समाज सुधार के प्रयासों की विवेचना कीजिए।
3. राजा राममोहन राय के राजनीतिक विचारों के विकास पर एक निबंध लिखिए।
4. स्वामी विवेकानंद के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिए।
5. स्वामी विवेकानंद के सामाजिक चिंतन पर एक लेख लिखिए।
6. भारतीय पुनर्जागरण में स्वामी विवेकानंद और राजा राममोहन राय के योगदान की तुलनात्मक विवेचना कीजिए।

1.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी ए. और अवस्थी आर. के., *आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन* (नई दिल्लीः रिसर्च पब्लिकेशन, 1997)।
2. ए. आचार्य, *'लिबरलिज्म'*; आर. भार्गव एवं ए. आचार्य (संपा) *पॉलिटिकल थ्योरी : एन इन्ट्रोडक्शन,* (नयी दिल्लीः पियर्सन, 2008) पृ. 236–243।
3. ए. डी. आशीर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्र, *राजनीतिक विज्ञान,* (नई दिल्ली : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1992) 11वां हिन्दी संस्करण।
4. ऐलन रेयान, *'लिबरलिज्म'*; आर. गुडिन एवं पी. पेटिट (संपा). *ए कम्पेनियन टु कंटम्परेरी पॉलिटिकल फिलासफी,* (ऑक्सफोर्डः ब्लैकवेल, 1993) पृ. 360–362।
5. चंद्रा बी, *हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्लीः ओरिएंट ब्लैक्स्वान, 2009)।
6. प्रधान आर सी (2008), *राज टू स्वराज,* नई दिल्ली : मैकमिलन इंडिया लिमिटेड।
7. बारिया धरमपाल, *गोपालकृष्ण गोखले* (दिल्ली : मनोज पब्लिकेशन्स, 2003)।
8. वर्मा वी. पी., *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* (आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, 2009)।

इकाई 2 उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा और क्रांतिकारी राष्ट्रवाद

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा
2.3 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद
  2.3.1 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के कारण
  2.3.2 बाल गंगाधर तिलक
  2.3.3 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद
  2.3.4 वीर सावरकर
  2.3.5 सुभाषा चंद्र बोस
2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.5 सारांश
2.6 मुख्य शब्दावली
2.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

भारत लगभग दो शताब्दियों से औपनिवेशवाद की जंजीरों में जकड़ा रहा था। अन्य दृष्टिकोण से देखें तो सदियों से भारत दासता के बंधन में बंधा हुआ था। इस लंबी दासता के कारण भारतीय जनमानस न केवल सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्तर पर कमजोर हो गया था बल्कि मानसिक स्तर में भी गिरावट आयी थी। किंतु सत्रहवीं–अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक जन आंदोलन हुए तथा भारतीयों में नवजागरण लाने के सतत् प्रयास होते रहे। इसी शृंखला में भारत में उदारवादी एवं चरमपंथी चिंतन के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थिति को परिष्कृत करने के संदर्भ में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी गई।

प्रस्तुत इकाई में उदारवादियों एवं चरमपंथियों की अलग–अलग नीतियों तथा कार्यों के अलावा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- उदारवादियों के दृष्टिकोण से परिचित हो पाएंगे;
- चरमपंथियों की नीतियों एवं उद्देश्यों को समझ पाएंगे;
- उदारवादियों तथा चरमपंथियों के वैचारिक अंतर को जान पाएंगे;
- क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के संघर्ष और महत्व को परख पाएंगे।

टिप्पणी

2.2 उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधारा

उदारवादी एवं चरमपंथी चिंतन ने प्रत्येक संदर्भ में नवीन दिशा प्रदान की। उदारवाद एवं चरमपंथ भारतीय स्वतंत्रता आंदोलनों के प्रारंभिक काल में विशेष तथा पृथक महत्व रखता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना तथा पाश्चात्य शिक्षा नीति ने जिस राजनीतिक चेतना का प्रसार भारत में किया, उदारवाद एवं चरमपंथ उसी संचार का प्रतिस्वरूप है।

इस नवीन चेतना के प्रसार ने भारतीयों को दो वर्गों में विभाजित किया। एक वर्ग इप पाश्चात नीतियों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि इन नीतियों के अतिरिक्त और इन नीतियों के विरुद्ध कुछ अन्य मानने व जानने को तैयार ही नहीं था। वहीं दूसरी ओर भारतीय चिंतकों का एक ऐसा वर्ग था जिसका उद्देश्य पाश्चात्य विचार एवं चकाचौंध को समाप्त कर भारतीय संस्कृति एवं गौरव की पुनर्स्थापना करना था तथा विचारों का भारतीयकरण करना था। तथापि ये दोनों चिंतक अनेक विचारों एवं समस्याओं पर विपरीत दृष्टिकोण रखते हुए भी समान रूप से स्वाधीनता प्राप्ति के लिए दृढ़–संकल्पित रहे। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप दोनों विचारधाराओं में समन्वयन प्रारंभ हुआ तथा इसी समन्वय का परिणाम भारत की स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी माना गया।

उदारवाद एवं चरमपंथ की अवधारणा

यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है कि उदारवाद एवं चरमपंथ ये दोनों ही अभिधान कालवाची अथवा समयवादी कहे जा सकते हैं। जैसा कि बाल गंगाधर तिलक का कथन है, "आज के उदारवादी कल के चरमपंथी थे। इसी प्रकार आज के चरमपंथी कल के उदारवादी हो जाएंगे।" अतः इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदारवादी एवं चरमपंथी दोनों ही विचारधाराएं परिवर्तनशील हैं। जिस प्रकार तिलक ने अपना राजनीतिक जीवन एक उदारवादी के रूप में प्रारंभ किया किंतु समय के साथ ब्रिटिश शासन की नीतियों के प्रति बढ़ते आक्रोश एवं विरोध ने उन्हें चरमपंथी विचारक बना दिया। उदारवाद का तात्पर्य ऐसे वर्ग विशेष से था जो ब्रिटिश नीतियों द्वारा निर्मित व्यवस्था पर अगाध निष्ठा रखता था और जिसे परिवर्तनों में कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी।

भारत में कांग्रेस की स्थापना से लेकर कांग्रेस के विभाजन, पुनर्गठन तक इन्हीं दोनों विचारधाराओं का योगदान रहा। 1905 के बाद उग्रपंथियों द्वारा उदारवादियों को स्पष्ट चुनौती मिली जिसमें उदारवाद के नेतृत्व एवं प्रभुत्व को नकारा गया और परिणामस्वरूप 1907 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस स्पश्ट रूप से दो वर्गों में विभाजित हो गई। 1915 तक उदारवादी एवं चरमपंथी समूह के नाम से ये पृथक–पृथक कार्य करते रहे। 1916 में ऐनीबेसेंट के अथक प्रयासों से इन दोनों विचारधाराओं का पुनः मेल हुआ। उदारवादियों को उग्रवादियों के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति से भी चुनौती मिलने लगी थी और यह शक्ति थी महात्मा गांधी का भारतीय राजनीतिक पटल पर अभ्युदय जो कि एक अखिल भारतीय नेता के रूप में सामने आए तथा आते ही उन्होंने तथा उनके समर्थकों ने लगभग सभी राजनीतिक दलों एवं उनके प्रभाव को पीछे छोड़ दिया।

टिप्पणी

परिणामस्वरूप उदारवादी अथवा नरमपंथियों के प्रभाव में तीव्रता से कमी आयी और नरमपंथियों ने कांग्रेस से पृथक होकर 1918 में 'भारतीय उदारवादी संघ' (इंडियन लिबरल फेडरेशन) नामक दल की स्थापना की। इस फेडरेशन के माध्यम से उदारवादी अपने मित्तवादी सिद्धांतों पर चलते हुए राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी भूमिका का निर्वाह सतत करते रहे। किंतु 1918 के पश्चात कांग्रेस में गांधी के नेतृत्व में इन नरमपंथियों को शिकस्त मिली तथा एक बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में उदारवादी/नरमपंथी की मान्यता समाप्त हो गई। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए उपजे इन दोनों उदारवाद एवं चरमपंथ का पदार्पण एक व्यवस्थित क्रम में ही हुआ।

यह सर्वविदित है कि स्थापना से लेकर अपने प्रारंभिक काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं के प्रभाव में थी। इन उदारवादी या नरमपंथियों का ध्येय भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार लाना था जिसके लिए इन्होंने संवैधानिक साधनों के प्रयोग को सर्वोपरि मान्य किया। इसी के सामानान्तर 1885 से 1905 की कालावधि में भारत तथा विश्व में कतिपय ऐसी घटनाएं घटित हुईं तथा कुछ ऐसी शक्तियां क्रियाशील हुईं जिन्होंने युवा–वर्ग को पूर्ण स्वतंत्रता के लिए प्रेरित एवं अग्रसर किया। इसी के साथ जन–आंदोलन की भावना को जन्म दिया। इन नवगठित शक्तियों ने संवैधानिक प्रक्रिया के अंतर्गत स्वतंत्रता की प्राप्ति को संदेह की दृष्टि से देखा। पूर्ण स्वतंत्रता की मांग तथा उसे प्राप्त करने के लिए जन आंदोलन के मार्ग को अपनाने वाली विचारधारा को ही 'उग्र राष्ट्रीयता', 'चरमपंथ' अथवा 'गरमदल' के नाम से जाना जाता है।

उदारवादी राष्ट्रवादियों के मार्ग से भिन्न ये उग्रराष्ट्रवादी जिन्हें गरमपंथी अथवा अतिवादी कहा गया, अपने विचारों की प्रेरणा भारतीय परंपरा, बौद्धिक साहित्य तथा ऐतिहासिक महापुरुषों से प्राप्त कर रहे थे। इनका एकमात्र उद्देश्य राष्ट्रीय एकता को मजबूत करते हुए ब्रिटिश राज्य से मुक्ति का था तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी प्रकार की कार्यप्रणाली तथा जन–आंदोलनों द्वारा अपनी मांगों को वैध रूप से मान्यता दिलाने के लिए कटिबद्ध थे। क्योंकि जब 1892 के बाद ब्रिटिश शासन द्वारा नरमपंथियों के सुधार प्रस्तावों को नहीं माना गया तब गरमपंथियों को अपने विचारों को व्यापक रूप से क्रियान्वित करने के लिए मौका मिला। 1905 तक दोनों ही विचारधाराओं के द्वारा आंदोलनों को संचालित करने का अवसर मिलता रहा तथा प्रत्यक्ष रूप से विरोधी होते हुए भी परोक्ष रूप से दोनों ने ही राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों के विकास में एक–दूसरे के संपूरक के रूप में भूमिका का निर्वाह किया। एक ओर नरमपंथियों द्वारा आंदोलनों को आरंभिक रूप में ब्रिटिश दमन से बचाया (संवैधानिक दृष्टिकोण के कारण) गया तो वहीं दूसरी ओर गरमपंथियों ने भारतीय जनमानस के क्षीण होते मनोबल एवं आत्मविश्वास को जागृत करने में योगदान दिया, जिस कारण से भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन को दिशा मिली एवं इसका सकारात्मक विकास होता गया।

उदारवादी (नरमपंथी) एवं चरमपंथी दोनों के लक्ष्यों, उद्देश्यों, विचारों, स्रोतों एवं कार्यपद्धति में अंतर था, किंतु दोनों ही विचारधाराएं राष्ट्रवाद एवं स्वाधीनता के लिए समर्पित थीं।

टिप्पणी

उग्रराष्ट्रवाद (चरमपंथी) के उद्भव के कारण एवं विकास

उग्रराष्ट्रवाद का उदय आकस्मिक नहीं था और न ही कोई परिवर्तन विशेष था। यह विभिन्न राजनीतिक घटनाओं, परिस्थितियों तथा शक्तियों का प्राकृतिक परिणाम मात्र था। इस प्रकार उग्रराष्ट्रीयता को हम निम्नलिखित विशेष बिंदुओं के आधारभूत समझ सकते हैं–

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1885 से 1892 तक 7 वर्षों के संवैधानिक सुधार के प्रयत्नों का परिणाम 'भारतीय परिषद अधिनियम' का गठन मात्र था जो कि स्वयं ही त्रुटियों एवं कमियों से भरा हुआ था और राष्ट्रीय कांग्रेस तथा सामान्य जनमानस को संतुष्ट न कर सका। इस अधिनियम के अंतर्गत औपनिवेशिक तथा प्रांतीय विधान परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 6–10 तथा पुनः 10–16 कर दी गई। इनमें से कुछ सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता था। सरकारी बहुमत यथावत ही बना रहा। सदस्यों को वार्षिक बजट पर बहस करने का अधिकार भी दिया गया लेकिन उस पर मतदान एवं संशोधन करने के अधिकार नहीं दिए गए। उनको प्रश्न पूछने का अधिकार तो था किंतु उत्तर से उत्पन्न पूरक प्रश्न पूछने का कोई अधिकार नहीं था। प्राप्त उत्तरों पर भी किसी प्रकार की कोई बहस नहीं कर सकते थे। इस अधिनियम की त्रुटियों के कारण संवैधानिक पद्धति के आधार पर कुछ भी हासिल होने की आशा धूमिल हो गई थी।

इसी असफलता के दौर में कांग्रेस में तथा कांग्रेस के बाहर एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो क्रमिक परिवर्तन की जगह आधारभूत परिवर्तन तथा विनम्रतापूर्वक निवेदन के स्थान पर आंदोलन के मार्ग पर अग्रसर होने पर बल देने वाला था। चरमपंथी 1892 के अधिनियम से पूर्णतः असंतुष्ट थे और उन्होंने इस अधिनियम को भारतीयों का अपमान बताया। सभी परिषदें क्रियाहीन थीं तथा ब्रिटिश शासन पूर्णतः निरंकुश था तथा उदारवादी (नरमपंथी) उनकी कृपा पाने हेतु सिर झुकाए विनम्रता को ओढ़े बैठे थे। जबकि उग्रवादियों की मांग यह थी कि विधान परिषदों में गैर–सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो तथा उन्हें बजट पर मतदान करने एवं इस प्रकार सार्वजनिक कोष पर नियंत्रण का अधिकार रहे। उनका यह नारा था कि– "प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं।"

इसी कालक्रम में बहुत से राष्ट्रीय नेताओं जैसे दादा भाई नौरोजी ने 1904 में, गोपाल कृष्ण गोखले ने 1905 में और लोकमान्य तिलक ने 1906 में कनाडा तथा ऑस्ट्रेलिया के स्वशासित उपनिवेशों के मॉडल पर भारत में स्वशासन की मांग रखना प्रारंभ कर दी। इसी शृंखला में 1893 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी ने ये विचार व्यक्त किए– "1892 के अधिनियम के अनुसार किसी सदस्य को कोई भी प्रस्ताव पारित करने का अधिकार नहीं होगा, न ही वित्तीय विचार विनिमय में सदन का मत विभाजन मांगने का और न ही इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों को समाप्त करने अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार उस सभा को होगा जो कानून तथा नियम बनाने के लिए बुलाई

टिप्पणी

जाएगी। इस प्रकार हम लोग सभी अभिप्राय तथा उद्देश्य के लिए एक ननमानी सरकार के अधीन होंगे।"

इसी के साथ चयन प्रक्रिया अत्यंत असंतोषजनक थी। गोपाल कृष्ण गोखले के कथनानुसार– "अधिनियम की वास्तविक कार्यशीलता से उसके खोखलेपन का ठीक–ठाक ज्ञान हुआ। बम्बई प्रेसीडेंसी को आठ स्थान प्राप्त हुए। भारत सरकार ने नियमों के अनुसार उनमें से दो तो बंबई विश्वविद्यालय तथा नगर निगम को सौंप दिए और एक स्थान दक्कन के सरदारों को दिया। बंबई सरकार ने दो स्थान यूरोपीय व्यापार समुदाय को दे दिए। एक स्थान सिंध के जमींदार को दिया गया और केवल दो स्थान साधारण जनता को मिले।"

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 1982 का अधिनियम कांग्रेस की आशाओं पर कुठाराघात के समान था।

कांग्रेस के आरंभिक नेतागण पाश्चात सभ्यता से प्रभावित थे तथा अपनी मानसिक पृष्ठभूमि के कारण ब्रिटिश शासन को भारतीय हित में मानते थे। किंतु समय के साथ धार्मिक पुनरुत्थान के फलस्वरूप कांग्रेस में ही एक ऐसे वर्ग का जन्म हुआ जो प्राचीन भारतीय संस्कृति, धर्म और सभ्यता के गौरव से परिचित था तथा जिसका विदेशी शासन में कोई विश्वास नहीं था। स्वामी विवेकानंद का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने 1893 के शिकागो धर्म सम्मेलन में हिंदू धर्म के गौरव को विश्व–पटल पर पूरे अभिमान के साथ रखा। इसी धार्मिक पुनरुत्थान के प्रवर्तक अरविंद घोष तथा बाल गंगाधर तिलक जैसे चरमपंथी नेता थे। अरविंद घोष ने अपने कथन में कहा था कि– "स्वाधीनता हमारा लक्ष्य है और हिंदुत्व ही हमारी यह आकांक्षा पूर्ण कर सकता है।"

धार्मिक पुनरुत्थान को दृष्टिगत करते हुए ही तिलक ने हिंदू उत्सवों तथा हिंदू संगठनों पर जोर दिया था। वे चरमपंथी नेता स्वतंत्रता प्राप्ति को ही परम धर्म मानते थे एवं इसकी प्राप्ति के प्रयत्नों को अपना धार्मिक कर्तव्य मानते थे।

शुरुआती काल में भारतीय बुद्धिजीवी नेताओं ने अपने अध्ययन एवं अचूक लेखों द्वारा भारतीय जनता को ब्रिटिश–राज्य के वास्तविक स्वरूप को समझाने का प्रयास किया। उन्होंने आंकड़ों और तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया कि ब्रिटिश शासन और उसकी भारत विरोधी नीतियां ही भारतीय दरिद्रता का मूल कारण है। दादा भाई नौरोजी ने ब्रिटिश शासन की भारत विरोधी नीतियों का पर्दाफाश कर दिया और कहा कि ब्रिटिश राज्य दिन–प्रतिदिन भारतीयों को लूटने में लगा हुआ है तथा अन्योन्य राष्ट्रीय नेताओं, जैसे– गोपाल कृष्ण गोखले, मदन मोहन मालवीय, आनंद चारलू, मुधोतकर, दिनशा वाचा इत्यादि ने ब्रिटिश शासन की पोल खोलकर रख दी तथा यह बताया कि राज्य का वास्तविक रूप केवल शोषक ही है। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने यह स्पष्ट किया कि सेवाओं में भरती के नियम पर ब्रिटिश शासन की कथनी–करनी में जमीन–आसमान का अंतर है। कांग्रेस ने अपने दूसरे ही अधिवेशन में भारतीयों में बढ़ती दरिद्रता पर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए प्रस्ताव पारित किया जो प्रत्येक वर्ष पारित किया जाता था। इस दरिद्रता के लिए भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने सैनिक तथा असैनिक पदों पर ऊंचे–ऊंचे वेतन, गृहशासन के बढ़ते हुए व्यय, भेदभाव पूर्ण

टिप्पणी

आयात–निर्यात नीति, अदूरदर्शी भूमि–कर नीति, भारत की औद्योगिक नीतियों के प्रति उदासीनता तथा भारतीयों को अच्छे पदों और सेवाओं से वंचित रखना इत्यादि तथ्यों को उत्तरदायी ठहराया। रानाडे की 'Essay in Indian Economics' तथा दादा भाई नौरोजी की 'Indian Poverty and Un-British Rule in India (1901)' इत्यादि पुस्तकों ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

कांग्रेस के प्रथम 15–20 वर्ष की उपलब्धियों से युवा–वर्ग संतुष्ट न था। उसका ब्रिटिश न्यायिका एवं नीतियों पर रत्ती भर भी विश्वास नहीं था। ये युवा याचक के रूप में मांगें रखने के विरोधी हो गए और उन्होंने यूरोपीय साम्राज्यवाद को यूरोपीय तरीके से ही समाप्त करने की नीतियों पर बल दिया। लाला लाजपत राय ने 1905 में इंग्लैंड से लौटने पर भारतीयों को इस तथ्य से अवगत कराया कि ब्रिटिश प्रजातंत्र आंतरिक समस्याओं में इतना उलझा हुआ है कि उसके पास भारतीय समस्याओं के लिए कोई समय नहीं था। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रिटिश समाचारपत्र भारतीय पक्ष प्रस्तुत नहीं करते और वहां किसी को भी अपना (भारतीय) पक्ष रखने का अवसर कठिन है। उनका कथन था कि भारतीय यदि स्वतंत्रता चाहते हैं, तो उन्हें स्वयं प्रयास करना होगा एवं अपने समर्पण एवं तत्परता का प्रमाण देना होगा। गरमपंथियों ने नरमपंथियों पर यह आक्षेप लगाया कि उनकी कार्यशैली केवल मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों तक ही सीमित है और उन्हें इस बात का डर है कि यदि जनमानस इस आंदोलन में शामिल हुआ तो उनका आंदोलन ही समाप्त हो जाएगा। उदारवादी दलों पर देशभक्ति के नाम पर ब्रिटिश शासन की चाटुकारिता करने का आरोप लगाया गया। तिलक ने कांग्रेस को 'चापलूसों का सम्मेलन' (Congress of Flatteres) और कांग्रेस के अधिवेशनों को 'छुट्टियों का मनोरंजन' (A Holiday Recreation) कहा। लाला लाजपत राय ने कांग्रेस सम्मेलनों को 'शिक्षित भारतीयों का वार्षिक राष्ट्रीय मेला' (The Annual National Festival of Educated Indians) कहा। ये दोनों ही तत्कालीन कांग्रेस के प्रबल आलोचक थे। तिलक ने यहां तक कहा था कि– "यदि हम वर्ष में एक बार मेढक की तरह टर्राएं तो हमें कुछ नहीं मिलेगा।"

लॉर्ड बेकन का कथन– "अधिक दरिद्रता और आर्थिक असंतोष क्रांति को जन्म देता है" भारतीय चरमपंथ पर पूर्णतया लागू होता है। ब्रिटिश शासन द्वारा 1894 में विदेशी सामान पर आयात कर समाप्त कर दिया था, जिसके कारण देसी सामान महंगा तथा विदेशी सामान सस्ता हो गया था। जिसकी परिणिती 'स्वदेशी आंदोलन' के रूप में हुई। साथ ही शिक्षा संस्थाओं में वृद्धि हुई, जिसके कारण शिक्षित भारतीयों की संख्या में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। किंतु ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयों को उनकी योग्यता के अनुसार पद नहीं दिए जा रहे थे, जिसकी वजह से उनमें अत्यधिक आक्रोश एवं घोर निराशा की भावना भरी थी। इसी कथन को प्रमाणित करते हुए आर. देसाई ने कहा, "भारत में चरमपंथ के उदय का एक प्रमुख कारण शिक्षित बेरोजगारों में बेकारी से उत्पन्न राजनीतिक असंतोष था।"

इसी के साथ उन्नीसवीं सदी के आखिर के वर्षों में भारत की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों में चरमपंथ को बढ़ावा दिया। 1896–97 तथा 1899–1900 के भीषण अकाल तथा महाराष्ट्र के प्लेग महामारी से लाखों–करोड़ों

लोग कालकवलित हो गए। सरकारी व्यवस्थाएं अनियमित, अपर्याप्त तथा खानापूर्ति मात्र थीं। तिलक ने कहा भी था– "सरकारी अधिकारी कठोर तथा भ्रष्ट तथा सहायता की जगह समस्या उत्पन्न करने वाले थे।" तिलक ने यह भी कहा– "प्लेग हमारे लिए सरकारी प्रयत्नों से कम निर्दयी है।" इस दौरान दक्कन में दंगे हो गए और सरकार ने 'लोकमत' तथा दंगों को दबाने का प्रयास किया, लेकिन भारतीय जनमानस ने भारत में पड़ने वाले अकालों को भी सरकार की नीतियों का परिणाम बताया। 1903 में कांग्रेस के अध्यक्ष लालमोहन घोष ने 1902 के दरबार का वर्णन इस प्रकार किया– "एक सरकार द्वारा निर्धन जनता पर भारी कर लगाकर एक बड़े समारोह का मनाना जिसमें आतिशबाजी एवं भव्य दृश्यों पर बेहिसाब रुपए व्यय किए जाएं, जबकि लाखों लोग भूख से मर रहे हैं, इससे अधिक हृदयहीनता और कुछ नहीं हो सकती।"

इस तरह के व्यवहार को जनता सहन नहीं कर पायी और इसके फलस्वरूप भारतीयों में इतना आक्रोश बढ़ गया कि रेण्ड तथा उसके साथी अर्नेस्ट को दो नवयुवकों ने गोली मारकर हत्या कर दी।

चरमपंथी राष्ट्रवाद का एक और कारण अंग्रेजों का भारतीयों के प्रति निम्नता का व्यवहार तथा अंग्रेजी भारतीय समाचारपत्रों में भारतविरोधी दृष्टिकोण का प्रचार–प्रसार था। रोजमर्रा के जीवन में भारतीय जनता को अपमानित करना, ब्रिटिश सैनिकों द्वारा गरीब, भोली–भाली जनता को अकारण मारना, यहां तक कि उनकी मृत्यु तक हो जाती, इसके बदले ब्रिटिश सैनिक दंड से बच जाते या नाममात्र के लिए दंडित होते। लॉर्ड रोनाल्डशे ने अपनी पुस्तक में इस प्रकार की दो घटनाओं का संदर्भ देते हुए कहा है कि इन अपराधों और हत्याओं से दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य यह था कि अंग्रेजी भारतीय समाचारपत्रों के माध्यम से इन कृत्यों को प्रोत्साहित किया जाता था। लाहौर से प्रकाशित 'द सिविल एंड मिलेट्री गजट' तो भारतीयों को खुलकर गालियां देता था। तथा शिक्षित भारतीयों को वर्णसंकर, बी.ए. गुलाम, बी.ए. दास जाति, कलंकी जाति जैसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करता था। इस अपमानजनक बर्ताव पर भारतीयों की प्रतिक्रिया होना नितांत स्वाभाविक था। ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार चरमपंथी राष्ट्रीयता के पनपने का अन्य कारण था। इस दुर्व्यवहार के कारण 1903 में द. अफ्रीका से लौटकर डॉ. मनूजा ने दुखी होकर कहा कि "Our rules do not believe that we are men." भारतीयों द्वारा यह अनुभव किया गया कि उन भारतीयों के साथ भारत राष्ट्र की पराधीनता के कारण ही दुर्व्यवहार किया जा रहा है और इसकी समाप्ति का एकमात्र उपाय भारत के लिए स्वतंत्रता की प्राप्ति है।

चरमपंथी राष्ट्रीयता के प्रबल होने का एक अन्य कारण यह भी था कि जब भारतीयों ने अंग्रेजी भाषा एवं पाश्चात शिक्षा प्रणाली के माध्यम से मैजिनी, बिस्मार्क, गैरीबाल्डी तथा वाशिंगटन का स्वतंत्रता का युद्ध, आयरलैंड का संघर्ष, इंग्लैंड की गौरवपूर्ण क्रांति का इतिहास पढ़ा तो वे भी भारत की स्वतंत्रता की ओर अग्रसर हो गए और चरमपंथी राष्ट्रीयता को इसकी प्राप्ति का मार्ग बना लिया। उग्रराष्ट्रीयता के उदय में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचंद्र पाल तथा अरविंद घोष का नेतृत्व एक महत्वपूर्ण कारक था। ये सभी सच्चे देशभक्त और ब्रिटिश सरकार के कट्टर शत्रु

टिप्पणी

थे। इन नेताओं ने नवगठित उग्रराष्ट्रीय दलों की नीतियों को परिभाषित किया, इनकी आलोचना को व्यक्त किया और इनके कार्यों को मार्गदर्शित किया। तिलक ने यह नारा दिया– "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।" उन्होंने कहा था– "स्वधर्म अथवा स्वशासन सुधार के लिए आवश्यक है। स्वराज के बिना कोई सामाजिक सुधार नहीं हो सकते न कोई औद्योगिक प्रगति, न कोई उपयोगी शिक्षा और न ही राष्ट्रीय जीवन की परिपूर्णता। यही हम चाहते हैं और इसी के लिए ईश्वर ने मुझे संसार में भेजा है।" विपिन चंद्र पाल ने इस दल की मांग की इन शब्दों में व्याख्या की– "देश में नया सुधार (Relorm) नहीं, अपितु पुनर्गठन (Reform) की आवश्यकता है। इंग्लैंड को भारतीय सरकार की नीति निर्माण का आधार छोड़ देना चाहिए। और एक विदेशी सरकार को जो कानून बनाने अथवा अपनी इच्छा से जैसा चाहे शासन करने का अधिकार त्याग देना चाहिए। उन्हें अपनी इच्छा से कर लगाने और अपनी इच्छा से धन व्यय करने का अधिकार भी छोड़ देना चाहिए।"

लाला लाजपत राय ने अपनी सशक्त वाणी में कहा– "अंग्रेज भिखारी से सबसे अधिक घृणा करते हैं और मैं सोचता हूं कि भिखारी घृणा का पात्र है भी। अतः हमारा यह कर्तव्य है कि हम सिद्ध कर दें कि हम भिखारी नहीं हैं।" और इस विचारधारा ने आंदोलन के मार्ग को प्रशस्त किया तथा परिणामस्वरूप पंजाब, महाराष्ट्र, बंगाल तथा अन्य क्षेत्रों में जन–जागृति की अपूर्व लहर दौड़ गई। अपनी बात को पुरजोर तरीके से लाला लाजपत राय ने इस प्रकार कहा– "जैसे दास की आत्मा नहीं होती, उसी प्रकार दास जाति की कोई आत्मा नहीं होती और आत्मा के बिना मनुष्य केवल एक पशु है। इसलिए देश के लिए स्वराज्य परम आवश्यक है और सुधार अथवा उत्तम राज्य इसके विकल्प नहीं हो सकते हैं।"

अरविंद घोष भारत के प्राचीन जीवन को आधुनिक परिस्थितियों में परिपूर्ण होने और राष्ट्रीय गौरव को सतयुग मानते थे जिसमें भारत पुनः एक गुरु और मार्गदर्शक के रूप में अपनी भूमिका निभाए, लोगों की आत्ममुक्ति हो ताकि राजनीतिक जीवन में वेदांत के आदर्श प्राप्त किए जा सकें। यही भारत के लिए सच्चा स्वराज होगा। उनके अनुसार– "राजनीतिक स्वतंत्रता एक राष्ट्र की जीवन श्वास है। बिना राजनीतिक स्वतंत्रता के सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार, औद्योगिक प्रयास, एक जाति की नैतिक उन्नति की बात सोचना मूर्खता की चरम सीमा है।"

इन प्रमुख कारणों के अतिरिक्त भारत में चरमपंथ के उदय के लिए यदि कोई एक कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण है तो वह लॉर्ड कर्जन का प्रतिक्रियावादी शासन काल है। 1899 से 1905 तक भारत के गवर्नर जनरल के रूप में लॉर्ड कर्जन ने ब्रिटिश साम्राज्य के लिए वही कार्य किया जो मुगल साम्राज्य के लिए औरंगजेब ने किया था। कर्जन ने आते ही 1899 में 'कलकत्ता कॉरपोरेशन अधिनियम' पारित कर कॉरपोरेशन में भारतीयों की सदस्यता घटा कर आधी कर दी। इसी तरह 1904 में 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' पारित कर विश्वविद्यालय की सीनेट तथा सिंडीकेट में भारतीयों का प्रतिनिधित्व कम कर दिया। 1904 में 'प्रशासकीय गुप्तता अधिनियम' के द्वारा समाचारपत्रों की स्वतंत्रता को और अधिक सीमित कर दिया गया। 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति पद से दिए गए दीक्षांत भाषण में कर्जन ने कहा

कि "भारतीयों में सत्य के प्रति आस्था नहीं है और वास्तव में भारतवर्ष में सत्य को कभी आदर्श नहीं माना गया है। भारत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है।" इन अपमानजनक शब्दों के विरोध में संपूर्ण भारत एकजुट हो गया। ऐनी बेसेंट के शब्दों में– "सारा भारत एक राष्ट्र के रूप में उठ खड़ा हुआ।" लॉर्ड कर्जन का सर्वाधिक कूटनीतिक कार्य बंगाल का विभाजन था। यह तत्कालीन सभी दलों एवं जनता के विरुद्ध जाकर किया गया। बंगाल का यह विभाजन 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर आधारित था। कर्जन का उद्देश्य बंगाल में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की भावना को कुचल देना था। किंतु इसके विपरीत बंगाल ही नहीं अपितु संपूर्ण भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की अभूतपूर्व भावना का उदय हो गया।

चरमपंथ से उत्पन्न राष्ट्रवाद मानसिक दृष्टि से दासता से पूर्वमुक्ति का प्रतिपादक था। मानसिक दासता से मुक्ति दिलाने के रचनात्मक प्रयासों में उग्रवादियों ने उदारवादियों के 'वंदेमातपितरौ' के विपरीत 'वंतेमातरम्' का उद्घोष किया। उदारवादी एवं उग्रवादियों के इन वैचारिक मतभेदों के चलते 1907 के सूरत कांग्रेस अधिवेशन में कांग्रेस दो वर्गों में विभाजित हो गई– उदारवादी कांग्रेस तथा चरमपंथी कांग्रेस। इनके राजनीतिक लक्ष्यों में भी अंतर था। उदारपंथियों की यह विचारधारा थी कि ब्रिटिश शासन को भारत के हित के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। उनकी मांगें ब्रिटिश शासन से कुछ इस प्रकार की थीं कि जैसे मांगें विदेशी शासक से नहीं स्वशासन से कर रहे हों। वहीं दूसरी ओर उग्रपंथियों का मानना था कि ब्रिटिश शासन का जड़ से खात्मा किया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय चरमपंथी राजनीतिक विचारधारा और लक्ष्य तो उदारवादियों से भिन्न थे ही, इन दोनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंतर साधन से संबंधित था। विपिन चंद्र पाल का कथन था कि– "यदि सरकार मेरे पास आकर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिए धन्यवाद देते हुए कहूंगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।" तिलक का चरमपंथी दृष्टिकोण अत्यंत स्पष्ट था, उनका कहना था कि– "हमारा आदर्श दया–याचना नहीं, आत्मनिर्भरता है।"

उग्रपंथियों ने विदेशी सामान के बहिष्कार और स्वदेशी सामान को अपनाने का आग्रह किया। उग्रवादियों का लक्ष्य विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, सरकार के साथ असहयोग, सरकारी नौकरियों, प्रतिष्ठानों तथा उपाधियों का बहिष्कार था। उनका मानना था कि हर प्रकार का सरकारी बहिष्कार ब्रिटिश शासन पर सीधा और कठोर आघात सिद्ध होगा। लाला लाजपत राय के कथनानुसार– "हम अपने मुख सरकारी भवनों से हटाकर साधारणजनों की कुटियों की तरफ ले जाना चाहते हैं। बहिष्कार आंदोलन का यही मनोवैज्ञानिक, यही नैतिक और यही आध्यात्मिक महत्व है।"

गरमपंथी राष्ट्रीय एवं स्तरीय नेता दृढ़तापूर्वक स्वदेशी को स्वतंत्रता प्राप्ति का मार्ग समझते थे। बाल गंगाधर तिलक ने 'केसरी' में लिखा है– "हमारा राज्य एक वृक्ष की तरह है जिसका मूल तना स्वराज है और स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखाएं हैं।" उन्होंने सरकार नियंत्रित शिक्षा नीतियों के स्थान पर एक राष्ट्रीय शिक्षा योजना बनाई। सर गुरुदास बनर्जी ने बंगाल राष्ट्रीय शिक्षा परिषद का गठन किया। मद्रास में

टिप्पणी

पछैय्या राष्ट्रीय कॉलेज स्थापित हुआ तो वहीं पंजाब में डी.ए.वी. आंदोलन ने जोर पकड़ा।

भारत में उग्र राष्ट्रीयता के जन्मदाता तथा प्रत्यक्षतः राष्ट्र–पीड़ा को समझने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति बाल गंगाधर तिलक थे। डॉ. आर. सी. मजूमदार का कहना है कि– "अपने देशप्रेम तथा अथक प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बाल गंगाधर तिलक 'लोकमान्य' कहलाये जाने लगे और उनकी एक देवता के समान पूजा होने लगी। वह जहां कहीं भी जाते थे, उनका राजकीय सम्मान तथा स्वागत किया जाता था।"

उदारवादी (नरमपंथियों) के उद्‌भव के कारण एवं विकास

उदारवादी विचारधारा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को व्यवस्थित करने का माध्यम थी। उदारवाद ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता को एक ठोस आधार एवं दिशा भी दी। इसके प्रारंभिक नेता कांग्रेस से ही थे, अपितु यदि यह कहा जाए कि कांग्रेस के प्रारंभिक बीस वर्ष की अवधि (1885–1905) को 'उदारवादी राष्ट्रीयता' कहा जाता है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगा। क्योंकि इस समयावधि में कांग्रेस अत्यंत उदारवादी नीतियों पर ही चल रही थी तथा भारतीय कांग्रस के प्रमुख नेतृत्वकर्ता दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दिनशा वाचा तथा सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे उदारवादी नेता थे। उदारवादी राजनीतिक काल स्पष्टतः कुछ निश्चित चरणों में विभाजित था तथा इसका उद्देश्य ब्रिटिश शासन को भारत से उखाड़ फेंकना न होकर उसमें सुधार लाना था। उनका मत था कि संवैधानिक मार्ग को अपनाकर भारतीय हित की समस्त मांगों को प्रार्थना–पत्रों एवं याचिकाओं के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के समक्ष रख कर मनवा लेंगे।

उदारवादी (नरमपंथियों) का यह दृढ़ विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने में समय तो लगेगा किंतु अंत में अन्य उपनिवेशों की भांति भारत भी स्वतंत्र हो जाएगा। इस कारण उन्होंने क्रमशः संवैधानिक सुधारों, प्रशासनिक सुधारों तथा राजनीतिक अधिकारों की मांग रखी। उदारवादी नेताओं को ब्रिटिश शासन व्यवस्था पर अपार विश्वास था। उनका यह मानना था कि यदि भारतीयों की दुर्दशा का समाचार ब्रिटेन तक पहुंच जाएगा तो उन्हें न्याय अवश्य मिलेगा और सब ठीक हो जाएगा।

कांग्रेस का 1885 से 1905 तक का चरण नरमपंथी व्यवस्था के रूप में जाना जाता है। 1905 तक के भारत के राष्ट्रीय आंदोलन पर उन्हीं लोगों का वर्चस्व रहा जो प्रायः नरमपंथी राष्ट्रवादी कहे जाते हैं। इन नरमपंथी विचारकों के राजनीतिक कार्य के दो आयाम थे– पहला, एक ऐसा शक्तिशाली भारतीय जनमत तैयार करना जो राजनीतिक चेतना तथा राष्ट्रीयता की भावना से ओतप्रोत हो तथा दूसरा, उनका मूल भाव राष्ट्रीय ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश जनमत को प्रभावित करना हो। उदारवादियों का यह मानना था कि ब्रिटिश संसद भारतीयों के साथ न्याय तो करना चाहती है, किंतु उन्हें भारतीयों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है। इसलिए वे भारतीय जनमत को ब्रिटिश शिक्षा नीतियों के माध्यम से शिक्षित करना चाहते थे। भारतीय पक्ष को रखने के लिए प्रमुख भारतीय नेतृतव दल को इंग्लैंड भेजा गया और 1889 में भारतीय राष्ट्रीय

टिप्पणी

कांग्रेस की एक ब्रिटिश समिति भी बनाई गई। दादा भाई नौरोजी जैसे उदारवादी नेता ने अपने जीवन तथा आय का एक बड़ा हिस्सा ब्रिटेन में रहकर भारतीयों की मांग को प्रचारित करने में निकाल दिया।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलनों में उदारवादियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण थी। उनका मानना था कि भारत एक नवोदित राष्ट्र है और इसे बहुत ही सावधानीपूर्वक विकास की गति देना है। उन्होंने अपनी आर्थिक तथा राजनीतिक मांगों को यह सोचकर निर्धारित किया कि भारतीय जनमानस को एक साझे आर्थिक–राजनीतिक कार्यक्रम के आधार पर संगठित करना है। उन सभी संभावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए उदारवादियों ने अनवरत, भरसक प्रयास किए किंतु ब्रिटिश शासन टस से मस नहीं हुआ। यह बात स्पष्ट होने पर उदारवादियों ने साम्राज्यवाद की आर्थिक नीतियों की आलोचना करना प्रारंभ किया जो सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्य था। उन्होंने भारत के आर्थिक दोहन की कड़ी निंदा करते हुए इसे 'आर्थिक साम्राज्यवाद' की संज्ञा दी। इसमें नींव के पत्थर का कार्य किया दादा भाई नौरोजी की पुस्तक 'पावर्टी एंड अन–ब्रिटिश रूल इन इंडिया' ने, जिसमें 'धन के निष्कासन का सिद्धांत' प्रस्तुत किया गया था। इसी श्रृंखला में महादेव गोविंद रानाडे तथा रमेश चंद्र दत्त ने संयुक्त रूप से लिखी पुस्तक 'द इकनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में इन आर्थिक नीतियों की व्याख्या की। इन राष्ट्रवादियों का कहना था कि भारत की समृद्धि इंग्लैंड भेजी जा रही है तथा उन्होंने इस अपराध को तत्काल रोकने की मांग की। उदारवादियों ने किसानों, श्रमिकों एवं उपेक्षित वर्ग को न्याय दिलाने हेतु अनेक आंदोलन किए। उदारवादियों की ब्रिटिश शासन के प्रति मांगी गई कुछ मांगें निम्नलिखित प्रकार से हैं–

1. भारत से किए जाने वाले आर्थिक दोहन की समाप्ति,
2. किसानों पर कर (लगान) के बोझ को कम करने के लिए भू–राजस्व में कमी करना,
3. अत्यधिक सैन्य व्यय एवं भारतीय सेना द्वारा विदेशों में ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा के लिए किए जाने वाले अभियानों का भार भारतीय राजस्व पर डाले जाने का विरोध,
4. रेलवे, उद्योगों तथा बागानों में स्वहित के लिए किए जाने वाले विदेशी निवेश का विरोध करना।

इन सभी मांगों को उदारवादी संवैधानिक रूप से मनवाने के पक्षधर थे, किंतु ब्रिटिश शासन की उदासीनता तथा अनदेखी के चलते उदारवादियों ने शनैः–शनैः संवैधानिक सुधारों के लिए प्रयत्न करने प्रारंभ कर दिए। उन्हीं के आंदोलन के दबाव में आकर सरकार को 1892 में 'भारतीय परिषद कानून' पारित करना पड़ा। इसके तहत 'शाही विधायी परिषद' तथा प्रांतीय परिषदों में सदसयों की संख्या बढ़ा दी गई। चरमपंथी 1892 के सुधारों से पूर्णतया असंतुष्ट थे तथा उन्होंने इन सुधारों का मजाक बनाया।

उदारवादियों ने प्रशासनिक सुधारों की मांग को भी दृढ़तापूर्वक रखा। उनका कहना था कि ब्रिटिश अधिकारी प्राप्त वेतन का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने गृह देश

टिप्पणी

ब्रिटेन भेज देता है। इसे उदारपंथियों ने 'धन की निकासी' के रूप में चिह्नित किया तथा भारत के ही प्रशासनिक पदों पर भारतीयों की ही अनुपस्थिति दुर्भावनापूर्ण बताई, क्योंकि यूरोपीय लोगों को इतना अधिक वेतन दिया जाता था कि भारतीय प्रशासन अत्यंत खर्चीला हो जाता था जबकि समान योग्यता वाले व्यक्तियों का अत्यधिक कम वेतन पर रखा जाता था। इसी के साथ उदारवादियों का मानना था कि राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रशासनिक सेवाओं का भारतीयकरण करने से प्रशासन भारतीयों की आवश्यकता के प्रति सजग होगा। भारतीय प्रशासकों को भारतीय जनमानस की समस्याओं का अधिक ज्ञान होने के कारण वे बेहतर प्रशासक सिद्ध होंगे। नैतिक दृष्टिकोण से भी यह आवश्यक है कि भारतीय प्रशासन भारतवासियों के द्वारा ही चलाया जाना चाहिए, अन्यथा उनकी प्रशासनिक योग्यताएं समाप्त हो जाएंगी और वे अपने ही देश में मजदूर बन कर रह जाएंगे।

उदारवादियों द्वारा 'न्यायिक सुधार' की मांग की गई। उनका कहना था कि न्यायिक एवं कार्यकारी अधिकारों को अलग–अलग किया जाए ताकि पुलिस एवं नौकरीशाही की निरंकुशता पर अंकुश लगाया जा सके। साथ ही कानूनी प्रक्रिया में होने वाले विलंब एवं खर्चीली व्यवस्था को समाप्त करने की मांग भी की गई एवं इसके लिए आंदोलन चलाए गए।

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा की मांग को प्रखर करते हुए उन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता को बढ़ाने की मांग की। जैसा कि एडमंड बर्क ने प्रेस को लोकतंत्र का 'चौथा स्तंभ' कहा है। प्रेस की स्वतंत्रता एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एक–दूसरे के पूरक हैं, जो किसी भी समाज के संपूर्ण विकास के लिए अनिवार्य है। उन्होंने नागरिक अधिकारों से संबंधित अनेक अन्य तत्वों की स्वतंत्रता को आवश्यक बताया, जैसे– संगठन बनाने की स्वतंत्रता, एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रवास करने की स्वतंत्रता, भाषण द्वारा विचारों की स्वतंत्रता आदि। 1897 में बाल गंगाधर तिलक की गिरफ्तारी का उदारवादियों ने भी बहुत विरोध किया था। कालांतर में लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं द्वारा नागरिक अधिकारों के विषय को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का अभिन्न अंग घोषित किया गया।

उदारवादियों ने सरकार की विदेश नीति की आलोचना करते हुए यह मांग उठायी कि राज्य की तरफ से कल्याणकारी नीतियां चलायी जाएं। उन्होंने प्राथमिक शिक्षा के और अधिक प्रसार पर जोर देने, तकनीकी एवं उच्च शिक्षा की सुविधा बढ़ाने, सूदखोरों के चंगुल से किसानों को बचाने के लिए कृषि–बैंकों की स्थापना करने, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं को बढ़ाने की मांग की। साथ ही उदारवादियों ने पुलिस व्यवस्था में भी सुधार की मांग की। इस प्रकार उदारवादी नेताओं ने नियमबद्ध प्रक्रिया के द्वारा भारतीयों की सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार तथा धीरे–धीरे क्रमागत व्यवस्था से पूर्ण स्वराज की मांग रखी।

निष्कर्षतः यह स्पष्ट हो जाता है कि उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधाराओं के मध्य कुछ वैचारिक अंतर अवश्य थे, किंतु ये दोनों सच्चे देशभक्त थे और इस प्रकार के दृष्टिकोण के आधार पर वे एक–दूसरे के पूरक थे। श्रीराम नाथ सुमन ने इस संबंध

में 'हमारे राष्ट्र निर्माता' में लिखा है, "जब हम नरम एवं गरम दोनों दलों की प्रवृत्ति का अध्ययन एवं विश्लेषण करते हैं, तो स्पष्ट होता है कि हमारी राष्ट्रीयता के विकास में दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं और दोनों हमारी राजनीति के स्वाभाविक उपकरण हैं। वस्तुतः ये दोनों एक ही आंदोलन के दो पक्ष हैं, एक ही दीपक के दो परिणाम हैं। पहला प्रकाश का द्योतक है, तो दूसरा गर्मी का। पहला बुद्धि पक्ष है, तो दूसरा भाव पक्ष। पहला जहां कुछ सुविधाएं प्राप्त करना चाहता है, वहीं दूसरे का उद्देश्य राष्ट्र में मानसिक परिवर्तन करना है।"

इस प्रकार उदारवाद एवं चरमपंथ की फलित परिणिति ही स्वतंत्र भारत की स्थापना की सुदृढ़ नींव थी।

अपनी प्रगति जांचिए

1. उदारवादी एवं चरमपंथी चिंतन ने प्रत्येक संदर्भ में क्या प्रदान की?
   (क) निराशा (ख) नवीन दिशा
   (ग) पराजय (घ) असफलता
2. किसका उदय आकस्मिक नहीं था और न ही कोई परिवर्तन विशेष था?
   (क) राष्ट्रधर्म का (ख) राष्ट्रगीत का
   (ग) उग्रराष्ट्रवाद का (घ) उदारवादी का

2.3 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद

उन्नीसवीं सदी के अंत तक यह स्पष्ट हो गया कि उदारवादी नेता भारत में अंग्रेजों की नीतियों और प्रशासन में कोई महत्वपूर्ण बदलाव लाने में पूर्णतः असमर्थ रहे थे। इससे देश में तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और एक ऐसा युवा नेतृत्व उभरा जिसका मानना था कि संघर्ष के बिना कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। उनका उदारवादियों की रणनीति– प्रार्थना, याचिका और शांतिपूर्ण जुलूस से विश्वास उठ चुका था और इसलिए उन्होंने अंग्रेजी हुकूमत से टकराव की राह पकड़ी।

2.3.1 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के कारण

सन 1905 में 'बंगाल के विभाजन' और 'स्वदेशी आंदोलन' से भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में नए युग की शुरुआत मानी जाती है। तब भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार विस्तृत हुआ तथा इसका नेतृत्व अपेक्षाकृत अधिक उग्र लोगों के हाथों में आ गया। उसी समय, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में तेज मतभेद भी उभरे जिनकी चरम परिणति देश में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के प्रसार के रूप में देखी गई। क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों का ध्येय स्वराज और स्वदेशी की प्राप्ति था और इसके लिए उन्होंने बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध जैसी रणनीतियों को संघर्ष के साधन के रूप में इस्तेमाल किया। इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के भीतर उग्रपंथियों और उसके बाहर क्रांतिकारियों का उदय हुआ। क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उदय के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे–

टिप्पणी

ब्रिटिश शासन के वास्तविक चरित्र का उजागर होना

नरमपंथियों की राजनीतिक रणनीति इस विश्वास पर आधारित थी कि महज अनुग्रह से ब्रिटिश शासन में सुधार लाए जा सकते हैं। लेकिन राजनीतिक और आर्थिक मसलों पर ज्ञान के प्रसार से यह मान्यता शनैः–शनैः धूमिल होती गई। अंग्रेज भारतीयों की समस्याओं के प्रति न केवल उदासीन बने रहे बल्कि दिनों–दिन उनका व्यवहार 'नस्लीय अहंकार' और 'श्रेष्ठता के सिद्धांतों' से ओत–प्रोत होता गया। इसकी बानगी इस बात से मिलती है कि उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में आए विनाशकारी अकालों ने भारतीय जनमानस को पूरी तरह झकझोर कर रख दिया और 90 लाख से अधिक लोगों को अपने प्राण गवांने पड़े, किन्तु सरकार ने इस स्थिति से निबटने का कोई सार्थक प्रयत्न नहीं किया। वर्ष 1892–1905 के मध्य की राजनीतिक घटनाओं ने भी राष्ट्रवादियों को निराश किया। भारतीय परिषद अधिनियम, 1892 भारतीय जनता की आकांक्षाओं को संतुष्ट करने में विफल रहा। दूसरी ओर लोगों के मौजूदा राजनीतिक अधिकारों पर भी हमला किया गया। सन 1898 में विदेशी सरकार ने एक कानून पारित किया जिसके अनुसार सरकार के विरुद्ध असंतोष की भावना उत्तेजित करना अपराध की श्रेणी में रखा गया। कर्जन प्रशासन के शरारती क़दमों ने राष्ट्रवादियों के गुस्से को आसमान पर पहुंचा दिया। सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से भी अब ब्रिटिश शासन किसी भी तरह से प्रगतिशील नहीं रहा। इस प्रकार इस मान्यता का तेजी से प्रसार हुआ कि भारत की आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति की खातिर स्वशासन अनिवार्य है और देश के विकास में सबसे बड़ा अवरोध है– राजनीतिक दासता।

सामाजिक और धार्मिक जागृति

उन्नीसवीं सदी में प्रारंभ हुए विभिन्न सामाजिक और धार्मिक पुनर्जागरण आंदोलनों ने अपने देश और संस्कृति के प्रति भारतीय जनमानस में न केवल आत्मगौरव बढ़ाया बल्कि 'राष्ट्रीय जागृति' में भी योगदान किया। लोगों ने महसूस किया कि भारत जैसा विशाल देश मुट्ठी भर विदेशियों द्वारा गुलाम बनाया जा सका क्योंकि भारतीय सामाजिक संरचना और संस्कृति में अनेक कमजोरियां मौजूद थीं और विभिन्न समूहों में बंटे हुए भारतीयों में 'फूट डालना और शासन करना' अंग्रेजों के लिए दुष्कर नहीं था। समाज सुधारकों ने न केवल धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया बल्कि विदेशी प्रभुत्व के प्रतिकूल प्रभावों पर प्रकाश भी डाला और इस प्रकार जनता में राष्ट्रवादी भावनाओं का प्रसार किया। इस दृष्टि से स्वामी दयानंद सरस्वती के द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' और स्वामी विवेकानंद के 'रामकृष्ण मिशन' ने अप्रतिम भूमिका निभाई।

जनता को लामबंद करने में कांग्रेस की विफलता

अपने अस्तित्व के पहले बीस वर्षों में कांग्रेस की छवि एक 'विशिष्ट क्लब' की बनी जो भारत के शिक्षित मध्यम वर्ग की आवाज का प्रतिनिधित्व करती थी। पार्टी एक ऐसे संविधान द्वारा संचालित हो रही थी जिसकी प्रकृति अलोकतांत्रिक थी। तिलक द्वारा सन 1899 में कांग्रेस के लिए एक नए संविधान की स्वीकृति हेतु अनेक मसौदे तैयार किए गए तथा उनको स्वीकृति हेतु रखा गया किन्तु उनके ये सारे प्रयास असफल ही रहे। बीसवीं सदी की दहलीज पर कांग्रेस की आर्थिक हालत भी चरमरा गई थी।

कांग्रेस को कुछ राजाओं का संरक्षण प्राप्त था और इसमें कुछ पूंजीपति भी योगदान करते थे किन्तु ये साधन कभी भी पार्टी की गतिविधियों के लिए पर्याप्त नहीं रहे। पश्चिमी उदारवाद से प्रेरित नरमपंथियों के सामाजिक संशोधनवाद भी तत्कालीन लोकप्रिय कट्टरपंथ के विपरीत थे। कांग्रेस वार्षिक सम्मेलनों के आयोजन (जिसे प्रायः 'तीन दिन का तमाशा' करार दिया जाता था) के अतिरिक्त वर्ष भर में शायद ही किसी अन्य राजनीतिक गतिविधि को संचालित करती थी। इस प्रकार नरमपंथियों के नेतृत्व में कांग्रेस आम जनता तक नहीं पहुंच सकी।

क्रांतिकारी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद

राष्ट्रीय आंदोलन में उग्रपंथियों का उदय महज उदारवादियों की विफलताओं के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया नहीं थी। उग्रपंथियों ने उस सांस्कृतिक और बौद्धिक आंदोलन से प्रेरणा प्राप्त की जो वर्षों से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की उदार राजनीतिक विचारधारा के समानांतर पनप रहा था। इस विचारधारा ने प्राचीन भारतीय गौरव का महिमामंडन किया और राष्ट्रवाद की अनुभूति के लिए धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतीकों का इस्तेमाल किया तथा विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए क्रांतिकारी माध्यमों को अपनाने की वकालत की।

उग्रपंथियों ने बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय जैसे लेखकों की साहित्यिक कृतियों और दयानंद सरस्वती तथा स्वामी विवेकानंद जैसे धार्मिक नेताओं से प्रेरणा ली। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने भगवान कृष्ण को एक आदर्श पुरुष और राष्ट्र–निर्माता के रूप में चित्रित किया और श्रीमद्भगवद्गीता गीता के कर्मयोग के संदेश को जीवन की सफलता का मूल मन्त्र बताया। बाद के वर्षों में ये प्रतीक राष्ट्रवादी नेताओं के लिए प्रेरणा के प्रमुख स्रोत बन गए। इसके अलावा उनके उपन्यास आनंदमठ ने भारत में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' के उद्भव को एक नया आयाम प्रदान किया। इतना ही नहीं, उनका गीत 'वंदे मातरम्' जो अपनी मातृभूमि के लिए वंदनास्वरूप लिखा गया था, भावात्मक रूप से हर भारतीय की आत्मा में समा गया।

आतंरिक गुटबाजी

उन्नीसवीं सदी के अंत में भारत में सार्वजनिक जीवन के लगभग हर स्तर पर बड़ी मात्रा में गुटबाजी व्याप्त थी। कुछ इतिहासकारों के अनुसार, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में उग्रपंथ के विकास में इसकी भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। इस गुटबाजी का विश्लेषण करते हुए बंद्योपाध्याय लिखते हैं– "बंगाल में ब्रह्म समाज के भीतर विभाजन था, दो अखबार समूहों– उदारवादी नेता सुरेंद्रनाथ बैनर्जी द्वारा संपादित बंगाली और अपेक्षाकृत उग्रपंथी नेता मोतीलाल घोष द्वारा संपादित 'अमृता बाजार पत्रिका' के मध्य पत्रकारिता की दृष्टि से कड़ी प्रतिद्वंद्विता थी। वहीं बंदे मातरम के संपादकत्व को लेकर एक तरफ अरविंद घोष और दूसरी तरफ बिपिनचन्द्र पाल तथा ब्रह्मबांधब उपाध्याय के गुट में संघर्ष चल रहा था। महाराष्ट्र में 'पूना सार्वजनिक सभा' को नियंत्रित करने के लिए गोखले और तिलक के बीच प्रतियोगिता थी।

सन 1895 में यह संघर्ष उस समय अपने चरम पर पहुंच गया जबकि तिलक ने संगठन पर नियंत्रण स्थापित कर लिया और अगले वर्ष गोखले ने एक प्रतिद्वंद्वी संगठन 'डेक्कन सभा' की शुरुआत की। मद्रास में– मयलापुर गुट, एग्मोर गुट और उपनगरीय अभिजात्य समूहों के बीच आपसी संघर्ष चल रहा था। पंजाब में दयानंद सरस्वती की

टिप्पणी

मृत्यु के पश्चात आर्य समाज 'उदार कॉलेज समूह' और 'पुनरुत्थानवादी उग्रपंथी समूह' में विभाजित हो चुका था। इस प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि कांग्रेस का उदारपंथ और उग्रपंथ में विभाजन वस्तुतः उस दौर में भारत के सार्वजनिक जीवन में मौजूद गुटबंदी की सहज अभिव्यक्ति ही था।"

अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव

उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के प्रारंभ में वैश्विक स्तर की अनेक घटनाओं ने भी भारत में उग्रपंथी राजनीति के विकास को प्रोत्साहित किया। सन 1868 ई. के बाद आधुनिक जापान के उदय ने यह स्पष्ट कर दिया कि एक पिछड़ा हुआ एशियाई देश भी पश्चिमी नियंत्रण के बिना विकास की नई इबारतें लिख सकता है। अत्यंत कम समय में ही जापानी नेताओं ने अपने देश में सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा की शुरुआत की, देश को एक महत्वपूर्ण औद्योगिक और सैन्य शक्ति बनाया तथा एक कुशल आधुनिक प्रशासन विकसित करने में सफलता प्राप्त की। इसके अलावा आयरलैंड, तुर्की और चीन के जनवादी संघर्ष ने भारत के लोगों को अपने राष्ट्रीय संघर्ष को नई ऊचाइयों तक ले जाने के लिए प्रेरित किया। दूसरी ओर 1896 में इथियोपिया की इटली पर विजय तथा 1904 में जापान के हाथों रूस की हार ने 'यूरोप की अपराजेयता' और 'श्वेत प्रजाति की श्रेष्ठता' का मिथक तोड़ते हुए भारत के राष्ट्रवादियों के मध्य के एक अधिक निर्णायक संघर्ष शुरू करने हेतु हौसला बढ़ाया।

2.3.2 बाल गंगाधर तिलक

बाल गंगाधर तिलक जिन्हें प्रायः लोकमान्य तिलक के नाम से जाना जाता है, भारतीय स्वाधीनता संग्राम के एक महान योद्धा थे। तिलक ऐसे पहले राजनीतिज्ञ थे जिन्होंने अपने राजनीतिक आन्दोलनों को शक्तिशाली बनाने के लिए देश के धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रतीकों का खुलकर प्रयोग किया तथा राजनीतिक संघर्ष एवं प्रतिरोध की नई कार्य पद्धति की शुरुआत की जिसकी बुनियाद में स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध जैसी अवधारणाएं थीं। बंग–भंग आन्दोलन के दौरान वह लोकप्रियता के शिखर पर पहुंच गए और उनका राजनीतिक मंत्र 'स्वराज मेरा जन्म–सिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा' देश के चरमपंथी नेताओं और क्रांतिकारियों की जुबान पर रच–बस गया। अपनी लोकप्रियता की वजह से वे 'दक्कन के बेताज बादशाह' कहे जाने लगे। उनकी लोकप्रियता ने अंग्रेज सरकार को भयभीत कर दिया। वैलेंटाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'इंडियन अनरेस्ट' में लोकमान्य तिलक को 'भारतीय अशांति का जनक' कहा तथा ब्रिटिश हुकूमत ने उनपर देशद्रोह का अभियोग चलाया। वहीं दूसरी ओर भारतीय जनमानस में उनकी छवि 'क्रांतिकारी राष्ट्रवाद' के प्रणेता की बनी। महात्मा गांधी ने उन्हें आधुनिक भारत का निर्माता और नेहरू जी ने भारतीय क्रांति के जनक की उपाधि दी।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले में एक सुसंस्कृत, मध्यमवर्गीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। जब तिलक की आयु 16 वर्ष थी तभी उनके पिता श्री गंगाधर रामचंद्र तिलक का निधन हो गया। विपरीत परिस्थितियों के बावजूद तिलक ने अपनी शिक्षा जारी रखी और 'डेक्कन कॉलेज' में दाखिला लिया जहां से उन्होंने सन 1876 में बी.ए. आनर्स की परीक्षा पास

की। सन 1879 में उन्होंने बंबई विश्वविद्यालय से एल.एल.बी. की परीक्षा पास की। इस दौरान वे आगरकर के प्रभाव में आये तथा संकल्प लिया कि वे सरकारी नौकरी स्वीकार नहीं करेंगे तथा नई पीढ़ी को सस्ती और अच्छी शिक्षा प्रदान करने के लिए एक प्राइवेट हाईस्कूल और कॉलेज चलाएंगे। तिलक ने विष्णु कृष्ण चिपलूनकर, एम.बी. नामजोशी, वी.एस. आप्टे और आगरकर की सहायता से 2 जनवरी, सन 1880 को पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' शुरू किया। इसके बाद उन्होंने दो साप्ताहिक समाचारपत्रों, मराठी में 'केसरी' और अंग्रेज़ी में 'द मराठा', के माध्यम से लोगों की राजनीतिक चेतना को जगाने का काम शुरू किया। सन 1884 में उन्होंने पूना में 'डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी' का गठन किया और सन 1885 में 'फर्ग्युसन कॉलेज' की स्थापना की।

सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों पर मतभेद के चलते तिलक ने नवंबर 1890 में सोसाइटी से अपने सभी संबंध समाप्त कर लिए। सन 1889 में उन्होंने कांग्रेस में प्रवेश किया और एक राजनेता के तौर पर कांग्रेस के क्रियाकलापों में उल्लेखनीय भूमिका निभाना प्रारंभ कर दिया। देश में धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से राष्ट्रीयता के प्रसार को लक्ष्य कर उन्होंने 'शिवाजी महोत्सव' और 'गणेश महोत्सव' जैसे आयोजनों की शुरुआत की।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नरम दल के लिए तिलक के विचार ज्यादा ही उग्र थे। नरम दल के लोग छोटे सुधारों के लिए सरकार के पास वफादार प्रतिनिधिमंडल भेजने में विश्वास रखते थे। तिलक का लक्ष्य स्वराज था, छोटे– मोटे सुधार नहीं और उन्होंने कांग्रेस को अपने उग्र विचारों को स्वीकार करने के लिए राज़ी करने का प्रयास किया। इस मामले पर सन 1907 में कांग्रेस के 'सूरत अधिवेशन' में नरम दल के साथ उनका संघर्ष भी हुआ। राष्ट्रवादी शक्तियों में फूट का लाभ उठाकर सरकार ने तिलक पर राजद्रोह और आतंकवाद फैलाने का आरोप लगाकर उन्हें छह वर्ष के कारावास की सजा दे दी और मांडले में निर्वासित कर दिया। 'मांडले जेल' में तिलक ने अपनी महान कृति 'भगवद्गीता – रहस्य' का लेखन शुरू किया, जो हिन्दुओं की सबसे पवित्र पुस्तक का मूल टीका है। तिलक ने भगवद्गीता के इस रूढ़िवादी सार को खारिज कर दिया कि यह पुस्तक संत्रास की शिक्षा देती है; उनके अनुसार, इससे मानवता के प्रति निःस्वार्थ सेवा का संदेश मिलता है। अपने निर्वासन की समाप्ति के पश्चात सन 1914 में वे पुनः राजनीति में कूद पड़े और इंडियन होमरूल लीग की स्थापना की। सन 1916 में वे फिर से कांग्रेस में शामिल हो गए तथा हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हुए ऐतिहासिक लखनऊ समझौते पर हस्ताक्षर किए। 1 अगस्त 1920 को लोकमान्य तिलक का बंबई में निधन हो गया।

एक कुशल राजनीतिज्ञ, प्रखर वक्ता और ओजस्वी पत्रकार होने के साथ ही साथ तिलक एक महान शोधार्थी भी थे। उन्होंने भारत की आध्यात्मिक एवं धार्मिक परम्पराओं की गहन पड़ताल कर पाश्चात्य विचारकों की पूर्वाग्रह पूर्ण अनेक मान्यताओं को चुनौती दी। वेदों के काल–निर्धारण से संबंधित अपने अनुसंधान के परिणामस्वरूप उन्होंने वेदों की प्राचीनता पर एक निबंध लिखा, जो गणित–ज्योतिषीय अवलोकन के प्रमाणों पर आधारित था। उन्होंने इस निबंध का सारांश 1892 ई. में लंदन में आयोजित इंटरनेशनल कांग्रेस ऑफ ओरिएंटलिस्ट के समक्ष भेजा, जो बाद में 'द ओरिऑन' या 'द रिसर्च इनटु द एंटिक्विटी ऑफ द वेदाज़' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। उन्होंने इस पुस्तक में ओरिऑन

टिप्पणी

की ग्रीक परंपरा और 'नक्षत्रपुंज' के संस्कृत अर्थ 'अग्रायण या अग्रहायण' के बीच संबंध को ढूंढ़ा है। क्योंकि अग्रहायण शब्द का अर्थ वर्ष का प्रारंभ है, वे इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद के सभी स्रोत जिनमें इस शब्द का संदर्भ है या इसके साथ जो भी विभिन्न परंपराएं जुड़ी थीं, की रचना ग्रीक लोगों के हिंदुओं से पृथक होने से पूर्व की गई होगी। यह वह समय रहा होगा, जब वर्ष का प्रारंभ सूर्य के ओरिऑन या मृगशिरा नक्षत्रपुंज में रहते समय अर्थात ईसा से 4000 वर्ष पहले हुआ होगा।

सन 1908 से 1914 के मध्य अपने मांडले निर्वासन के दौरान उन्होंने 'गीता रहस्य' और 'द अर्काटिक होम ऑफ वेदाज' की रचना की। 'गीता–रहस्य' श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका है जिसका कि अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। मनुष्य जाति के आदिकालीन इतिहास से संबंधित भूविज्ञान और पुरातत्व की नवीनतम खोजों के विश्लेषण के पश्चात उन्होंने एक अलग तरह की खोज की और अंततः इस नतीजे पर पहुंचे कि वैदिक ऋषियों के पूर्वज हिमानी युग में उत्तर ध्रुवीय क्षेत्र में रहते थे।

तिलक के राजनीतिक चिंतन में प्राचीन भारतीय मान्यताओं के प्रति आग्रह और पाश्चात्य राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक मान्यताओं का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। श्रीमद्भगवद्गीता, वैदिक परंपरा और हिन्दू धार्मिक मान्यताएं उनकी राजनीतिक गतिविधियों की आजीवन प्रेरणा स्रोत रही हैं। छत्रपति शिवाजी महाराज उनके लिए एक आदर्श राजा हैं और गणेश एक महत्वपूर्ण धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रतीक। वहीं स्वतंत्रता संबंधी उनके विचारों में जॉन स्टुअर्ट मिल का प्रभाव भी देखा जा सकता है। राष्ट्रीयता संबंधी उनके विचार मैजिनी और बर्क से मिलते–जुलते हैं। उन्होंने अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन द्वारा प्रतिपादित 'आत्म निर्णय' के सिद्धांत को भी स्वीकार किया तथा इसके भारत में व्यावहारिक प्रयोग की मांग की। इस प्रकार कहा जा सकता है कि तिलक के राजनीतिक विचारों का महल आत्मा की सर्वोच्चता के वेदान्तिक आदर्श की नींव और मैजिनी, बर्क, मिल और विल्सन की अवधारणाओं के स्तंभों से निर्मित हुआ था।

तिलक की राष्ट्रीयता पुनरुत्थानवादी और पुनर्निर्माणवादी थी। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्त्साह ग्रहण करने का सन्देश दिया और भारत की प्राचीन परम्पराओं के आधार पर भारत में राष्ट्रवाद की भावना को जगाने का प्रयत्न किया। तिलक के मत में राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक अवधारणा है। उन्होंने कहा कि प्राचीन काल में आदिम जातियों के मन में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति रहती थी उसी का आधुनिक स्वरूप राष्ट्रवाद है। इस राष्ट्रवाद का संबंध संवेगों और अनुभूतियों से होता है।

प्राचीन काल में जो आत्मीयता एक क्षेत्र विशेष तक सीमित होती थी वह आधुनिक काल में एक बड़े भू–भाग में अनुभव की जाती है। इस प्रकार राष्ट्रवाद का मूल एकता की भावना है। तिलक का विश्वास था कि विभिन्न विचारधाराओं, जाति–भेदों, अस्वस्थ मत–मतान्तरों के रहते देश में राष्ट्रीयता की भावना उस तेजी से नहीं पनप सकती जिस तेजी से यह भाषाई, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समन्वय वाले देश में फैलती है। इसलिए उन्होंने भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए इन तत्वों पर बल दिया और स्वराज के माध्यम से इनकी प्राप्ति की चेष्टा की।

टिप्पणी

लोकमान्य तिलक के क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का सबसे उल्लेखनीय पहलू उनका भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रति अटूट प्रेम था। तिलक स्वयं एक सनातनी हिन्दू थे और उनका राष्ट्रवाद एक धर्मनिष्ठ राष्ट्रवाद था।

अपनी पुरानी परंपरा और संस्थाओं के प्रति उनके आग्रह के सबसे स्पष्ट उदाहरण हैं पुरानी धार्मिक आराधना, गणपति–पूजन और शिवाजी के जीवन से जुड़े प्रसंगों पर महोत्सवों का आयोजन। तिलक का दृढ़ विश्वास था कि पुराने देवताओं और राष्ट्रीय नेताओं की स्वस्थ वंदना से लोगों में सच्ची राष्ट्रीयता और देश–प्रेम की भावना विकसित होगी। विदेशी विचारों और प्रथाओं के अंधानुकरण से नई पीढ़ी में अधार्मिकता पैदा हो रही है और उसका विनाशक प्रभाव भारतीय युवकों के चरित्र पर पड़ रहा है। तिलक का विश्वास था कि अगर स्थिति को इसी प्रकार बिगड़ने दिया गया तो अंततः नैतिक दीवालियेपन की स्थिति आ जाएगी, जिससे कोई भी राष्ट्र उबर नहीं सकता। तिलक के विचार में, भारतीय युवकों को स्वावलंबी और अधिक ऊर्जावान बनाने के लिए उनको अधिक आत्म–सम्मान का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। यह तभी किया जा सकता है, जब उन्हें अपने धर्म और पूर्वजों का अधिक आदर करना सिखाया जाए। अत्यधिक और निरुद्देश्य आत्म आलोचना एक तपस्वी या दार्शनिक के लिए अच्छी हो सकती है, लेकिन व्यावहारिक जीवन में इससे प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है।

किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि तिलक अन्य धर्मों के विरोधी थे। वास्तव में तिलक तो धार्मिक सहिष्णुता के प्रतीक थे जिन्होंने मुसलमानों या अन्य धर्मावलम्बियों से कोई भेदभाव नहीं रखा। एक सच्चे धर्मपरायण व्यक्ति और आध्यात्मिक राष्ट्रवादी नेता की तरह उन्होंने सदैव यही चाहा कि शासन सभी धर्मावलम्बियों के साथ सामान व्यवहार करे और धर्म को एक–दूसरे से लड़ाने के साधन के रूप में प्रयोग न किया जाय। यह असहज नहीं है कि अपने इन्हीं विचारों की वजह से वे 1916 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य समझौता करवाने में सफल हो सके, अली भाइयों ने उन्हें अपना गुरु माना और जिन्ना तक ने उन पर पूर्ण आस्था व्यक्त की।

तिलक पर अकसर सामाजिक सुधारों के मामले में ढोंग और अस्थिरता का आरोप लगाया गया है। किन्तु उनके आक्रमक राष्ट्रवाद में सामाजिक सुधारों का अप्रतिम स्थान है। यह सच है कि उनका समाज सुधार का कार्यक्रम तत्कालीन समय में उदारवादियों के मार्ग से एकदम भिन्न था। जहां उस दौर के उदारवादी सामाजिक प्रश्नों पर ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप और इस सम्बन्ध में कानूनी उपायों के प्रति आग्रह करते थे और औपनिवेशिक सरकार प्रायः राजनीतिक सुधारों के मुद्दों को इस आधार पर पीछे धकेल देती थी कि देश में पहले सामाजिक सुधारों की जरूरत है।

तिलक ने सामाजिक मुद्दों को भारतीय समाज का अंदरूनी मामला माना और इस सन्दर्भ में सुधारों की शुरुआत स्वयं से और शनैः–शनैः करने की जरूरत बताई। वे भारत के सामाजिक प्रश्नों पर औपनिवेशिक सरकार और उसकी नौकरशाही के हस्तक्षेप को अवैधानिक मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पहले राजनीतिक सुधार होने चाहिए, सामाजिक सुधार के मुद्दे देश की जनता स्वयं अपनी पहल पर सुलझा लेगी। उन्होंने अपनी लड़कियों को शिक्षा दी, शास्त्र सम्मत अधिकतम आयु होने तक उनका विवाह स्थगित किया, जाति संबंधी प्रतिबंधों में छूट देने की अपील की और आमतौर पर समाज–सुधार आंदोलन का समर्थन किया। लेकिन इसके बावजूद उन्होंने

टिप्पणी

समाज–सुधार पार्टी की आलोचना की। सतही स्तर पर निरीक्षण करने वालों को उनके व्यवहार में यह विरोधाभास नजर आता है, जबकि उनके विरोधी इसका कारण उनकी सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने की इच्छा बताते थे।

वास्तविकता यह है कि इस विषय में उनका आचरण उनके दृढ़ विश्वास का नतीजा था। वे समाज–सुधार चाहते थे लेकिन उनको उन आदमियों और उनके तरीकों पर, जो समाज सुधार की आवाज उठा रहे थे, विश्वास नहीं था। उनकी राय में पिछली पीढ़ी के समाज–सुधारकों के पास न तो वह योग्यता थी और न वे नैतिक गुण थे, जो सुधार आंदोलन की सफलता के लिए आवश्यक हैं। अतः उनकी आलोचना आमतौर पर उन व्यक्तियों के विरुद्ध होती थी, उन उद्देश्यों के विरुद्ध नहीं होती थी जिसके लिए वे लोग कार्य कर रहे थे। वास्तव में राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों की आलोचना के बारे में उनका सिद्धांत यही था। वे किसी सरकारी कदम का अनुमोदन कर सकते थे लेकिन उस उपाय को लागू करने वाले अधिकारियों की आलोचना करते थे। इसी प्रकार वे किसी सुधार को लागू करने के पक्ष में होते थे लेकिन उन लोगों की आलोचना करते थे, जो इस सुधार के मठाधीश होने का दावा करते थे।

स्वराज

लोकमान्य तिलक का क्रांतिकारी राष्ट्रवाद 'स्वराज' की परिधि के इर्द–गिर्द घूमता है। तिलक की मान्यता थी कि जब तक भारतीयों को स्वराज प्राप्त नहीं होगा, देश का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास संभव नहीं है। स्वराज को वे मानव मात्र का एक मूलभूत अधिकार मानते थे। तिलक ने 'स्वराज' की व्याख्या हिन्दू धर्मशास्त्रों से ग्रहण की जिसके अनुसार यह महज एक राजनीतिक अधिकार ही नहीं बल्कि एक परम धर्म भी है। इस प्रकार तिलक ने स्वराज के नैतिक और आध्यात्मिक पहलुओं की खोज की। उनके अनुसार स्वराज ऐसा जीवन है जो अपने पर ही केन्द्रित है और अपने पर ही निर्भर है। स्वराज इस लोक में भी है और परलोक में भी है। कर्तव्य के नियमों का निर्माण करने वाले ऋषि–मुनि अपने को इसलिए जंगल में ले गए, ताकि वे लोग अपने स्वराज का उपभोग कर सकें। तिलक ने स्वराज को सामाजिक व्यवस्था का आधार बताते हुए कहा कि राष्ट्र की प्रगति का मूल स्वराज में ही निहित है। स्वराज के अभाव में औद्योगिक प्रगति, राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक सुधार आदि कुछ भी संभव नहीं हैं।

उल्लेखनीय है कि तिलक की स्वराज की अवधारणा का आदर्श देश की पूर्ण स्वाधीनता थी किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उन्होंने इसे 'भारत के आतंरिक मामलों के संचालन और प्रबंध के दायित्व भारतीयों के हाथों में होने' की अपनी 'होमरूल' की मांग तक सीमित रखा और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति आस्था प्रकट की।

सन 1905 में बंगाल–विभाजन के पश्चात उपजी असंतोष की ज्वाला ने तिलक को अपने क्रांतिकारी राष्ट्रवाद का बिगुल फूंकने का स्वर्णिम अवसर उपलब्ध कराया। उन्होंने इस अवसर का उपयोग देश में राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने और ऐसे राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का संचालन करने के लिए किया जिसमें सभी वर्ग और जातियों का योगदान हो और जो देश के हर नगर तथा गांव तक व्याप्त हो। हालांकि कुछ ही समय पश्चात गिरफ्तारी और देश से निर्वासन की वजह से उनके इस स्वप्न पर कुछ

टिप्पणी

समय के लिए विराम सा लग गया। अपने स्वराज प्राप्ति के ध्येय की पूर्ति हेतु सन 1916 में उन्होंने 'होमरूल आन्दोलन' की शुरुआत की। स्वराज प्राप्ति के उपाय के रूप में तिलक ने मुख्यतः चार बातों पर बल दिया– स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध।

स्वदेशी

साहित्यिक संदर्भ में शब्द स्वदेश का आशय है– अपना देश और इस तरह स्वदेशी का मतलब है– अपने देश से संबंधित। स्वदेशी का एक महत्वपूर्ण पहलू 'आत्मनिर्भरता' या 'आत्मशक्ति' पर जोर था। आत्मनिर्भरता का अर्थ है– राष्ट्रीय गरिमा, सम्मान और आत्मविश्वास। तिलक ने अपने विचारों तथा कार्यों में जिस स्वदेशी की अवधारणा का प्रतिपादन किया उसमें देश की सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक एवं आर्थिक गरिमा का महत्वपूर्ण स्थान था। इस क्रम में उन्होंने सांस्कृतिक–धार्मिक प्रतीकों का खुलकर इस्तेमाल किया। स्वदेशी उद्योगों को बढ़ावा, राष्ट्रीय शिक्षा संस्थानों की स्थापना और ग्राम–सुधार संगठनों की संरचना जैसे कदम उनकी स्वदेशी की अवधारणा के मूलभूत अंग थे। तिलक के स्वदेशी संबंधी विचारों की मूर्त अभिव्यक्ति का अवसर बंगाल–विभाजन विरोधी में आंदोलन में मिला जो कि औपचारिक रूप से 7 अगस्त 1905 को शुरू किया गया। उस दिन कलकत्ता के टाउन हॉल में विभाजन के खिलाफ एक विशाल प्रदर्शन आयोजित किया गया। प्रांत के विभिन्न भागों में आंदोलन का प्रसार करने के संकल्प के साथ प्रतिनिधिगण टाउन हॉल से बाहर निकले। आन्दोलनकारियों का प्रारंभिक उद्देश्य बंगाल के विभाजन को रद्द करवाना था, लेकिन शीघ्र ही इस आन्दोलन का रुख व्यापक हो गया और स्वदेशी आंदोलन के अंतर्गत राजनीतिक और सामाजिक महत्त्व के अनेक मुद्दों को शामिल कर लिया गया। तिलक ने ही स्वदेशी के उपयोग का आह्वान करते हुए अपील की कि चाहे कुछ भी त्याग करना पड़े, वे स्वदेशी का उपभोग करें। अगर कोई भारतीय वस्तु उपलब्ध न हो तो उसके स्थान पर गैर–ब्रिटिश वस्तु इस्तेमाल में लाएं। उन्होंने लिखा–

"ब्रिटिश सरकार चूंकि भारत में भय से मुक्त है, इससे उसका सिर फिर गया है और वह जनमत की नितान्त उपेक्षा करती है। वर्तमान आन्दोलन से जो एक सार्वजनिक मानसिकता उत्पन्न हो गई है, उससे लाभ उठाकर हमें एक ऐसे केन्द्रीय ब्यूरो का संगठन करना चाहिए जो स्वदेशी माल और गैर–ब्रिटिश माल के बारे में जानकारी एकत्रित करे। इस ब्यूरो की शाखाएं देश भर में खोली जाएं, भाषण और मीटिंगों द्वारा आंदोलन के उद्देश्य की व्याख्या की जाए और नई दस्तकारियां भी लगाई जाएं।"

बहिष्कार

स्वराज प्राप्ति हेतु तिलक द्वारा चिन्हित दूसरी महत्वपूर्ण तकनीक थी– बहिष्कार। इसके अनुसार विदेशी माल के बहिष्कार तथा उसके स्थान पर घरेलू स्वदेशी वस्तुओं और अन्य उद्यमों को बढ़ावा देने की वकालत की गई। सुमित सरकार के अनुसार, स्वदेशी को एक भावना के रूप में परिभाषित किया जा सकता है– 'उपभोक्ताओं द्वारा स्वदेशी सामान को वरीयता प्रदान की जानी चहिये भले ही वे अपने आयातित विकल्प की तुलना में अधिक महंगी और गुणवत्ता में निम्नस्तरीय हों। पूंजीपति लोगों का देशभक्ति की दृष्टि से यह कर्तव्य था कि वे उन उद्योगों को प्रारंभ करें भले ही इसमें उन्हें

टिप्पणी

शुरुआती मुनाफे की गुंजाइश न्यूनतम या नगण्य हो'। भारतवासियों को बहिष्कार का मर्म समझाते हुए तिलक ने 'केसरी' के सम्पादकीय में लिखा था–

"लगता है कि बहुत से लोगों ने बहिष्कार आंदोलन के महत्व को समझा नहीं। ऐसा आंदोलन आवश्यक है, विशेषकर उस समय जब एक राष्ट्र और उसके विदेशी शासकों में संघर्ष चल रहा हो। इंग्लैंड का इतिहास इस बात का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है कि वहां की जनता अपने सम्राट का कैसे नाकों चने चबवाने के लिए उठ खड़ी हुई थी, क्योंकि सम्राट ने उनकी मांगें पूरी करने से इंकार कर दिया था। सरकार के विरुद्ध हथियार उठाने की न हमारी शक्ति है न कोई इरादा है। लेकिन देश से जो करोड़ों रुपयों का निकास हो रहा है, क्या हम उसे बंद करने का प्रयास न करें? क्या हम नहीं देख रहे हैं कि चीन ने अमेरिकी माल का जो बहिष्कार किया था, उससे अमेरिकी सरकार की आंखें खुल गईं। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है कि एक परतंत्र राष्ट्र, चाहे वह कितना ही लाचार हो, एकता साहस और दृढ़ निश्चय के बल पर बिना हथियारों के ही अपने अंहकारी शासकों को धूल चटा सकता है।"

राष्ट्रीय शिक्षा

तिलक एक महान शिक्षाशास्त्री थे और स्वराज प्राप्ति के मार्ग में शिक्षा के महत्त्व को वे भली–भांति समझते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली देश की जड़ों को कमजोर कर रही है जो कि स्वराज के मार्ग का एक प्रमुख रोड़ा है। इसलिए उन्होंने देश में राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति के विकास को महत्वपूर्ण माना। उन्होंने छात्र जीवन में ही संकल्प लिया कि वे सरकारी नौकरी स्वीकार नहीं करेंगे तथा नई पीढ़ी को सस्ती और अच्छी शिक्षा प्रदान करने के लिए एक प्राइवेट हाईस्कूल और कॉलेज चलाएंगे। अपने साथियों के सहयोग से तिलक ने 2 जनवरी, सन 1880 को पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' शुरू किया। सन 1884 में उन्होंने पूना में 'डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी' का गठन किया और सन 1885 में 'फर्ग्युसन कॉलेज' की स्थापना की। तिलक के राष्ट्रीय शिक्षा संबंधी विचारों की उल्लेखनीय विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा की आवश्यकता– तिलक के अनुसार– पढ़ना–लिखना सीख लेना ही शिक्षा नहीं है, शिक्षा वही है जो हमें जीवकोपार्जन के योग्य बनाए, देश का सच्चा नागरिक बनाए, हमें हमारे पूर्वजों के ज्ञान और अनुभव से अवगत कराये। उनका कहना था कि स्कूलों और कॉलेजों में जो पाठ्यपुस्तकें प्रचलित हैं उनसे शिक्षा का मर्म छात्रों को ज्ञात नहीं हो पाता। उदाहरण के तौर पर हमें यह ज्ञात नहीं हो पाता कि आयात और निर्यात की शोषक नीति द्वारा अंग्रेज भारत को गरीब बना रहे हैं और भारतीयों की जीविका छीन रहे हैं। दूसरे देशों में औद्योगिक व प्राविधिक शिक्षा पाठ्यक्रम का महत्वपूर्ण अंग होती है, पर भारतीय शिक्षण संस्थाएं केवल घटिया अफसर पैदा करने के लिए बनी हैं। अतः राष्ट्रीय शिक्षा के अंतर्गत औद्योगिक एवं प्राविधिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

धार्मिक शिक्षा का आग्रह– तिलक की राष्ट्रीय शिक्षा का दूसरा महत्वपूर्ण अंग था धार्मिक शिक्षा का आग्रह। तिलक के मत में किसी को अपने धर्म पर अभिमान कैसे हो सकता है, यदि वह उससे अनभिज्ञ है? धार्मिक शिक्षा का अभाव ही इस बात का एकमात्र कारण है कि देश भर में ईसाई मिशनरियों का प्रभाव बढ़ रहा है। तिलक इस

टिप्पणी

बात से कदापि सहमत नहीं थे कि धर्म फसाद की जड़ है बल्कि तिलक के अनुसार धार्मिक शिक्षा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा झगड़ों और आपसी मतभेदों को दूर किया जा सकता है।

उनकी यह मान्यता थी कि यदि हिन्दुओं को सच्चे हिन्दू धर्म और मुसलमानों को सच्चे इस्लाम की शिक्षा दी जाए तो उनमें एक–दूसरे के धर्म के प्रति सहिष्णुता का प्रसार होगा।

स्वतंत्र देशों जैसी शिक्षा प्रणाली पर बल– तिलक का कहना है कि भारतीय स्कूलों व कॉलेजों में स्वतंत्र देशों जैसी शिक्षा प्रणाली लागू की जानी चाहिए। इससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिल जाएगी। इसलिए उन्होंने कहा कि हमें अपने स्कूल स्वयं स्थापित करने चाहिए और अपना काम निःस्वार्थ भाव से शुरू करना चाहिए।

तिलक ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने की आवश्यकता पर बल दिया। वे कहते थे– "आज जो व्यक्ति अंग्रेजी सीख लेता है वही शिक्षित माना जाता है किन्तु किसी भाषा का ज्ञान हो जाना ही सच्ची शिक्षा नहीं है। किसी विदेशी भाषा को सीखने की ऐसी बाध्यता भारत के अतिरिक्त किसी अन्य देश में नहीं है। मातृभाषा के माध्यम से जो शिक्षा 7–8 वर्ष में प्राप्त की जा सकती है उसमें अब 20–25 वर्ष लग जाते हैं। अंग्रेजी तो हमें सीखनी ही है, पर उसकी शिक्षा अनिवार्य करने का कोई कारण नजर नहीं आता। मुस्लिम राज में हमें फ़ारसी सीखनी होती थी किन्तु उसे सीखने की कोई बाध्यता नहीं थी।"

तिलक भाषाई विवादों को देश की एकता के लिए खतरनाक मानते थे और एक राष्ट्रभाषा की आवश्यकता पर बल देते थे। वे संभवतः ऐसे पहले महत्वपूर्ण नेता थे जिन्होंने देवनागरी लिपि और हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का सुझाव दिया।

निष्क्रिय प्रतिरोध

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक कांग्रेस में उदारवादियों का वर्चस्व था जो कि संवैधानिक–प्रार्थना–पत्र, याचिका एवं शांतिपूर्ण प्रदर्शन जैसी तकनीकों पर विश्वास करते थे। इन तकनीकों के कारण वे संविधानवादी भी कहलाते थे। तिलक ने इसके स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध की वकालत की। सन 1902 में उन्होंने कहा– "दलित तथा उपेक्षित होने पर भी यदि आप चाहें तो प्रशासन के संचालन को असंभव बनाने की अपनी शक्ति के प्रति जागरूक हो सकते हैं। किन्तु उनके निष्क्रिय प्रतिरोध का आशय हिंसा का प्रयोग नहीं है।"

तिलक सामान्य तौर पर तो अहिंसा को ही वरेण्य मानते थे और हिंसा उनकी दृष्टि में भी पाप ही थी लेकिन उनकी मान्यता है कि यदि निष्काम भाव के साथ हिंसा हो तो उसे पाप नहीं माना जा सकता। वे कर्मयोग की व्याख्या करते हुए बताते हैं– "गीता में जिस निष्काम कर्म का उपदेश किया गया है, उसका अर्थ है वैयक्तिक स्वार्थ और रागद्वेषादि से ऊपर उठकर फलाशा त्यागकर किया जाने वाला कर्म।"

तिलक मानते हैं कि निष्काम कर्म का प्रयोजन लोक–संग्रह है और यदि इस लोक–संग्रह में हिंसा हो भी तो उसके शुभ–अशुभ फल का बंधन नहीं होता। यह एक प्रकार की निष्काम हिंसा है। इसी तरह तिलक यह तो मानते थे कि दुष्टता का प्रतिकार

टिप्पणी

यदि साधुता से हो सकता हो तो पहले वही करना चाहिए लेकिन यदि उसमें सफलता न मिले तो जैसे को तैसा बन कर दुष्टता का निवारण करना भी धर्मसम्मत है। इस प्रकार, तिलक हिंसा को प्रोत्साहित नहीं करते किन्तु वे इसे सर्वथा त्याज्य भी नहीं मानते।

2.3.3 क्रांतिकारी राष्ट्रवाद

भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष की कहानी ऐसे व्यक्तियों के प्रयासों के वर्णन के बगैर अधूरी रहेगी जिनका यह मानना था कि स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। स्वतंत्रता भीख में नहीं मिलती बल्कि इसकी प्राप्ति हेतु कीमत चुकानी पड़ती है और इस कीमत में प्राण देना और लेना दोनों शामिल हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु हिंसक मार्ग भी अपनाना पड़े तो वह सही है जैसेकि कहा भी गया है– 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' अर्थात "दुष्ट के साथ दुष्टातापूर्ण व्यवहार सर्वथा उचित है"। ऐसे ही कांटे से कांटा निकालने की विचारधारा वाले स्वतंत्रता सेनानियों को क्रांतिकारी कहा गया है।

भारत माता को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त करवाने हेतु अनगिनत क्रांतिकारियों ने अपना जीवन देश के लिए बलिदान किया है। भारत को स्वतन्त्र करने के प्रयासों और देशवासियों के ह्रदय में स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु अपना सर्वस्व बलिदान कर देने की भावना का संचार करने में क्रांतिकारियों का विशेष योगदान है। आमजन ऐसे नायकों से तब भी और आज भी स्वयं को प्रेरित पाते हैं। अपने जीवन को देश हेतु समर्पित कर देने वाले कुछ क्रांतिकारियों का जीवनवृत्त निम्नानुसार प्रस्तुत है–

क्रांतिकारी चंद्रशेखर आजाद

'आजाद' शब्द सामने आते ही अपनी मूछों को ताव देता वह नौजवान आंखों के सामने आ जाता है, जिसे पूरी दुनिया चंद्रशेखर आजाद के नाम से जानती है। एक युवा क्रांतिकारी जिसने अपने देश के लिए हंसते–हंसते प्राण उत्सर्ग कर दिए। जो स्वतंत्रता की अपनी लड़ाई के अंत तक आजाद ही रहा। दुनिया में जिस सरकार का सूर्य अस्त नहीं होता था वह शक्तिशाली सरकार भी उसे कभी बेड़ियों में जकड़ नहीं पाई। चंद्रेशेखर हमेशा आजाद ही रहे, अपनी आखिरी सांस तक।

शुरुआती जीवन और निशानेबाजी का शौक

चंद्रशेखर आजाद का जन्म 23 जुलाई, 1906 को मध्यप्रदेश के भाबरा गांव में हुआ था। उनके सम्मान में अब इस गांव का नाम बदलकर चंदशेखर आजाद नगर कर दिया गया है। मूल रूप से उनका परिवार उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के बदरका गांव से था लेकिन पिता सीताराम तिवारी को अकाल के कारण अपने पैतृक गांव को छोड़कर मध्यप्रदेश के भाबरा का रुख करना पड़ा। यह भील जनजाति बहुल इलाका है और इसी वजह से बालक चंद्रशेखर को भील बालकों के साथ धनुर्विद्या और निशानेबाजी करने का खूब मौका मिला और निशानेबाजी उनका शौक बन गया। बालक चंद्रशेखर बचपन से ही विद्रोही स्वभाव का था। पढ़ाई से ज्यादा उनका मन खेल की गतिविधियों में लगता था। फिर वह घटना घटी जिसने पूरे हिंदुस्तान को हिला कर रख दिया। जलियांवाला बाग हत्याकांड ने बालक चंद्रशेखर को झकझोर कर रख दिया और उन्होंने ईंट का जवाब पत्थर से देने की ठान ली।

टिप्पणी

मेरा नाम आजाद है

वैसे तो पण्डित चंद्रशेखर तिवारी को उनके दोस्त पंडितजी, बलराज और क्विक सिल्वर जैसे कई उपनामों से बुलाते थे, लेकिन 'आजाद' उपनाम सबसे खास था और चंद्रशेखर को पसंद भी था। उन्होंने अपने नाम के साथ तिवारी की जगह आजाद लिखना पसंद किया। चंद्रशेखर को जाति बंधन भी स्वीकार नहीं था। आजाद उपनाम कैसे पड़ा, इस सम्बन्ध में भी एक रोचक उपकथा विख्यात है। हालांकि इस कथा का पंडित जवाहर लाल नेहरू ने जिक्र किया है लेकिन यह शुरूआती दौर से ही उनके बारे में सुनी–सुनाई जाती रही है।

1921 में असहयोग आंदोलन अपने चरम पर था और बालक चंद्रशेखर एक धरने के दौरान गिरफ्तार कर लिया गया और मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत किया गया। पारसी मजिस्ट्रेट मिस्टर खरेघाट अपनी कठोर सजाओं के लिए जाना जाता था। उन्होंने कड़क कर चंद्रेशेखर से पूछा– "क्या नाम है तुम्हारा?" चंद्रशेखर ने संयत भाव से उत्तर दिया– "मेरा नाम आजाद है"। मजिस्ट्रेट ने दूसरा प्रश्न किया– "तुम्हारे पिता का क्या नाम है?" आजाद का जवाब फिर लाजवाब था। उन्होंने कहा– "मेरे पिता का नाम स्वाधीनता है" एक बालक के उत्तरों से चकित मजिस्ट्रेट ने तीसरा प्रश्न किया– "तुम्हारी माता का नाम क्या है?" आजाद का जवाब था– "भारत मेरी मां है और जेलखाना मेरा घर है"। बस फिर क्या था गुस्साए मजिस्ट्रेट ने चंद्रशेखर को 15 बेंत लगाने की सजा सुना दी।

बालक चंद्रशेखर को 15 बेंत लगाई गई लेकिन उन्होंने उफ्फ तक न किया। हर बेंत के साथ उन्होंने भारत माता की जय का नारा लगाया। सजा भुगतने के एवज में उन्हें तीन आने दिए गए जो वे जेलर के मूंह पर फेंक आए। इस घटना के बाद लोगों ने उन्हें आजाद बुलाना शुरू कर दिया।

क्रांति की शुरुआत

जलियांवाला बाग कांड के बाद चंद्रशेखर को समझ में आ गया कि आजादी बातों और प्रार्थनाओं से नहीं बल्कि बंदूक से मिलेगी। हालांकि उन दिनों महात्मा गांधी और कांग्रेस का अहिंसात्मक आंदोलन अपने चरम पर था और पूरे देश में उन्हें भारी समर्थन मिल रहा था। ऐसे में हिंसात्मक गतिविधियों के पैरोकार कम ही थे। चंद्रशेखर आजाद ने भी महात्मा गांधी द्वारा चलाए जा रहे असहयोग आंदोलन में हिस्सा लिया और सजा पाई लेकिन चौरी–चौरा कांड के बाद जब आंदोलन वापस लिया गया तो 'आजाद' का कांग्रेस से मोहभंग हो गया। चंद्रशेखर आजाद ने बनारस का रुख किया।

बनारस उन दिनों भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों का केन्द्र हुआ करता था। बनारस में वह देश के महान क्रांतिकारी मन्मथनाथ गुप्त और प्रणवेश चटर्जी के सम्पर्क में आए। इन नेताओं से वे इतने प्रभावित हुए कि वे क्रांतिकारी दल 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ' के सदस्य बन गए। इस दल ने शुरू में गांवों के उन घरों को लूटने की कोशिश की जो गरीब जनता का खून चूस कर पैसा जोड़ते थे लेकिन दल को जल्दी ही समझ में आ गया कि अपने लोगों को तकलीफ पहुंचा कर वे जनमानस को कभी अपने पक्ष में नहीं कर सकते थे। अतः दल ने अपनी गतिविधियों को बदला और अब उनका उद्देश्य केवल सरकारी प्रतिष्ठानों को नुकसान पहुंचा कर अपनी क्रांति के लक्ष्यों को प्राप्त करना

टिप्पणी

बन गया। दल ने सारे देश को अपने उद्देश्यों से परिचित करवाने हेतु अपना प्रसिद्ध पैम्फलेट 'द रिवाल्यूशरी' प्रकाशित किया। इसके बाद उस घटना को अंजाम दिया गया, जो भारतीय क्रांति के इतिहास के अमर पन्नों में सुनहरे शब्दों में दर्ज है– 'काकोरी कांड'।

काकोरी कांड और कमांडर इन चीफ

काकोरी कांड से कौन परिचित नहीं है जिसमें देश के महान क्रांतिकारियों रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकउल्ला खां, राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी और ठाकुर रोशनसिंह को फांसी की सजा सुनाई गई थी। दल के दस सदस्यों ने इस सरकारी खजाने से भरी ट्रेन लूट को अंजाम तक पहुंचाया और अंग्रेजों के खजाने को लूट कर उनके सामने चुनौती पेश की। इस घटना के बाद दल के ज्यादातर सदस्य गिरफ्तार कर लिए गए। दल बिखर गया। 'आजाद' के सामने एक बार फिर दल खड़ा करने का संकट आ गया। कई प्रयासों के बावजूद अंग्रेज सरकार उन्हें पकड़ने मे असफल रही थी। इसके बाद छुपते–छुपाते आजाद दिल्ली पहुंचे जहां के फिरोजशाह कोटला मैदान में सभी बचे हुए क्रांतिकारियों की गुप्त सभा आयोजित की गई। इस सभा में 'आजाद' के अलावा महान क्रांतिकारी भगतसिंह भी शामिल हुए। तय किया गया कि एक नये नाम से नये दल का गठन किया जाए और क्रांति की लड़ाई को आगे बढ़ाया जाए। नये दल को नाम दिया गया– 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशना'। आजाद को इसका कमाण्डर इन चीफ बनाया गया। संगठन का प्रेरक वाक्य बनाया गया– 'हमारी लड़ाई आखिरी फैसला होने तक जारी रहेगी और वह फैसला है जीत या मौत'।

सांडर्स की हत्या और असेम्बली में बम

दल ने सक्रिय होते ही कुछ ऐसी घटनाओं को अंजाम दिया कि अंग्रेज सरकार एक बार फिर उनके पीछे पड़ गई। लाला लाजपत राय की मौत की बदला लेने के लिए भगतसिंह ने सांडर्स की हत्या का निश्चय किया और चंद्रशेखर आजाद ने उनका साथ दिया। इसके बाद आयरिश क्रांति से प्रभावित भगतसिंह ने असेम्बली में बम फोड़ने का निश्चय किया और आजाद ने फिर उनका साथ दिया। इन घटनाओं के बाद अंग्रेज सरकार ने इन क्रांतिकारियों को पकड़ने में पूरी ताकत लगा दी और दल एक बार फिर बिखर गया। 'आजाद' ने भगतसिंह को छुड़ाने की कोशिश भी की लेकिन सफलता हाथ नहीं लगी। जब दल के लगभग सभी लोग गिरफ्तार हो चुके थे, तब भी 'आजाद' लगातार ब्रिटिश सरकार को चकमा देने में कामयाब रहे थे।

अल्फ्रेड पार्क और आजाद योद्धा

अंग्रेज सरकार ने भगतसिंह, राजगुरू और सुखदेव को फांसी की सजा सुनाई। 'आजाद' इस कोशिश में थे कि उनकी सजा को किसी तरह कम या उम्रकैद में बदलवा दी जाए। ऐसे ही एक प्रयास के लिए वे इलाहाबाद पहुंचे। इसकी भनक पुलिस को लग गई और जिस अल्फ्रेड पार्क में वे थे, उसे हजारों पुलिस वालों ने घेर लिया और उन्हें आत्मसमर्पण के लिए कहा लेकिन आजाद ने लड़ते हुए शहीद हो जाना ठीक समझा। जब उनके पास आखिरी एक गोली बची तो उन्होंने उससे स्वयं के प्राण लेकर अपनी कथनी को सच साबित कर दिया कि " 'आजाद' आजाद ही पैदा हुआ था और आजाद ही मरेगा"। उनका अंतिम संस्कार भी अंग्रेज सरकार ने बिना किसी सूचना के कर

दिया। लोगों को मालूम पड़ा तो लोग सड़कों पर उतर आए, ऐसा लगा जैसे गंगा जी संगम छोड़कर इलाहाबाद की सड़कों पर उतर आई हों। लोगों ने उस पेड़ की पूजा शुरू कर दी, जहां इस महान क्रांतिकारी ने अतिम सांस ली थी। उस दिन पूरी दुनिया ने देखा कि भारत ने अपने नायक को किस तरह अंतिम विदाई दी है।

क्रांतिकारी भगत सिंह

भारत के महान स्वतंत्रता संग्राम सेनानी शहीद भगत सिंह भारत देश की महान विभूति हैं। मात्र 23 साल की उम्र में इन्होंने देश के लिए अपने प्राण न्योछावर कर दिए। भारत की आजादी की लड़ाई के समय भगत सिंह सभी नौजवानों के लिए यूथ आइकॉन थे, जो उन्हें देश के लिए आगे आने को प्रोत्साहित करते थे। भगत सिंह सिख परिवार में जन्मे थे, बचपन से ही उन्होंने अपने आस पास अंग्रेजों को भारतीयों पर अत्याचार करते देखा था जिससे कम उम्र में ही देश के लिए कुछ कर गुजरने की बात उनके मन में बैठ चुकी थी। उनका सोचना था कि देश के नौजवान देश की काया पलट सकते है इसलिए उन्होंने सभी नौजवानों को एक नई दिशा दिखाने की कोशिश की। भगत सिंह का जीवन छोटा किन्तु संघर्षपूर्ण रहा, उनके बलिदान से आज के नौजवान भी प्रेरणा ग्रहण करते है।

भगत सिंह का आरंभिक जीवन

भगत सिंह का जन्म सिक्ख परिवार में हुआ था। जन्म के समय उनके पिता किशन सिंह जेल में थे। भगत सिंह ने बचपन से ही अपने घर वालों में देश भक्ति देखी थी। इनके चाचा अजीत सिंह बहुत बड़े स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे जिन्होंने 'भारतीय देशभक्ति एसोसिएशन' भी बनाई थी, इसमें उनके साथ सैयद हैदर रजा थे। अजित सिंह के विरुद्ध अंग्रेज सरकार के 22 केस दर्ज थे, जिससे बचने के लिए उन्हें ईरान जाना पड़ा। जिसदिन भगत सिंह का जन्म हुआ, उनके पिता और चाचा जेल से रिहा होकर घर आये थे अतः उनकी दादी ने उन्हें "भागों वाला" (भाग्यवान) कहा और इस प्रकार उनका नाम भगत सिंह हो गया। भगत के पिता ने उनका दाखिला दयानंद एंग्लो वैदिक हाई स्कूल में कराया था। 1919 में हुए जलियांवाला बाग हत्याकांड से भगत सिंह बहुत दुखी हुए थे और महात्मा गाँधी द्वारा चलाए गए असहयोग आन्दोलन का उन्होंने खुलकर समर्थन किया था। भगत सिंह खुले आम अंग्रेजों को ललकारा करते थे और गाँधी जी के कहे अनुसार ब्रिटिश किताबों को जला दिया करते थे। चौरी–चौरा में हुई हिंसात्मक गतिविधि के चलते गाँधी जी ने असहयोग आन्दोलन बंद कर दिया था। भगत सिंह उनके फैसले से खुश नहीं थे और उन्होंने गाँधी जी की अहिंसावादी बातों को छोड़ किसी अन्य दल से जुड़ने का विचार किया।

भगत सिंह लाहौर के नेशनल कॉलेज से बीए कर रहे थे, तब उनकी मुलाकात सुखदेव थापर, भगवती चरण तथा अन्य लोगों से हुई। आजादी की लड़ाई उस समय जोरों पर थी। देशप्रेम में भगत सिंह ने अपनी कॉलेज की पढाई छोड़ दी और आजादी की लड़ाई में कूद गए। इसी दौरान उनके घर वाले उनकी शादी का विचार कर रहे थे। भगत सिंह ने शादी से इंकार कर दिया और कहा "अगर आजादी के पहले मैं शादी करूँ, तो मेरी दुल्हन मौत होगी"। कॉलेज में भगत सिंह बहुत से नाटकों में भाग लिया करते थे। वे बहुत अच्छे एक्टर थे। उनके नाटक, स्क्रिप्ट देशभक्ति से परिपूर्ण होते थे, जिसमें वे कॉलेज के नौजवानों को आजादी के लिए आगे आने को प्रोत्साहित करते थे,

साथ ही अंग्रेजों को नीचा दिखाया करते थे। भगत सिंह बहुत मस्त मौला इन्सान थे, उन्हें लिखने का भी बहुत शौक था। कॉलेज में उन्हें निबंध लेखन में भी बहुत से इनाम मिले थे।

टिप्पणी

स्वतंत्रता की लड़ाई

भगत सिंह ने सबसे पहले 'नौजवान भारत सभा' ज्वाइन की। जब उनके घर वालों ने उन्हें विश्वास दिला दिया, कि वे अब उनकी शादी का नहीं सोचेंगे, तब भगत सिंह अपने घर लाहौर लौट गए। वहां उन्होंने कीर्ति किसान पार्टी के लोगों से मेल जोल बढ़ाया, और उनकी मैगजीन 'कीर्ति' के लिए कार्य करने लगे। वे इसके द्वारा देश के नौजवानों को अपने सन्देश पहुंचाते थे। भगत सिंह बहुत अच्छे लेखक थे और पंजाबी एवं उर्दू अखबार के लिए भी लिखा करते थे। 1926 में 'नौजवान भारत सभा' में भगत सिंह को सेक्रेटरी बना दिया गया। इसके बाद 1928 में उन्होंने 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' (HSRA) ज्वाइन कर ली, जो एक मौलिक पार्टी थी, जिसे चन्द्रशेखर आजाद ने बनाया था। पूरी पार्टी ने साथ मिलकर 30 अक्टूबर 1928 को भारत में आये सायमन कमीशन का विरोध किया, जिसमें उनके साथ लाला लाजपत राय भी थे। "साइमन वापस जाओ" का नारा लगाते हुए, वे लोग लाहौर रेलवे स्टेशन पर ही डटे रहे। सायमन ट्रेन से आ रहा था। जिसके बाद वहां लाठी चार्ज कर दिया गया, जिसमें लाला जी बुरी तरह घायल हुए और फिर उनकी मृत्यु हो गई।

लाला जी की मृत्यु से आहत भगत सिंह और उनकी पार्टी ने अंग्रेजों से बदला लेने की ठानी, और लाला जी की मौत के लिए ज़िम्मेदार ऑफीसर स्कॉट को मारने का प्लान बनाया, लेकिन गलती से उन्होंने असिस्टेंट पुलिस सांडर्स को मार डाला। पुलिस से बचने के लिए भगत सिंह तुरंत लाहौर से भाग निकले, लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उनको ढूढ़ने के लिए चारों तरह जाल बिछा दिया था। भगत सिंह ने अपने आप को बचाने के लिए केश व दाढ़ी कटवा दी, जो कि उनकी सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं के खिलाफ था। लेकिन उस समय भगत सिंह को देश के आगे कुछ भी नहीं दिखाई देता था।

चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह, राजदेव व सुखदेव ये सब अब मिल चुके थे, और इन्होंने कुछ बड़ा धमाका करने की सोची। भगत सिंह कहते थे– "अंग्रेज बहरे हो गए, उन्हें ऊँचा सुनाई देता है, जिसके लिए बड़ा धमाका जरुरी है"। इस बार उन्होंने फैसला किया कि वे लोग कमजोर की तरह भागेंगे नहीं बल्कि अपने आपको पुलिस के हवाले करेंगे जिससे देशवासियों को सही सन्देश पहुंचे। दिसम्बर 1929 को भगत सिंह ने अपने साथी बटुकेश्वर दत्त के साथ मिलकर दिल्ली में ब्रिटिश सरकार के असेंबली हॉल में बम ब्लास्ट किया, जो सिर्फ आवाज करने वाला धमाका था और जिसे हॉल में खाली स्थान में फेंका गया था। इसके साथ ही उन्होंने इंकलाब जिंदाबाद के नारे लगाये और पर्चे बाटें। इसके बाद दोनों ने पुलिस के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

भगत सिंह को फांसी

भगत सिंह खुद स्वयं को शहीद कहा करते थे और शहीद शब्द उनके नाम के आगे जुड़ गया। भगत सिंह, राजगुरु व सुखदेव पर मुकदमा चला और उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई। कोर्ट में भी तीनों इंकलाब जिंदाबाद का नारा लगाते रहे। भगत सिंह ने जेल में रहकर भी बहुत यातनाएं सहन की। उस समय भारतीय कैदियों के साथ अच्छा

व्यवहार नहीं किया जाता था। उन्हें ना तो अच्छा खाना मिलता था और ना ही कपड़े। कैदियों की स्थिति में सुधार हेतु भगत सिंह ने जेल के अंदर भी आन्दोलन शुरू कर दिया। उन्होंने अपनी मांग पूरी करवाने के लिए कई दिनों तक ना पानी पिया, ना अन्न का एक दाना ग्रहण किया। अंग्रेज पुलिस उन्हें बहुत मारा करती थी, तरह तरह की यातनाएं देती थी, जिससे भगत सिंह परेशान होकर हार जाएँ, लेकिन उन्होंने अंत तक हार नहीं मानी. 1930 में भगत सिंह ने 'Why I Am atheist' नाम की किताब लिखी।

23 मार्च 1931 को भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव को फांसी दे दी गई। भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव तीनों की फांसी की तारीख 24 मार्च थी लेकिन उस समय सारे देश में उनकी रिहाई के लिए प्रदर्शन हो रहे थे, जिसके चलते ब्रिटिश सरकार को डर था, कि कहीं फैसला बदल ना जाये, जिससे उन लोगों ने 23 व 24 की मध्यरात्रि में ही तीनों को फांसी दे दी और अंतिम संस्कार भी कर दिया गया।

क्रांतिकारी राजगुरु

शिवराम हरि राजगुरु का जन्म महाराष्ट्र के पुणे शहर के खेड़ गांव के एक साधारण परिवार में सन् 1908 में हुआ था। राजगुरु का बचपन यहीं बीता था। राजगुरु जी के पिता हरि नारायण ने दो शादियां की थी। इनके पहले विवाह से इन्हें कुल 6 बच्चे थे और इन्होंने दूसरी शादी पार्वती जी से की थी और इस विवाह से इन्हें पांच बच्चे हुए थे और राजगुरु जी इनकी पांचवीं सन्तान थे।

राजगुरु जी का सम्बन्ध एक ब्राह्मण परिवार से था और जानकारी के अनुसार राजगुरु जी का पालन–पोषण इनकी मां पार्वती बाई और इनके बड़े भाई ने किया था क्योंकि जब राजगुरु की आयु 6 वर्ष थी तो इनके पिता श्री हरि नारायण जी का देहांत हो गया था।

राजगुरु की शिक्षा

अपने गांव के ही एक मराठी स्कूल में राजगुरु ने अपनी पढ़ाई की थी। कुछ सालों तक अपने गांव में रहने के बाद राजगुरू जी वाराणसी चले गए थे और वाराणसी में आकर इन्होंने विद्यानयन और संस्कृत विषय की पढ़ाई की थी। केवल 15 वर्ष की आयु में राजगुरु जी को हिन्दू धर्म ग्रंथों का अच्छा–खासा ज्ञान भी हो गया था। कहा जाता है कि इन्होंने सिद्धान्तकौमुदी (संस्कृत का शब्द शास्त्र) को बहुत कम समय में याद कर लिया था। राजगुरु जी को कुश्ती करना और शारीरिक अभ्यास करना बहुत पसंद था। वे कुश्ती की प्रतियोगिताओं में भाग लिया करते थे और कुश्ती के कई तरह के संगठनों से भी जुड़े हुए थे।

राजगुरु का क्रांतिकारी सफर

वाराणसी में अपनी शिक्षा के दौरान इनकी मुलाकात देश के कुछ क्रांतिकारियों से हुई थी जो देश को अंग्रेजों से स्वतन्त्र करवाने की लड़ाई लड़ रहे थे। इन क्रांतिकारियों से मिलने के बाद राजगुरु भी देश को आजाद करवाने में संघर्षरत हो गए और इन्होंने साल 1924 में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए) को ज्वाइन कर लिया था। यह एक क्रांतिकारी संगठन था, जिसको चंद्रशेखर आजाद, भगत सिंह, सुखदेव और अन्य क्रांतिकारियों द्वारा बनाया गया था। एचएसआरए का लक्ष्य केवल देश की आजादी था। हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन से जुड़े लोगों द्वारा उन्हें राजगुरु की बजाय रघुनाथ नाम से पुकारा जाता था।

टिप्पणी

इस एसोसिएशन के सदस्य के रूप में राजगुरू जी ने पंजाब, आगरा, लाहौर और कानपुर जैसे शहरों में जाकर वहां के लोगों को अपनी एसोसिएशन के साथ जोड़ने का कार्य किया था। वहीं काफी कम समय में ही राजगुरु और भगत सिंह अच्छे मित्र बन गए और इन दोनों वीरों ने साथ मिलकर ब्रिटिश इंडिया के विरुद्ध कई आंदोलन किए थे। राजगुरु छत्रपति शिवाजी महाराज से बहुत प्रभावित थे।

लाला लाजपत राय की हत्या का बदला

राजगुरु ने वर्ष 1928 में गर्म दल नेता लाला लाजपत राय की हत्या का बदला अंग्रेजों से लिया था। इसी वर्ष ब्रिटिश इंडिया ने भारत में राजनीतिक सुधारों के मुद्दों का अध्ययन करने के लिए 'साइमन कमीशन' नियुक्त किया था। लेकिन इस आयोग में एक भी भारतीय नेता को शामिल नहीं किया गया था जिसके चलते नाराज भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं ने इस आयोग का बहिष्कार किया था और इसी बहिष्कार के दौरान एक शांतिपूर्ण जलूस पर अंग्रेजों द्वारा हुए लाठी चार्ज में लाला लाजपत राय जी की मृत्यु हो गयी थी। लाला लाजपत राय की मृत्यु होने के बाद राजगुरु, भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद ने मिलकर इस हत्या का बदला लेने का संकल्प लिया। अपने संकल्प में उन्होंने पुलिस अधीक्षक जेम्स ए. स्कॉट को मारने का प्लान बनाया क्योंकि उसी के आदेश पर ही लाठी चार्ज किया गया था जिसमें लाला लाजपत राय जी की मृत्यु हुई थी।

जेम्स ए स्कॉट की जगह सॉन्डर्स मारा गया

राजगुरु और उनके साथियों द्वारा बनाई गई रणनीति के अनुसार क्रांतिकारी जय गोपाल को स्कॉट की पहचान करनी थी क्योंकि राजगुरु और उनके साथी स्कॉट को नहीं पहचानते थे। अपनी इस योजना हेतु उन्होंने 17 दिसंबर, 1928 का दिन चुना। इस दिन राजगुरु और भगत सिंह लाहौर के जिला पुलिस मुख्यालय के बाहर स्कॉट का इंतजार कर रहे थे। इसी बीच जय गोपाल ने एक पुलिस अफसर की ओर इशारा करते हुए इन्हें बताया कि वो जेम्स ए. स्कॉट है और इशारा मिलते ही राजगुरु और भगत सिंह ने गोलियां चलाकर उस व्यक्ति की हत्या कर दी। सॉन्डर्स को मारने के लिए पहली गोली राजगुरु की बंदूक से निकली थी लेकिन वह स्कॉट नहीं था बल्कि जॉन पी सॉन्डर्स था जो एक सहायक आयुक्त था। सॉन्डर्स की हत्या होने के बाद अंग्रेजों ने पूरे भारत में क्रांतिकारियों को पकड़ने का प्रयास आरम्भ कर दिया। कहा जाता है कि अंग्रेजों को पता था कि सॉन्डर्स की हत्या के पीछे भगत सिंह थे और इसी संदेह के आधार पर पुलिस ने भगत सिंह को पकड़ने का कार्य शुरू कर दिया। राजगुरु कभी भी किसी कार्य को करने से डरते नहीं थे। नई दिल्ली में सेंट्रल असेंबली हॉल पर बम फेंकने का कार्य पहले राजगुरु को दिया गया था और इन्होंने बिना किसी डर के यह कार्य करने के लिए हां कर दी थी। हालांकि बाद में कुछ कारणों के चलते इस के लिए भगत सिंह के साथ इनकी जगह बटुकेश्वर दत्त को भेजा गया था।

अंग्रेजों से बचने के लिए भगत सिंह और राजगुरु ने लाहौर को छोड़ने का फैसला किया और इस शहर से निकलने के लिए एक रणनीति तैयार की। अपनी रणनीति को सफल बनाने के लिए इन दोनों ने दुर्गा देवी वोहरा की मदद ली थी। दुर्गा जी क्रांतिकारी भगवती चरण की पत्नी थी। इनकी रणनीति के अनुसार इन्हें लाहौर से हावड़ा तक जानेवाली ट्रेन में बैठना था। अंग्रेजों द्वारा भगत सिंह को पहचाना न जाए

इसलिए इन्होंने अपना वेश पूरी तरह से बदल लिया था। अपने वेश को बदलने के बाद पति–पत्नी के रूप में भगत सिंह, दुर्गा भाभी अपने बच्चे के साथ ट्रेन में सवार हो गए। भगत सिंह के अलावा इस ट्रेन में राजगुरु भी अपना वेश बदल कर सवार हुए थे। जब ट्रेन लखनऊ पहुंची तो राजगुरु यहां उतर गए और बनारस के लिए रवाना हो गए। भगत सिंह ने दुर्गा भाभी और उनके बच्चे के साथ हावड़ा की ओर रूख किया।

पुणे से पकड़े गए राजगुरु

कुछ समय तक उत्तर प्रदेश में रहने के बाद राजगुरु नागपुर चले गए। यहां पर इन्होंने आरएसएस के एक कार्यकर्ता के घर में आश्रय लिया था। 30 सितम्बर, 1929 में जब ये नागपुर से पुणे जा रहे थे, तब इन्हें अंग्रेजों द्वारा पकड़ लिया गया। इसके अलावा अंग्रेजों ने भगत सिंह और सुखदेव को भी गिरफ्तार कर लिया था।

राजगुरु को फांसी

सॉन्डर्स की हत्या में दोषी पाते हुए राजगुरु को वर्ष 1931 में फांसी दी गई थी। इनके साथ सुखदेव और भगत सिंह को भी फांसी दी गई। इस प्रकार 23 मार्च 1931 के दिन तीन क्रांतिकारियों ने भारत मां के चरणों में अपने प्राणों की आहुति देकर करोड़ों भारतीयों के हृदय में स्वतंत्रता की भावना की मशाल जला दी। फांसी के समय राजगुरु की आयु केवल 22 वर्ष थी।

राजगुरु के सम्मान में उनके गांव खेड़ का नाम बदलकर 'राजगुरु नगर' कर दिया गया है। वर्ष 1953 में, हरियाणा राज्य के हिसार शहर की एक मार्केट का नाम 'राजगुरु मार्केट' रख दिया गया था। आज यह इस शहर की सबसे प्रसिद्ध मार्केट हैं। 24 अगस्त, 2008 में राजगुरु की 100वीं वर्षगांठ पर अजय वर्मा द्वारा लिखित 'राजगुरु इन्विंसिबल रिवोल्यूशनरी' पुस्तक का विमोचन किया गया। इस पुस्तक में राजगुरु के जीवन और उनके द्वारा देश की स्वतंत्रता हेतु दिए गए योगदान और बलिदान की जानकारी दी गई है। देश उनके बलिदानों को सदा याद रखेगा। राजगुरु आने वाली पीढ़ियों हेतु सदा प्रेरणा स्रोत बने रहेंगे।

क्रांतिकारी सुखदेव

भारतीय क्रांतिकारी सुखदेव थापर का जन्म 15 मई, 1907 में पंजाब के लुधियाना ज़िले के पुराने किले के पास नौघरा इलाक़े में हुआ था। उनकी माता का नाम रल्ली देवी और पिता का नाम राम लाल था। बचपन से ही सुखदेव ने ब्रिटिश राज के अत्याचारों को समझना शुरू कर दिया था इसलिए उन्हें अपने देश में स्वतन्त्रता की आवश्यकता बहुत पहले ही समझ आ गई थी, इसी कारण उन्हें आज एक क्रांतिकारी के तौर पर याद किया जाता हैं। युवा होते–होते सुखदेव क्रांतिकारी पार्टी के सदस्य बन गए थे। सुखदेव हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन ऐसोसिएशन के भी सक्रिय सदस्य थे। वो शहीद भगत सिंह और चंद्रशेखर आज़ाद के निकट सहयोगी थे। सुखदेव ने पंजाब सहित उत्तर भारत के दूसरे इलाक़ों में भी क्रांतिकारी गतिविधियाँ बढ़ाने और संगठन की इकाइयाँ बनाने में सक्रिय भूमिका निभाई। लाहौर में भगत सिंह के साथ सुखदेव ने भी नौजवान भारत सभा के गठन में बड़ी भूमिका निभाई थी जिसका काम देश में युवाओं को स्वतन्त्रता के महत्व को समझाना और इस दिशा में कार्य करने हेतु प्रेरित करना था। उन्होंने लाहौर के नेशनल कॉलेज़ में स्वाध्याय मंडलों की स्थापना की थी जिनका उद्देश्य भारत के अतीत के बारे में जानकारी हासिल करना और विश्व के

क्रांतिकारी साहित्य के बेहतरीन पक्षों का अध्ययन करना था। सुखदेव ने बहुत से क्रांतिकारी क्रिया–कलापों में भाग लिया था, उन्हीं में से एक 1929 में केदियों की भूख हड़ताल भी हैं, जिसने ब्रिटिश सरकार के अमानवीय चेहरे को उजागर किया था।

टिप्पणी

साइमन कमीशन

1927 में ब्रिटिश सरकार ने एक कमीशन का गठन किया जिसका काम भारत में आकर यहाँ की राजनीतिक परिस्थितयों का विश्लेषण करना था इसका नेतृत्व साइमन कर रहा था इसलिए इसे 'साइमन कमीशन' के नाम से जाना जाता हैं लेकिन इस कमिटी में कोई भी भारतीय नहीं था इसलिए पूरे भारत में इसका विरोध हो रहा था। उन दिनों देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्षरत दल दो हिस्सों में बंट चुके थे, जिन्हें गरम दल और नरम दल कहा जाता था। गरम दल के नेता लाला लाजपत राय साइमन कमीशन के विरोध में एक रैली को सम्बोधित कर रहे थे तभी 'जेम्स स्कॉट' ने वहां लाठी चार्ज शुरू कर दिया। जिसके कारण लालाजी को भी कई चोटें आई लेकिन उनका भाषण बंद नहीं हुआ। लालाजी ने कहा "मुझ पर लगने वाली एक–एक लाठी, अंग्रेजों के ताबूत में लगने वाले एक–एक कील साबित होगी" और इसके साथ उस सभा में वन्दे मातरम का जयघोष होता गया।

लालाजी इस रैली में भयंकर चोटिल हो गये थे और उनकी स्थिति गंभीर हो गई थी और कुछ ही दिन बाद 17 नवम्बर 1928 को लाला जी कि मृत्यु हो गयी। इस पूरी गतिविधि पर सुखदेव और उनके साथी नजर रखे हुए थे। लालाजी के देहांत ने उन लोगों को बहुत आक्रोशित कर दिया था।

18 दिसम्बर 1928 को भगत सिंह और राजगुरु ने स्कॉट की गोली मारकर हत्या करने का प्लान बनाया लेकिन यह प्लान उस तरीके से सफल नहीं हो सका जैसा सोचा गया था और गोली गलतफहमी में 'जे.पी. सांडर्स' को लग गयी, इसमें भगत सिंह का सहयोग सुखदेव और चन्द्र शेखर आज़ाद ने किया था। इस घटना के बाद वे सब भूमिगत हो गए और ब्रिटिश पुलिस सुखदेव, आजाद, भगतसिंह और राजगुरु के पीछे पड़ गयी।

लाहौर षड्यंत्र

सांडर्स की हत्या के बाद लाहौर में पुलिस ने हत्या के आरोपियों की खोज शुरू कर दी। ऐसे में इन क्रांतिकारियों के लिए वहां रुककर अपनी पहचान छुपाए रखना मुश्किल हो रहा था। अतः पुलिस से बचकर भागने के लिए सुखदेव ने भगवती चरण वोहरा से मदद मांगी जिसमें भगवती चरण वोहरा ने अपने बच्चे तथा अपनी पत्नी दुर्गा वोहरा (जो क्रांतिकारियों में दुर्गा भाभी नाम से विख्यात थी) और भगत सिंह दोनों को पति–पत्नी के रूप में दिल्ली से कलकत्ता जाने में सहायता की। इस तरह से भगत सिंह वहां से बच निकले और कालान्तर में सुखदेव को इस पूरे प्रकरण के कारण ही लाहौर षड्यंत्र में सह–आरोपी बनाया गया।

डिफेन्स इंडिया एक्ट

क्रांतिकारियों की गतिविधियों पर नजर रखने और उन पर नियंत्रण करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने डिफेन्स इंडिया एक्ट के अंतर्गत पुलिस के अधिकारों को बढ़ाने योजना बनाई जिसके कारण क्रांतिकारियों का जीवन मुश्किल होने लगा था। वास्तव

में इस एक्ट का उद्देश क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर उन्हें जेल में डालना और यातना देना था। हालांकि इस एक्ट को तब उस अधिनियम के अंतर्गत रखा गया था जिसमें आमजन के हितों की रक्षा का ध्यान रखा जाता था। इससे अंग्रेजों ने आमजन में स्वयं के लिए सहानुभूति और सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की और जनता के मध्य क्रांतिकारी गतिविधियों को लेकर गलत संदेश जाने लगा।

केन्द्रीय विधान सभा में बम गिराने की योजना

उपर्युक्त कारणों से क्रांतिकारियों की समस्याएं बढ़ने लगी थीं इसलिए इस एक्ट के जवाब में 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' ने केंदीय विधान सभा में बम गिराने की योजना बनाई। वास्तव में औगुस्ते वैल्लेंट द्वारा फ्रेंच असेम्बली में बम गिराने की घटना से भगत सिंह प्रेरित थे इसलिए उन्होंने यह विचार दिया था।

इस बम विस्फोट का उद्देश्य किसी को हानि पहुँचाना नहीं था बल्कि यह एक योजना थी जिससे इस एक्ट का न केवल विरोध किया जा सके बल्कि व्यापक स्तर पर पार्टी के उद्देश्यों को प्रचारित किया जा सके इसलिए भगत सिंह और उनके साथियों ने इसके बाद पुलिस को आत्म–समर्पण करने का फैसला किया जिससे कि पूरे देश को अंग्रेजों के इरादों का पता चल सके। हालांकि पार्टी की पहली मीटिंग में यह निर्णय किया गया था कि भगत सिंह को सोवियत संघ (रूस) जाना चाहिए और बटुकेश्वर दत्त को यह काम करना चाहिए।

विधान सभा में बम गिराने की योजना में सुखदेव का योगदान

सुखदेव को जब यह मालूम हुआ कि बम ब्लास्ट करने के बाद भगत सिंह को रूस भेजने पर विचार किया जा रहा हैं तो उन्होंने भगत सिंह को एक और मीटिंग बुलाने को कहा। दूसरी मीटिंग में यह तय किया गया कि बटुकेश्वर दत्त और भगत सिंह विधान सभा में बम फैकेंगे। इस तरह 8 अप्रैल 1929 को दोपहर 12.30 बजे जब नई दिल्ली की विधान सभा में 'सर जोर्ज चेस्टर' 'पब्लिक सेफ्टी बिल' में विशेष अधिकारों की घोषणा करने के लिए खड़े हुए, उसी वक्त भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने असेम्बली हॉल में खाली जगह पर बम फेंक दिए जिससे केवल धमाकेदार आवाज हुई और 'इन्कलाब जिंदाबाद' के नारे लगाये। इसके बाद "गूंगों और बहरों को सुनाने के लिए आवाज ऊंची होनी चाहिए" के पत्रक भी हवा में उछाले। हालांकि बम से किसी को चोट नहीं आई थी, इसकी पुष्टि खुद ब्रिटिश सरकार ने भी की थी। भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने इसके बाद पुलिस के सामने आत्म–समपर्ण कर दिया।

लाहौर षड्यंत्र की सजा और सुखदेव की गिरफ्तारी

अपराधियों के नाम घोषित होते ही पुलिस ने लाहौर में 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (HSRA)' की बम फेक्ट्री पर छापे मारकर मुख्य क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर लिया। हंस राज वोहरा, जय गोपाल और फणीन्द्र नाथ घोष सरकार के समर्थक (गद्दार) बन गए जिस कारण सुखदेव, जतिंद्र नाथ दास और राजगुरु सहित कुल 21 क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर लिया गया।

इन क्रांतिकारियों के खिलाफ विस्फोटक गतिविधियों में लिप्त होने और आमजन हेतु खतरा होने का आरोप लगाया गया। 12 जून 1929 को कोर्ट द्वारा, भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त पर जीवन भर के कारावास का फैसला दिया गया। उसी समय इन पर लाहौर का केस भी चल रहा था इसलिए इन्हें लाहौर भेजा गया।

टिप्पणी

लाहौर षड्यंत्र की सुनवाई

10 जुलाई 1929 को लाहौर की जेल में लाहौर षड्यंत्र केस की सुनवाई शुरू हुयी। स्पेशल मजिस्ट्रेट की कोर्ट में 32 लोगों के खिलाफ आरोप प्रस्तुत किया गया और इनमें 9 लोग जिनमें चन्द्र शेखर आजाद (जिन्हें फरार घोषित किया) भी शामिल थे, 7 को क्रांतिकारियों का समर्थक और शेष 16 को अपराधी मानकर सुनवाई शुरू की गयी।

जेल में भूख हड़ताल

लाहौर जेल में चलने वाली सुनवाई आगे नहीं हो सकी क्योंकि जेल में मिलने वाले खराब गुणवत्ता के भोजन और जेलर के अमानवीय व्यवहार के विरोध में कैदियों ने भूख हड़ताल आरम्भ कर दी। कैदियों ने आमरण अनशन शुरू कर दिया और भोजन के लिए दिए गए बर्तनों को बजाकर क्रांतिकारी 'मेरा रंग दे बसंती चोला' गाना गुनगुनाते थे। इसका नेतृत्व भगत सिंह कर रहे थे और उनका साथ सुखदेव राजगुरु, जतिंद्र नाथ जैसे कई क्रांतिकारी दे रहे थे। यह भूख हड़ताल 13 जुलाई,1929 को आरंभ की गई और 63 दिन तक चली जिसमें जतिंद्र नाथ दास शहीद हो गए और जनता में इसके कारण भयंकर आक्रोश फैल गया।

इस पूरे घटनाक्रम में सुखदेव भी शामिल थे। जेल में उन्हें और अन्य कैदियों को जबरदस्ती खिलाने की कई कोशिशें की गयी और बहुत प्रताड़ित भी किया गया लेकिन वो कभी अपने कर्तव्य पथ से विचलित नहीं हुए।

लाहौर षड्यंत्र केस की सजा

लाहौर षड्यंत्र केस के लिए निर्णय 7 अक्टूबर 1930 को सुनाया गया जिसमें भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी की सजा दी गयी। किशोरिलाई रतन, शिव वर्मा, डॉक्टर गया प्रसाद, जय देव कपूर, बेजोय कुमार सिन्हा, महाबीर सिंह और कमल नाथ तिवारी को आजीवन कारावास की सजा सुनाई गयी।

चंद्रशेखर आजाद फरवरी 1931 में अकेले अंग्रेजों से लड़ते हुए शहीद हो गए वहीं भगवती चरण वोहरा मई 1930 को बम बनाने का अभ्यास करते हुए शहीद हुए। वोहरा अपने साथियों के साथ भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को जेल से छुड़ाने की कोशिश कर रहे थे।

देश के सभी बड़े क्रांतिकारी तब भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव की फांसी का विरोध कर रहे थे जिनमें वीर विनायक दामोदर सावरकर भी शामिल थे लेकिन गांधीजी इस पूरे मामले पर निष्पक्ष रहे थे और वो तब भी देश की जनता और क्रांतिकारियों से शांति की अपील कर रहे थे।

सुखदेव ने गांधीजी को पत्र लिखा

सुखदेव द्वारा मार्च, 1931 को जेल से गाँधी जी को लिखा वो पत्र बहुत चर्चा में आया था जिसमें सुखदेव ने गाँधी जी द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियों को नकारे जाने का विरोध किया था। गांधीजी तब सरकार से राजनीतिक कैदियों को छोड़ने की मांग कर रहे थे जो कि हिंसा के अभियुक्त न हों। उन्होंने क्रांतिकारियों से भी अपनी गतिविधियाँ और अभियान बंद करने की अपील की। इसी संदर्भ में सुखदेव ने गांधीजी को यह पत्र लिखा था जो कि भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव द्वारा देश के लिए दिए सर्वोच्च बलिदान के बाद 23 अप्रैल 1931 को 'यंग इंडिया' अखबार में छपा था। इस पत्र में सुखदेव ने स्पष्ट शब्दों में अपने विचार व्यक्त किये थे और गांधीजी को इस बात से

अवगत कराया था कि उनका उद्देश्य केवल बड़ी–बड़ी बातें करना ही नहीं है बल्कि सच यह है कि देश हित के लिए क्रांतिकारी किसी भी हद तक जा सकते हैं और फांसी का घटनाक्रम भी इसी का उदाहरण हैं, ऐसे में गांधीजी यदि जेल में बंद कैदियों की पैरवी नहीं कर सकते तो उन्हें इन क्रांतिकारियों के खिलाफ नकारात्मक माहौल बनाने से भी बचना चाहिए।

सुखदेव का बलिदान

लाहौर षड्यंत्र के लिए सुखदेव, भगत सिंह और राजगुरु को 24 मार्च 1931 को फांसी की सजा देनी तय की गयी थी, लेकिन 17 मार्च 1931 को पंजाब के होम सेक्रेट्री ने इसे 23 मार्च 1931 कर दिया क्योंकि ब्रिटिश सरकार को डर था कि जनता को यदि इनकी फांसी का समय पता चला तो एक और बड़ी क्रांति हो सकती है, जिससे निबटना अंग्रेजों के लिए मुश्किल होगा। इस कारण सुखदेव, भगत सिंह और राजगुरु को निर्धारित समय से एक दिन पूर्व ही फांसी दे दी गई और इनके शवों को केरोसिन डालकर सतलुज नदी तट पर जला दिया गया। इस बात की सारे देश में निंदा हुयी क्योंकि उन तीनों को फांसी से पहले अंतिम बार अपने परिवार से मिलने भी नहीं दिया गया था। ऐसे में देश में क्रांति और देशभक्ति का ज्वार उठना स्वाभाविक था।

हालांकि सुखदेव को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में हमेशा उस घटना के लिए याद किया जाता हैं और किया जाता रहेगा जिसने देश में तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य को ही बदलकर रख दिया था, वह था सुखदेव, राजगुरु और भगत सिंह की फांसी, जिसे उन्होंने सोच समझकर चुना था और सच में सुखदेव के साथ भगत सिंह और राजगुरु की फांसी ने देश के लाखों युवाओं को देश हित के लिए प्राणों की आहुति देने हेतु प्रेरित किया। । लाहौर षड्यंत्र के कारण सुखदेव को फांसी दी गयी थी जबकि भगत सिंह और राजगुरु पर अन्य मुकदमे चल रहे थे लेकिन इनके लिए फांसी का समय एक ही निर्धारित किया गया था इसीलिए आज तक ये 3 नाम एक साथ लिये जाते हैं।

इस तरह सुखदेव थापर जब मात्र 24 वर्ष के थे तब अपने प्राणों की आहुति के साथ देश को स्वतंत्रता के जज्बे का वो संदेश दिया जिसके लिए सदियों तक देश उनका आभारी रहेगा और इसी कारण 23 मार्च को शहीद दिवस मनाया जाता हैं।

जब भी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की चर्चा होगी तो ध्रुवतारे के सामान चमकने वाले भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव, चंद्रशेखर आजाद जैसे असंख्य क्रांतिकारियों का नाम सदा आदर और सम्मान से लिया जायेगा।

2.3.4 वीर सावरकर

विनायक दामोदर सावरकर न सिर्फ़ एक क्रांतिकारी थे बल्कि एक भाषाविद्, बुद्धिवादी, कवि, अप्रतिम क्रांतिकारी, दृढ़ राजनेता, समर्पित समाज सुधारक, दार्शनिक, द्रष्टा, महान कवि एवं महान इतिहासकार और ओजस्वी वक्ता भी थे। उनकी गणना हिंदू राष्ट्रवाद के अप्रतिम सिद्धान्तकारों में की जाती है। उन्होंने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अप्रतिम भूमिका निभाई और विदेशी धरती से भारत की स्वाधीनता के लिए शंखनाद किया। उन्हें अंग्रेज सरकार ने दो बार आजीवन कारावास का दंड दिया किन्तु जेल की यातनाओं को सहते हुये उन्होंने क्रांतिकारी साहित्य का सृजन किया। नियति के क्रूर मजाक की

टिप्पणी

वजह से जीवन के अन्तिम वर्ष सावरकर ने गुमनामी में बिताये तथा उन्हें वह सम्मान प्राप्त न हो सका जिसके वह हकदार थे।

जीवनवृत्त

वीर सावरकर का पूरा नाम विनायक दामोदर सावरकर था। उनका जन्म 28 मई 1883 को महाराष्ट्र के नासिक जिले के भगूर गांव में हुआ। वीर सावरकर ने शिवाजी हाईस्कूल नासिक से 1901 में मैट्रिक की परीक्षा पास की और फ़र्ग्युसन् कॉलेज पुणे में दाखिला लिया जहां उनकी छवि राष्ट्रभक्ति से ओत–प्रोत ओजस्वी वक्ता की बनी। यहां उन्होंने 'मित्र मेला' नामक क्रांतिकारी दल का गठन किया जिसका बाद में नामकरण 'अभिनव भारत' कर दिया गया। सन् 1905 ई. में स्वदेशी आन्दोलन के दौरान उन्होंने पुणे में विदेशी वस्त्रों की होली जलाकर अपनी राजनीतिक गतिविधियों को अंजाम दिया। सन् 1906 ई. में वह उच्च अध्ययन के लिये इंग्लैंड गये और यहां उन्होंने 'लन्दन हाउस' को अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों का केंद्र बनाया। सन् 1910 ई. में एक हत्याकांड में सहयोग देने के अभियोग में वीर सावरकर को गिरफ्तार कर एक जहाज़ द्वारा भारत के लिये रवाना किया गया। परन्तु फ्रांस के मार्सलीज़ बन्दरगाह के समीप जहाज़ से वे समुद्र में कूदकर भाग निकले, किन्तु पुनः पकड़े गये और भारत लाये गये। एक विशेष न्यायालय द्वारा उनके अभियोग की सुनवाई हुई और उन्हें आजीवन कालेपानी की दुहरी सज़ा मिली। सावरकर 1911 से 1921 तक अंडमान जेल (सेल्यूलर जेल) में रहे। 1921 में वे स्वदेश लौटे और फिर 3 साल जेल भोगी। सन् 1937 ई. में उन्हें मुक्त कर दिया गया इसी वर्ष वे 'हिंदू महासभा' के अध्यक्ष चुने गए और सन् 1938 ई. में उनकी पहल पर हिंदू महासभा को राजनीतिक दल घोषित किया गया। सन् 1947 ई. में इन्होने भारत विभाजन का विरोध किया। सन् 1948 ई. में महात्मा गांधी की हत्या में उनका हाथ होने का संदेह किया गया। इतनी मुश्किलों के बाद भी वे झुके नहीं और उनका देशप्रेम का जज़्बा बरकरार रहा और अदालत को उन्हें तमाम आरोपों से मुक्त कर बरी करना पड़ा। इसके पश्चात उन्होंने राजनीति से संन्यास ले लिया किन्तु देशसेवा के प्रति वे जीवनपर्यंत समर्पित रहे। 26 फ़रवरी 1966 को वीर सावरकर चिर निद्रा में सो गये।

सामाजिक परिवर्तन का सिद्धांत

सावरकर एक प्रख्यात समाज सुधारक, और समाज सेवक थे। उन्होंने हिंदुओं से विज्ञान और तर्क पर आधारित आधुनिक प्रथाओं को अपनाने का आग्रह किया तथा उन धार्मिक अंधविश्वासों और रीति रिवाजों को छोड़ने के लिये कहा जो सामाजिक प्रगति में बाधक बन रहे थे। उनका दृढ़ विश्वास था, कि सामाजिक एवं सार्वजनिक सुधार बराबरी का महत्व रखते हैं व एक दूसरे के विशेष पूरक हैं। उनके समय में समाज बहुत–सी कुरीतियों और बेड़ियों के बंधनों में जकड़ा हुआ था। जिनके कारण हिंदू समाज अति दुर्बल हो गया था। अपने भाषणों, लेखों व कृत्यों से उन्होंने समाज सुधार के लिये अनवरत प्रयास किए। उन्होंने बम्बई प्रेसीडेंसी में हुए अस्पृश्यता उन्मूलन सम्मेलन की अध्यक्षता भी की। सावरकर के अनुसार हिंदू समाज सात बेड़ियों में जकड़ा हुआ था–

1. **स्पर्शबंदी** : निम्न जातियों का स्पर्श तक निषेध अर्थात अस्पृश्यता,
2. **रोटीबंदी** : निम्न जातियों के साथ खानपान निषेध,
3. **बेटीबंदी** : खास जातियों के संग विवाह संबंध निषेध,

4. **व्यवसायबंदी** : कुछ निश्चित व्यवसाय का निषेध,
5. **सिंधुबंदी** : सागर पार यात्रा और व्यवसाय निषेध,
6. **वेदोक्तबंदी** : वेद के कर्मकाण्डों का एक वर्ग को निषेध,
7. **शुद्धिबंदी** : किसी क वापस हिंदूकरण पर निषेध

सावरकर ने सामाजिक सुधारों की दिशा में जीवन पर्यन्त कार्य किया। उनके सामाजिक उत्थान कार्यक्रम न केवल हिंदुओं के लिए बल्कि राष्ट्र को पूरी तरह से समर्पित होते थे। अंडमान की सेल्यूलर जेल में रहते हुए उन्होंने बंदियों को शिक्षित करने का काम तो किया ही, साथ ही साथ वहां हिंदी के प्रचार–प्रसार हेतु बहुत अधिक प्रयास किया।

हिंदुत्व की अवधारणा

वीर सावरकर हिंदुत्व और हिंदू राष्ट्र के प्रबल समर्थक थे तथा हिंदू सांस्कृतिक और दार्शनिक उपलब्धियों पर उन्हें गर्व था। उन्होंने आजीवन हिंदुओं को संगठित करने तथा उनमें हिंदू राष्ट्रवाद की भावनाएं भरने का प्रयास किया। सावरकर ने 'संगठन में शक्ति है' का विचार जनमानस में भरने की चेष्टा की। सन् 1925 ई. में हिंदू महासभा के बेलगांव अधिवेशन में सावरकर ने 'हिंदुत्व की अपनी व्याख्या बताई गई थी। 'हिंदू' शब्द का अर्थ एवं उसकी व्याख्या करते हुए सावरकर ने यह उद्धृत किया–

आसिंधुसिंधुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै 'हिंदू' रिति स्मृतः।।

इस प्रकार, सावरकर के अनुसार असिंधु–सिंधु जिसकी पितृभूमि और पुण्यभूमि दोनों भारतवर्ष हो, वह हिंदू कहलाने का अधिकारी है। सावरकर के अनुसार हिंदू होने की अग्रलिखित तीन कसौटियां हैं–

(1) **राष्ट्र अथवा प्रादेशिक एकता**– सावरकर का विश्वास था कि क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक सन्निकटता एकता की भावना का संचार करती है। एक हिंदू के मन में सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भौगोलिक प्रदेश के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक है।

(2) **जाति अथवा रक्त सम्बन्ध**– हिंदू वह है जिसकी नसों में उन लोगों का रक्त बहता है जिसका मूल स्रोत वैदिक सप्त–सैंधव के हिमालय प्रदेश में बसने वाली जाति थी। यह किसी भी प्रकार के नस्लवाद या नस्लवादी श्रेष्ठता का सिद्धांत न होकर महज इस तथ्य का द्योतक है कि सदियों के ऐतिहासिक जीवन के फलस्वरूप हिंदुओं में ऐसी जातिगत विशेषताएं विकसित हो गयी हैं जो अन्य जातीय विशेषताओं से पृथक हैं।

(3) **संस्कृति**– जिस व्यक्ति को हिंदू सभ्यता और संस्कृति पर गर्व है वह हिंदू है।

सावरकर के मत में 'हिंदुत्व' की अवधारणा किसी भी रूप में न तो हिंदुत्वाभिमान है और न ही कोरी अंधधर्मांधता। वस्तुतः यह सांस्कृतिक स्वाभिमान का सिद्धांत है। उन्होंने 'हिंदूवाद' और 'हिंदुत्व' को अलग अलग माना। उनके अनुसार, हिंदुत्व का विचार सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक पहलुओं से सम्बद्ध है जबकि हिंदूवाद का आशय धार्मिक एवं कर्मकाण्डीय पहलुओं से है। हिंदुत्व महज एक शब्द न होकर अपने आप में सम्पूर्ण भारत का गौरवशाली इतिहास समाहित करने वाला सिद्धांत है।

टिप्पणी

सावरकर का तर्क है कि 'भारतीय राष्ट्र' जैसी बात करना एक प्रवंचना मात्र है। भारतीय राष्ट्र जैसी न कोई चीज है और न ही हो सकती है। भारत सदैव से ही हिंदू राष्ट्र रहा है और भविष्य में भी रहेगा। सावरकर के मन में अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति किसी प्रकार की घृणा नहीं थी किन्तु ऐसे लोगों की राष्ट्रभक्ति के प्रति संशय अवश्य था जो कि इस देश को अपनी मातृभूमि नहीं समझते। वे राष्ट्रीय आकांक्षाओं के ध्येय की सिद्धि के मार्ग में मुसलमानों के सहयोग का स्वागत करते थे किन्तु यह भी विश्वास करते थे कि स्वराज की प्राप्ति मुसलमानों के सहयोग के बिना भी प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने मुसलमानों से स्पष्टरूप से कहा हिंदू अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये यथा सामर्थ्य संघर्ष करते रहेंगे; यदि तुम साथ देते हो तो तुम्हारे साथ मिलकर संघर्ष करेंगे, यदि तुम साथ नहीं देते हो तो तुम्हारे बिना ही लड़ते रहेंगे और यदि तुम विरोध करते हो तो उस विरोध के बावजूद संघर्ष जारी रखेंगे।

अखण्ड भारत का विचार

सावरकर ने आजीवन अखण्ड भारत की कामना की। देश के विभाजन से उन्हें मर्मान्तक पीड़ा पहुंची और उन्होंने कहा 'हे देशवासियो! देख लो, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने, जिसका जन्म राष्ट्र को सुसंगठित करने के लिये हुआ था, अपने एकमात्र लक्ष्य के साथ विश्वासघात किया है। उसने अपने अस्तित्व के एकमात्र औचित्य को ही खो दिया है तथा कृत्रिम राष्ट्रवादी रोग का शिकार बनकर उसने देश की राष्ट्रीय अखंडता पर सर्वाधिक निर्मम आघात किया है। 15 अगस्त 1947 को उन्होंने सावरकर सदन में भारतीय तिरंगा एवं भगवा, दो–दो ध्वजारोहण किये। इस शुभ अवसर पर प्रतिक्रिया देते हुये उन्होंने पत्रकारों के समक्ष कहा कि मुझे स्वराज्य प्राप्ति की प्रसन्नता है,परन्तु वह खण्डित है, इसका हमें गहरा दुःख है। उन्होंने यह भी कहा कि राज्य की सीमाएं नदी तथा पहाड़ों या सन्धि–पत्रों से निर्धारित नहीं होतीं, अपितु वे देश के नवयुवकों के शौर्य, धैर्य, त्याग एवं पराक्रम से निर्धारित होती हैं। देश का विभाजन हो जाने पर भी सावरकर ने अखण्ड भारत के लिये अपना संघर्ष जारी रखा और अगस्त 1947 में एक हिंदू सम्मेलन आयोजित करके अपने अध्यक्षीय भाषण में हिंदुओं से अपील की कि वे पाकिस्तान को ठीक उसी प्रकार स्वीकार न करें जिस प्रकार कि उन्होंने ब्रिटिश शासन को स्वीकार नहीं किया था।

शक्तिशाली राष्ट्र की संकल्पना

सावरकर मजबूत और शक्तिशाली हिंदू राष्ट्र चाहते थे ताकि भारत को उस उग्र जीवन संघर्ष में स्वतंत्र शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में जीवित रखा जा सके जो विश्व के विभिन्न देशों के बीच चल रहा था। उन्होंने माना कि आधुनिक समय में, राज्य को एकमात्र सक्षम राजनीतिक पहचान के रूप में माना गया है और विश्व के सभी समाज राष्ट्र के आधार पर संगठित हो गये हैं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को केवल राष्ट्र और राष्ट्रीय नीतियों के सन्दर्भ में सोचना है। सावरकर के मत में जब तक राष्ट्र की राजनीति का हिंदूकरण और हिंदू का सैनिकीकरण नहीं किया जाऐगा तब तक भारत की स्वाधीनता और उसकी सीमाएं, उसकी सभ्यता एवं संस्कृति कदापि सुरक्षित नहीं रह सकेंगी। सावरकर का विश्वास था कि अन्य बातों के समान होने पर सैनिक शक्ति से संपन्न राज्य ही प्रगति और यश का अर्जन कर सकते हैं। दुर्बल राज्यों के नसीब में तो सिर्फ पतन, पराभव और पराधीनता ही होती है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने ऐतिहासिक प्रसंगों का उल्लेख किया। जब भारत में अहिंसावादी बौद्धमत की प्रधानता रही तो उसे हूणों और शकों ने

रौंद डाला। इसीलिए सावरकर ने हिंदुओं के सैनिकीकरण का समर्थन किया और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हिंदुओं को फ़ौज में भर्ती होने की सलाह दी ताकि वे आधुनिक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग सीख जाए। उन्होंने स्कूलों और कालेजों में अनिवार्य सैनिक शिक्षा का समर्थन करते हुये कहा 'मेरी तो हिंदू युवकों से यही अपेक्षा एवं आदेश है कि वे अधिकाधिक संख्या में सेना में भर्ती होकर सैन्य–विद्या का ज्ञान प्राप्त करें, जिससे समय पड़ने पर वे अपने देश की स्वाधीनता की रक्षा में योगदान कर सकें'।

2.3.5 सुभाषा चंद्र बोस

सुभाषचंद्र बोस (23 जनवरी 1897–18 अगस्त 1945 ई.), जो नेताजी के नाम से भी जाने जाते हैं, भारत के स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी नेता थे। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, अंग्रेज़ों के खिलाफ लड़ने के लिए, उन्होंने जापान के सहयोग से 'आजाद हिंद फौज' का गठन किया था। उनके द्वारा दिया गया 'जय हिंद' का नारा, भारत का राष्ट्रीय नारा बन गया है।

1944 में अमेरिकी पत्रकार लुई फिशर से बात करते हुए, महात्मा गांधीजी ने नेताजी को देशभक्तों का देशभक्त कहा था। नेताजी का योगदान और प्रभाव इतना बड़ा था कि कहा जाता है कि अगर नेताजी उपस्थित रहते, तो शायद भारत एक संघ राष्ट्र बना रहता और भारत का विभाजन नहीं होता। स्वयं गांधीजी ने इस बात को स्वीकार किया था।

जन्म और कौटुंबिक जीवन

नेताजी सुभाषचंद्र बोस का जन्म 23 जनवरी 1897 ई. को उड़ीसा के कटक शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम जानकीनाथ बोस और मां का नाम प्रभावती था। जानकीनाथ बोस शहर के मशहूर वकील थे। पहले वे सरकारी वकील थे, मगर बाद में उन्होंने निजी प्रैक्टिस शुरू कर दी थी। उन्होंने कटक की महापालिका में लंबे समय तक काम किया था और वे बंगाल विधान सभा के सदस्य भी रहे थे। अंग्रेज सरकार ने उन्हें रायबहादुर का खिताब दिया था। प्रभावती और जानकीनाथ बोस की कुल मिलाकर 14 संतानें थी, जिसमें 6 बेटियां और 8 बेटे थे। सुभाषचंद्र उनकी नौवीं संतान और पांचवें बेटे थे। अपने सभी भाइयों में से सुभाष को सबसे अधिक लगाव शरदचंद्र से था। शरदबाबू प्रभावती और जानकीनाथ के दूसरे बेटे थे। सुभाष उन्हें मेजदा कहते थे। शरदबाबू की पत्नी का नाम विभावती था।

स्वतंत्रता संग्राम में प्रवेश और कार्य

स्वतंत्रता सेनानी, देशबंधु चितरंजन दास के कार्य से प्रेरित होकर, सुभाष उनके साथ काम करना चाहते थे। उन्होंने पत्र लिखकर, उनके साथ काम करने की इच्छा प्रकट की। रवींद्रनाथ ठाकुर की सलाह के अनुसार, भारत वापस आने पर वे सर्वप्रथम बंबई गए और महात्मा गांधीजी से मिले बंबई में गांधीजी मणिभवन में निवास करते थे। वहां, 20 जुलाई, 1921 ई. को महात्मा गांधी और सुभाषचंद्र बोस के बीच पहली बार मुलाकात हुई। महात्मा गांधी जी ने भी उन्हें देशबंधु चितरंजन दास के साथ काम करने की सलाह दी। इसके बाद सुभाषबाबू कलकत्ता आ गए और दासबाबू से मिले। दासबाबू उन्हें देखकर बहुत खुश हुए। उन दिनों गांधीजी ने अंग्रेज सरकार के खिलाफ असहयोग अंदोलन चला रखा था। दासबाबू इस आंदोलन का बंगाल में नेतृत्व कर रहे थे। उनके साथ सुभाषबाबू इस आंदोलन में सहभागी हो गए। 1922 ई. में दासबाबू ने

टिप्पणी

कांग्रेस के अंतर्गत 'स्वराज पार्टी' की स्थापना की। अंग्रेज सरकार का विरोध करने के लिए, महापालिका का चुनाव स्वराज पार्टी ने लड़कर जीता। स्वयं दासबाबू कलकत्ता के महापौर बन गए। उन्होंने सुभाषबाबू को महापालिका का प्रमुख कार्यकारी अधिकारी बनाया। सुभाषबाबू ने अपने कार्यकाल में महापालिका का पूरा ढांचा और काम करने का तरीका ही बदल डाला। कलकत्ता के रास्तों के अंग्रेजी नाम बदलकर, उन्हें भारतीय नाम दिए गए। स्वतंत्रता संग्राम में प्राण न्यौछावर करनेवालों के परिवार के सदस्यों को महापालिका में नौकरी मिलने लगी।

बहुत जल्द ही, सुभाषबाबू देश के एक महत्वपूर्ण युवा नेता बन गए। जवाहरलाल नेहरू के साथ सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अंतर्गत युवकों की 'इंडिपेंडेंस लीग' शुरू की। 1928 में जब साइमन कमीशन भारत आया, तब कांग्रेस ने उसे काले झंडे दिखाए। कलकत्ता में सुभाषबाबू ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया। साइमन कमीशन को जवाब देने के लिए, कांग्रेस ने भारत का भावी संविधान बनाने का काम आठ सदस्यीय आयोग को सौंपा। मोतीलाल नेहरू इस आयोग के अध्यक्ष और सुभाषबाबू उसके एक सदस्य थे। इस आयोग ने नेहरू को रिपार्ट पेश की। 1928 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में सुभाषबाबू ने खाकी गणवेश धारण करके मोतीलाल नेहरू को सैन्य तरीके से सलामी दी। गांधीजी उन दिनों पूर्ण स्वराज्य की मांग से सहमत नहीं थे। इस अधिवेशन में उन्होंने अंग्रेज सरकार से डोमिनियन स्टेटस मांगने की ठान ली थी लेकिन सुभाषबाबू और जवाहरलाल नेहरू को पूर्ण स्वराज की मांग से पीछे हटना मंजूर नहीं था। अंत में यह तय किया गया कि अंग्रेज सरकार को डोमिनियन स्टेटस देने के लिए, एक साल का वक्त दिया जाए। अगर एक साल में अंग्रेज सरकार ने यह मांग पूरी नहीं की, तो कांग्रेस पूर्ण स्वराज की मांग करेगी। अंग्रेज सरकार ने यह मांग पूरी नहीं की। इसलिए 1930 में जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुआ, तब तय किया गया कि 26 जनवरी का दिन स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाएगा।

26 जनवरी, 1930 ई. के दिन कलकत्ता में राष्ट्रध्वज फहराकर सुभाषबाबू एक विशाल मोर्चे का नेतृत्व कर रहे थे तब पुलिस ने उनपर लाठी चलायी और उन्हें घायल कर दिया। जब सुभाषबाबू जेल में थे, तब गांधी जी ने अंग्रेज सरकार से समझौता किया और सब कैदियों को रिहा किया गया। लेकिन अंग्रेज सरकार ने सरदार भगत सिंह जैसे क्रांतिकारकों को रिहा करने से इंकार कर दिया। सरदार भगत सिंह की फांसी माफ कराने के लिए, गांधीजी ने सरकार से बात की। सुभाषबाबू चाहते थे कि इस विषय पर गांधीजी अंग्रेज सरकार के साथ किया गया समझौता तोड़ दें लेकिन गांधीजी अपनी ओर से दिया गया वचन तोड़ने को राजी नहीं थे। अंग्रेज सरकार अपनी बात पर अड़ी रही और सरदार भगत सिंह और उनके साथियों को फांसी दी गयी। सरदार भगत सिंह को न बचा पाने पर, सुभाषबाबू गांधीजी और कांग्रेस के तरीकों से बहुत नाराज हो गए।

कारावास

अपने सार्वजनिक जीवन में सुभाषबाबू को कुल ग्यारह बार कारावास हुआ। सबसे पहले उन्हें 1921 ई. में छः महीनों का कारावास हुआ। 1925 ई. में गोपीनाथ साहा नामक एक क्रांतिकारी कलकत्ता के पुलिस अधीक्षक चार्लस टेगार्ट को मारना चाहता था। उसने गलती से अर्नेस्ट डे नामक एक व्यापारी को मार डाला। इसके लिए उसे फांसी की सजा दी गई। उन्होंने गोपीनाथ का शव मांगकर उसका अंतिम संस्कार किया। इससे अंग्रेज सरकार ने यह निष्कर्ष लिया कि सुभाषबाबू ज्वलंत क्रांतिकारकों से न केवल

टिप्पणी

संबंध रखते हैं, बल्कि वे ही उन क्रांतिकारकों की प्रेरणा हैं। इसी बहाने अंग्रेज सरकार ने सुभाषबाबू को गिरफ्तार किया और बिना कोई मुकदमा चलाए, उन्हें अनिश्चित काल के लिए म्यानमार के मांडले कारागृह में बंदी बनाया।

5 नवंबर 1925 ई. के दिन देशबंधु चितरंजन दास कलकत्ता, में चल बसे। सुभाषबाबू ने उनकी मृत्यु की खबर मांडले कारागृह में रेडियो पर सुनी। मांडले कारागृह में रहते समय सुभाषबाबू की तबीयत बहुत खराब हो गयी। उन्हें तपेदिक हो गया। परंतु अंग्रेज सरकार ने फिर भी उन्हें रिहा करने से इंकार कर दिया। सरकार ने उन्हें रिहा करने के लिए यह शर्त रखी कि वे इलाज के लिए यूरोप चले जाएं। लेकिन सरकार ने यह तो स्पष्ट नहीं किया था कि इलाज के बाद वे कब लौट सकते हैं इसलिए सुभाषबाबू ने यह शर्त स्वीकार नहीं की। आखिर में परिस्थिति इतनी कठिन हो गई कि शायद वे कारावास में ही मर जाते। अंग्रेज सरकार यह खतरा भी नहीं उठाना चाहती थी, कि सुभाषबाबू की कारागृह में मृत्यु हो जाए। इसलिए सरकार ने उन्हे रिहा कर दिया। फिर सुभाषबाबू इलाज के लिए डलहौजी चले गए। 1930 ई. में सुभाषबाबू कारावास में थे तब उन्हे कलकत्ता का महापौर चुना गया। इसलिए सरकार उन्हे रिहा करने पर मजबूर हो गयी। 1932 ई. में सुभाषबाबू को फिर से कारावास हुआ। इस बार उन्हें अलमोड़ा जेल में रखा गया। जेल में उनकी तबीयत फिर से खराब हो गई। वैद्यकीय सलाह पर सुभाषबाबू इस बार इलाज के लिए यूरोप जाने को राजी हो गए।

यूरोप प्रवास

1933 से 1936 ई. तक सुभाषबाबू यूरोप में रहे। यूरोप में सुभाषबाबू ने अपनी सेहत का ख्याल रखते समय, अपना कार्य जारी रखा। वहां वे इटली के नेता मुसोलिनी से मिले, जिन्होंने उन्हें भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सहायता करने का वचन दिया। आयरलैंड के नेता डी. वॅलेरा सुभाषबाबू के अच्छे दोस्त बन गए। जब सुभाषबाबू यूरोप में थे, तब जवाहरलाल नेहरू की पत्नी कमला नेहरू का ऑस्ट्रिया में निधन हो गया। सुभाषबाबू ने वहां जाकर जवाहरलाल नेहरू को सांत्वना दी। बाद में सुभाषबाबू यूरोप में विठ्ठल भाई पटेल से मिले। विठ्ठल भाई पटेल के साथ सुभाषबाबू का पटेल–बोस विश्लेषण प्रसिद्ध हुआ, जिसमें उन दोनों ने गांधीजी के नेतृत्व की बहुत गहरी निंदा की। बाद में विठ्ठल भाई पटेल बीमार पड़ गए, तब सुभाषबाबू ने उनकी बहुत सेवा की। मगर पटेल का निधन हो गया। विठ्ठल भाई पटेल ने अपनी वसीयत में करोड़ों की संपति सुभाषबाबू के नाम कर दी। मगर उनके निधन के पश्चात, उनके भाई वल्लभ भाई पटेल ने इस वसीयत को स्वीकार नहीं किया और उनपर अदालत में मुकदमा चलाया। यह मुकदमा जीतकर, सरदार बल्लभ भाई पटेल ने वह संपत्ति, गांधीजी के हरिजन सेवा कार्य को भेंट दे दी।

1934 में सुभाषबाबू को पिता के मृत्युशय्या पर होने की खबर मिली। इसलिए वे हवाई जहाज से कराची होकर कलकत्ता लौटे। कराची में उन्हें पता चला कि उनके पिता की मृत्यु हो चुकी थी। कलकत्ता पहुंचते ही, अंग्रेज सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया और कई दिन जेल में रखकर, वापस यूरोप भेज दिया।

हरीपुरा कांग्रेस का अध्यक्ष पद

1938 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हरिपुरा में होना तय हुआ था। इस अधिवेशन में गांधीजी ने अध्यक्षपद के लिए सुभाषबाबू को चुना। यह 51वां अधिवेशन था इसलिए अध्यक्ष सुभाषबाबू का स्वागत 51 बैलों के रथ में किया गया। इस अधिवेशन में सुभाषबाबू का अध्यक्षीय भाषण बहुत ही प्रभावशाली था। किसी भी भारतीय राजकीय

टिप्पणी

व्यक्ति ने शायद ही इतना प्रभावी भाषण कभी दिया हो। अपने अध्यक्षपद के कार्यकाल में सुभाषबाबू ने योजना आयोग की स्थापना की। इसके अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू थे। सुभाषबाबू ने बेंगलोर में मशहूर वैज्ञानिक सर विश्वेश्वरैया की अध्यक्षता में एक विज्ञान परिषद भी स्थापित की। 1937 में जापान ने चीन पर आक्रमण किया। सुभाषबाबू की अध्यक्षता में कांग्रेस ने चीनी जनता की सहायता के लिए, डॉ. द्वारकानाथ कोटनीस के नेतृत्व में वैद्यकीय समूह भेजने का निर्णय लिया।

कांग्रेस के अध्यक्षपद से इस्तीफा

1938 में गांधीजी ने अध्यक्षपद के लिए सुभाषबाबू को चुना तो था, मगर गांधीजी को सुभाषबाबू की कार्यपद्धति पसंद नहीं आयी। इसी दौरान यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल छा गए थे। सुभाषबाबू चाहते थे कि इंग्लैंड की इस कठिनाई का लाभ उठाकर, भारत का स्वतंत्रता संग्राम अधिक तीव्र किया जाए। उन्होंने अपने अध्यक्षपद के कार्यकाल में इस तरफ कदम उठाना भी शुरू कर दिया था। गांधीजी इस विचारधारा से सहमत नहीं थे। 1939 में जब नया अध्यक्ष चुनने का वक्त आया, तब सुभाषबाबू चाहते थे कि कोई ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष बन जाए, जो इस मामले में किसी दबाव के सामने न झुके। ऐसा कोई दूसरा व्यक्ति सामने न आने पर, सुभाषबाबू ने खुद अध्यक्ष बने रहना चाहा लेकिन गांधीजी अब उन्हें अध्यक्ष पद से हटाना चाहते थे। गांधीजी ने पट्टाभि सितारमैया को चुना। कविवर रविंद्रनाथ ठाकुर ने गांधीजी को खत लिखकर सुभाषबाबू को ही अध्यक्ष बनाने की विनती की। मेघनाथ साहा और प्रफुल्लचंद्र राय जैसे वैज्ञानिक भी सुभाषबाबू को फिर से अध्यक्ष के रूप में देखना चाहते थे। लेकिन गांधीजी ने इस मामले में किसी की बात नहीं मानी। कोई समझौता न हो पाने पर, बहुत वर्षों के बाद, अध्यक्ष पद के लिए चुनाव लड़ा गया। सब समझते थे कि जब गांधीजी ने पट्टाभि सितारमैया का साथ दिया हैं, तब वे चुनाव आसानी से जीत जाएंगे। लेकिन वास्तव में, सुभाषबाबू को चुनाव में 1580 मत मिल गए और पट्टाभि सितारमैया को 1377 मत मिलें। गांधीजी के विरोध के बावजूद सुभाषबाबू 203 मतों से यह चुनाव जीत गए। मगर चुनाव के साथ बात खत्म नहीं हुई। गांधीजी ने पट्टाभि सितारमैया की हार को अपनी हार बताकर, अपने साथियों से कह दिया कि अगर वे सुभाषबाबू के तरीकों से सहमत नहीं हैं, तो वे कार्यकारिणी से हट सकते हैं इसके बाद कार्यकारिणी के 14 में से 12 सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। जवाहरलाल नेहरू तटस्थ रहे और अकेले शरदबाबू सुभाषबाबू के साथ बने रहे। 1939 ई. में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन त्रिपुरी में हुआ। इस अधिवेशन के समय सुभाषबाबू तेज बुखार से इतने बीमार पड़ गए थे, कि उन्हें स्ट्रेचर पर लेटकर अधिवेशन में आना पड़ा। इस अधिवेशन में गांधीजी उपस्थित नहीं रहे। गांधीजी के साथियों ने सुभाषबाबू से बिल्कुल सहयोग नहीं किया। अधिवेशन के बाद सुभाषबाबू ने समझौते की बहुत कोशिश की लेकिन गांधीजी और उनके साथियों ने उनकी एक न मानी। परिस्थिति ऐसी बन गयी कि सुभाषबाबू कुछ काम ही न कर पाए। आखिर में तंग आकर, 29 अप्रैल, 1939 ई. को सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया।

फॉरवर्ड ब्लॉक की स्थापना

3 मई 1939 ई. के दिन, सुभाषबाबू ने कांग्रेस के अंतर्गत फॉरवर्ड ब्लाक के नाम से अपनी पार्टी की स्थापना की। कुछ दिन बाद, सुभाषबाबू को कांग्रेस से निकाला गया। बाद में फॉरवर्ड ब्लाक अपने आप एक स्वतंत्र पार्टी बन गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले से ही, फॉरवर्ड ब्लाक ने स्वतंत्रता संग्राम अधिक तीव्र करने के लिए, जनजागृति शुरू की। इसलिए अंग्रेज सरकार ने सुभाषबाबू सहित फॉरवर्ड ब्लाक के

सभी मुख्य नेताओं को कैद कर दिया। द्वितीय विश्व के दौरान सुभाषबाबू जेल में निष्क्रिय रहना नहीं चाहते थे। सरकार को उन्हें रिहा करने पर मजबूर करने के लिए सुभाषबाबू ने जेल में आमरण उपवास शुरू कर दिया। तब सरकार ने उन्हें रिहा कर दिया। मगर अंग्रेज सरकार यह नहीं चाहती थी, कि सुभाषबाबू युद्ध के दौरान मुक्त रहें। इसलिए सरकार ने उन्हे उनके ही घर में नजरकैद कर के रखा।

नजर कैद से निकलने के लिए सुभाषबाबू ने एक योजना बनायी। 16 जनवरी 1941 ई. को वे पुलिस को चकमा देने के लिए एक पठान मोहम्मद जियाउद्दीन का भेष धरकर, अपने घर से भाग निकले। शरदबाबू के बड़े बेटे शिशिर ने उन्हें अपनी गाड़ी से कलकत्ता से दूर, गोमोह तक पहुंचाया। गोमोह रेलवे स्टेशन से फ्रंटियर मेल पकड़कर वे पेशावर पहुंचे। पेशावर में उन्हें फॉरवर्ड ब्लॉक के एक सहकारी, मियां अकबर शाह मिले। मियां अकबर शाह ने उनकी मुलाकात, कीर्ति किसान पार्टी के भगतराम तलवार से करा दी। भगतराम तलवार के साथ में, सुभाषबाबू पेशावर से अफगानिस्तान की राजधानी काबुल की ओर निकल पड़े। इस सफर में भगतराम तलवार, रहमत खान नाम के पठान बने थे और सुभाषबाबू उनके गूंगे–बहरे चाचा बने थे। पहाड़ियों में पैदल चलते हुए उन्होंने यह सफर पूरा किया। काबुल में सुभाषबाबू दो महीनों तक उत्तमचंद मल्होत्रा नामक एक व्यापारी के घर में रहे। वहां उन्होंने पहले इटालियन रूसी दूतावास में प्रवेश पाना चाहा। इसमें नाकामयाब रहने पर, उन्होंने इटालियन और जर्मन दूतावासों में प्रवेश पाने की कोशिश की। इटालियन दूतावास में उनकी कोशिश सफल रही। इटालियन और जर्मन दूतावासों ने उनकी सहायता की। आखिर में ओर्लांदो मात्सुता नामक व्यक्ति बनकर, सुभाषबाबू काबुल से रेलवे से निकलकर रूस की राजधानी मॉस्को होकर जर्मनी की राजधानी बर्लिन पहुंचे।

नाजी जर्मनी में प्रवास एवं हिटलर से मुलाकात

बर्लिन में सुभाषबाबू सर्वप्रथम रिबनट्रोप जैसे जर्मनी के अन्य नेताओं से मिले। सुभाषचंद्र ने जर्मनी में भारतीय स्वतंत्रता और आजाद हिंद रेडियो की स्थापना की। इसी दौरान सुभाषबाबू, नेताजी नाम से प्रसिद्ध हो गए। जर्मन सरकार के एक मंत्री एडॅम फॉन ट्रॉट सुभाषबाबू के अच्छे दोस्त बन गए। 29 मई, 1942 ई. के दिन, सुभाषबाबू जर्मनी के सर्वोच्च नेता हिटलर से मिले। लेकिन हिटलर को भारत के विषय में विशेष रुचि नहीं थी। उन्होंने सुभाषबाबू को सहायता का कोई स्पष्ट वचन नहीं दिया। अंत में, सुभाषबाबू को पता चला कि हिटलर और जर्मनी से उन्हें कुछ और नहीं मिलने वाला है। इसलिए 8 मार्च, 1943 ई. के दिन, जर्मनी के कील बंदरगाह में, वे अपने साथी आबिद हसन सफरानी के साथ, एक पनडुब्बी में बैठकर, पूर्वी एशिया की तरफ निकल गए। यह पनडुब्बी उन्हें हिंद महासागर में मेडागास्कर के किनारे तक लेकर आई। वहां वे दोनों समुद्र में तैरकर जापानी पनडुब्बी तक पहुंच गए। द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में, किसी भी दो देशों की नौसेनाओं की पनडुब्बियों के दौरान, नागरिकों की यह एकमात्र पनडुब्बी थी। यह पनडुब्बी उन्हें पदांग के बंदरगाह तक लेकर आई।

पूर्वी एशिया पहुंचकर सुभाषबाबू ने सर्वप्रथम, वयोवृद्ध क्रांतिकारी रासबिहारी बोस से भारतीय स्वतंत्रता परिषद का नेतृत्व संभाला। सिंगापुर के फरेर पार्क में रासबिहारी बोस ने भारतीय स्वतंत्रता परिषद का नेतृत्व सुभाषबाबू को सौंप दिया। 21 अक्टूबर 1943 ई. के दिन, नेताजी ने सिंगापुर में अर्जी–हुकुमत–ए–आजाद–हिंद (स्वाधीन भारत की अंतरिम सरकार) की स्थापना की। वे खुद इस सरकार के राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और युद्धमंत्री बने। इस सरकार को कुल नौ देशों ने मान्यता दी। नेताजी

टिप्पणी

आजाद हिंद फौज के प्रधान सेनापति भी बन गए। पूर्वी एशिया में नेताजी ने अनेक भाषण देकर वहां के स्थानीय लोगों से आजाद हिंद फौज में भरती होने का और उसे आर्थिक मदद करने का आह्वान किया। उन्होंने अपने आह्वान में संदेश दिया 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हे आजादी दूंगा'।

सुभाषचंद्र बोस और आजाद हिंद फौज

कांग्रेस कमेटी और गांधीजी से मतभेद होने के कारण सुभाषचंद्र बोस ने अप्रैल 1939 ई. में कांग्रेस कमेटी से त्याग पत्र देकर 'फॉरवर्ड ब्लॉक' का गठन किया। अंग्रेज सरकार ने उनकी क्रांतिकारी गतिविधियों पर रोकथाम लगाने के लिए उन्हें जुलाई 1940 ई. में कैद कर लिया। सुभाषचंद्र बोस ने जेल में अनशन आरंभ कर दिया और उनकी स्थिति बिगड़ती देखकर उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। 1941 ई. में सुभाषचंद्र बोस कलकत्ता से भाग निकले। सुभाषचंद्र बोस पेशावर, काबुल, मास्को, होते हुए बर्लिन पहुंचे। बोस ने 1941 ई. में बर्लिन में इंडियन लीजन की स्थापना की, किंतु जब जर्मनी ने इसे रूस के विरुद्ध प्रयुक्त करने का प्रयास किया तब कठिनाई उत्पन्न हो गई और बोस ने दक्षिण–पूर्वी एशिया जाने का निश्चय किया। सुभाषचंद्र बोस जर्मन और जापानी पनडुब्बियों द्वारा 2 जुलाई, 1943 ई. को सिंगापुर पहुंचे। वहां से वे टोकियो गए और उसके बाद ही जापान के प्रधानमंत्री तोजो ने घोषणा की कि जापान भारत पर कब्जा करना नहीं चाहता। बोस जापान से सिंगापुर लौट गए और वहां उन्होंने 21 अक्टूबर, 1943 ई. को स्वाधीन भारत की सरकार गठित की तथा 'दिल्ली चलो' का नारा दिया। इस सरकार ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी, जापान तथा उनके समर्थक देशों ने इस सरकार को मान्यता भी दे दी। इसके बाद सुभाषचंद्र बोस ने रंगून और सिंगापुर में आजाद हिंद फौज के मुख्यालय बनाए और फौज को पुनर्गठित करना शुरू कर दिया। नागरिकों में से भी भरतियां की गईं, पैसा जमा किया गया और रानी झांसी रेजीमेंट के नाम से महिला सैनिकों का भी एक दल बनाया गया। 6 जुलाई 1944 ई. को सुभाषचंद्र बोस ने आजाद हिंद रेडियो पर बोलते हुए गांधीजी को संबोधित किया, "भारत की स्वाधीनता का आखिरी युद्ध शुरू हो चुका है। राष्ट्रपिता! भारत की मुक्ति के इस पवित्र युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएं चाहते हैं।" मार्च और जुलाई 1944 ई. के बीच आजाद हिंद फौज भारतीय भूमि पर सक्रिय रही। अगले वर्ष जापानियों के हार जाने पर आजाद हिंद फौज के सैनिक बंदी बना लिए गए और सुभाषचंद्र बोस रहस्यमय ढंग से गायब हो गए। कहा जाता है कि वे विमान दुर्घटना में मारे गए। जापान के आत्मसमर्पण के बाद जब आजाद हिंद फौज के सिपाहियों को युद्ध बंदी के रूप में भारत लाया गया और उन्हें कठोर दंड देने के प्रयास होने लगे, तो एक और आंदोलन छिड़ गया।

महत्व

सैन्य दृष्टि से आजाद हिंद फौज का महत्व बहुत अधिक नहीं रहा और यदि वह अधिक प्रभावी होती तो भी उसका आगमन बहुत देर से हुआ था, क्योंकि 1944 ई. तक धुरी शक्तियां पीछे हटने लगी थीं। भारत का भूमिगत फॉरवर्ड ब्लॉक इंफाल तथा कोहिमा पर हुए आक्रमण को समर्थन दे सकता था, किंतु उसे पहले ही कुचला जा चुका था। फिर भी, अप्रभावी ढंग से ही सही, देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ रही एक वास्तविक सेना ने देशभक्तों के मानस पर जो प्रभाव डाला, उसके महत्व को कम करके नहीं आंकना चाहिए। नवंबर 1945 ई. में अंग्रेजों द्वारा आजाद हिंद फौज के सैनिकों पर मुकदमा चलाए

जाने के प्रयास के फलस्वरूप तत्काल सारे देश में भारी प्रदर्शन आरंभ हो गए। इससे भी अधिक अर्थ पूर्ण यह था कि आजाद हिंद फौज के अनुभवों और 1945–46 ई. की शीत ऋतु में ब्रिटिश–भारतीय सेना में फैलने वाले असंतोष की लहर के बीच कदाचित कुछ संबंध अवश्य रहा होगा। स्वाधीनता आंदोलन के अंतिम चरण में आंदोलन को अधिक तीव्र तथा प्रभावी बनाने में आजाद हिंद फौज की भूमिका महत्व पूर्ण रही।

अपनी प्रगति जांचिए

3. किसकी राजनीतिक रणनीति इस विश्वास पर आधारित थी कि महज अनुग्रह से ब्रिटिश शासन में सुधार लाए जा सकते हैं?

   (क) नरमपंथियों की (ख) चरमपंथियों की

   (ग) कांग्रेस की (घ) जनसंघ की

4. कर्जन प्रशासन के शरारती कदमों ने किसके गुस्से को आसमान पर पहुंचा दिया?

   (क) उदारवादियों के (ख) समाजवादियों के

   (ग) विचारवादियों के (घ) राष्ट्रवादियों के

2.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (क)
4. (घ)

2.5 सारांश

उदारवादी एवं चरमपंथी चिंतन ने प्रत्येक संदर्भ में नवीन दिशा प्रदान की। उदारवाद एवं चरमपंथ भारतीय स्वतंत्रता आंदोलनों के प्रारंभिक काल में विशेष तथा पृथक महत्व रखता है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना तथा पाश्चात्य शिक्षा नीति ने जिस राजनीतिक चेतना का प्रसार भारत में किया, उदारवाद एवं चरमपंथ उसी संचार का प्रतिस्वरूप है।

इस नवीन चेतना के प्रसार ने भारतीयों को दो वर्गों में विभाजित किया। एक वर्ग इप पाश्चात नीतियों से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि इन नीतियों के अतिरिक्त और इन नीतियों के विरुद्ध कुछ अन्य मानने व जानने को तैयार ही नहीं था। वहीं दूसरी ओर भारतीय चिंतकों का एक ऐसा वर्ग था जिसका उद्देश्य पाश्चात्य विचार एवं चकाचौंध को समाप्त कर भारतीय संस्कृति एवं गौरव की पुनर्स्थापना करना था तथा विचारों का भारतीयकरण करना था। तथापि ये दोनों चिंतक अनेक विचारों एवं समस्याओं पर विपरीत दृष्टिकोण रखते हुए भी समान रूप से स्वाधीनता प्राप्ति के लिए दृढ़–संकल्पित रहे। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप दोनों विचारधाराओं में समन्वयन प्रारंभ

टिप्पणी

हुआ तथा इसी समन्वय का परिणाम भारत की स्वतंत्रता के लिए उत्तरदायी माना गया।

यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है कि उदारवाद एवं चरमपंथ ये दोनों ही अभिधान कालवाची अथवा समयवादी कहे जा सकते हैं। जैसा कि बाल गंगाधर तिलक का कथन है, "आज के उदारवादी कल के चरमपंथी थे। इसी प्रकार आज के चरमपंथी कल के उदारवादी हो जाएंगे।" अतः इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदारवादी एवं चरमपंथी दोनों ही विचारधाराएं परिवर्तनशील हैं। जिस प्रकार तिलक ने अपना राजनीतिक जीवन एक उदारवादी के रूप में प्रारंभ किया किंतु समय के साथ ब्रिटिश शासन की नीतियों के प्रति बढ़ते आक्रोश एवं विरोध ने उन्हें चरमपंथी विचारक बना दिया। उदारवाद का तात्पर्य ऐसे वर्ग विशेष से था जो ब्रिटिश नीतियों द्वारा निर्मित व्यवस्था पर अगाध निष्ठा रखता था और जिसे परिवर्तनों में कोई विशेष अभिरुचि नहीं थी।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 1885 से 1892 तक 7 वर्षों के संवैधानिक सुधार के प्रयत्नों का परिणाम 'भारतीय परिषद अधिनियम' का गठन मात्र था जो कि स्वयं ही त्रुटियों एवं कमियों से भरा हुआ था और राष्ट्रीय कांग्रेस तथा सामान्य जनमानस को संतुष्ट न कर सका। इस अधिनियम के अंतर्गत औपनिवेशिक तथा प्रांतीय विधान परिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 6–10 तथा पुनः 10–16 कर दी गई। इनमें से कुछ सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता था। सरकारी बहुमत यथावत ही बना रहा। सदस्यों को वार्षिक बजट पर बहस करने का अधिकार भी दिया गया लेकिन उस पर मतदान एवं संशोधन करने के अधिकार नहीं दिए गए। उनको प्रश्न पूछने का अधिकार तो था किंतु उत्तर से उत्पन्न पूरक प्रश्न पूछने का कोई अधिकार नहीं था। प्राप्त उत्तरों पर भी किसी प्रकार की कोई बहस नहीं कर सकते थे। इस अधिनियम की त्रुटियों के कारण संवैधानिक पद्धति के आधार पर कुछ भी हासिल होने की आशा धूमिल हो गई थी।

इसी असफलता के दौर में कांग्रेस में तथा कांग्रेस के बाहर एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो क्रमिक परिवर्तन की जगह आधारभूत परिवर्तन तथा विनम्रतापूर्वक निवेदन के स्थान पर आंदोलन के मार्ग पर अग्रसर होने पर बल देने वाला था। चरमपंथी 1892 के अधिनियम से पूर्णतः असंतुष्ट थे और उन्होंने इस अधिनियम को भारतीयों का अपमान बताया। सभी परिषदें क्रियाहीन थीं तथा ब्रिटिश शासन पूर्णतः निरंकुश था तथा उदारवादी (नरमपंथी) उनकी कृपा पाने हेतु सिर झुकाए विनम्रता को ओढ़े बैठे थे। जबकि उग्रवादियों की मांग यह थी कि विधान परिषदों में गैर–सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो तथा उन्हें बजट पर मतदान करने एवं इस प्रकार सार्वजनिक कोष पर नियंत्रण का अधिकार रहे। उनका यह नारा था कि– "प्रतिनिधित्व के बिना कर नहीं।"

इसी कालक्रम में बहुत से राष्ट्रीय नेताओं जैसे दादा भाई नौरोजी ने 1904 में, गोपाल कृष्ण गोखले ने 1905 में और लोकमान्य तिलक ने 1906 में कनाडा तथा ऑस्ट्रेलिया के स्वशासित उपनिवेशों के मॉडल पर भारत में स्वशासन की मांग रखना प्रारंभ कर दी। इसी श्रृंखला में 1893 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी ने ये विचार व्यक्त किए– "1892 के अधिनियम के अनुसार किसी सदस्य को कोई भी प्रस्ताव पारित करने का अधिकार नहीं होगा, न

ही वित्तीय विचार विनिमय में सदन का मत विभाजन मांगने का और न ही इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों को समाप्त करने अथवा उनमें परिवर्तन करने का अधिकार उस सभा को होगा जो कानून तथा नियम बनाने के लिए बुलाई जाएगी। इस प्रकार हम लोग सभी अभिप्राय तथा उद्देश्य के लिए एक ननमानी सरकार के अधीन होंगे।"

उदारवादी विचारधारा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को व्यवस्थित करने का माध्यम थी। उदारवाद ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता को एक ठोस आधार एवं दिशा भी दी। इसके प्रारंभिक नेता कांग्रेस से ही थे, अपितु यदि यह कहा जाए कि कांग्रेस के प्रारंभिक बीस वर्ष की अवधि (1885–1905) को 'उदारवादी राष्ट्रीयता' कहा जाता है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगा। क्योंकि इस समयावधि में कांग्रेस अत्यंत उदारवादी नीतियों पर ही चल रही थी तथा भारतीय कांग्रस के प्रमुख नेतृत्वकर्ता दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दिनशा वाचा तथा सुरेंद्रनाथ बनर्जी जैसे उदारवादी नेता थे। उदारवादी राजनीतिक काल स्पष्टतः कुछ निश्चित चरणों में विभाजित था तथा इसका उद्देश्य ब्रिटिश शासन को भारत से उखाड़ फेंकना न होकर उसमें सुधार लाना था। उनका मत था कि संवैधानिक मार्ग को अपनाकर भारतीय हित की समस्त मांगों को प्रार्थना–पत्रों एवं याचिकाओं के माध्यम से ब्रिटिश सरकार के समक्ष रख कर मनवा लेंगे।

उदारवादी (नरमपंथियों) का यह दृढ़ विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता को प्राप्त करने में समय तो लगेगा किंतु अंत में अन्य उपनिवेशों की भांति भारत भी स्वतंत्र हो जाएगा। इस कारण उन्होंने क्रमशः संवैधानिक सुधारों, प्रशासनिक सुधारों तथा राजनीतिक अधिकारों की मांग रखी। उदारवादी नेताओं को ब्रिटिश शासन व्यवस्था पर अपार विश्वास था। उनका यह मानना था कि यदि भारतीयों की दुर्दशा का समाचार ब्रिटेन तक पहुंच जाएगा तो उन्हें न्याय अवश्य मिलेगा और सब ठीक हो जाएगा।

सन 1905 ई. में 'बंगाल के विभाजन' और 'स्वदेशी आंदोलन' से भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में नए युग की शुरुआत मानी जाती है। तब, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सामाजिक आधार विस्तृत हुआ तथा इसका नेतृत्व अपेक्षाकृत अधिक उग्र लोगों के हाथों में आ गया। उसी समय, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में तेज मतभेद भी उभरे जिनकी चरम परिणति देश में क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के प्रसार के रूप में देखी गई। क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों का ध्येय स्वराज और स्वदेशी की प्राप्ति था और इसके लिए उन्होंने बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध जैसी रणनीतियों को संघर्ष के साधन के रूप में इस्तेमाल किया। इसके परिणामस्वरूप कांग्रेस के भीतर उग्रपंथियों और उसके बाहर क्रांतिकारियों का उदय हुआ।

2.6 मुख्य शब्दावली

- **अभिधान** : नाम, उपाधि, कथन, शब्द।
- **अभ्युदय** : वृद्धि, समृद्धि, उत्सव, आरंभ।
- **कुठाराघात** : घातक चोट, कुल्हाड़ी का घाव।
- **पुनरुत्थान** : नवोत्थान, पुनर्जागरण, कला और साहित्य का पुनर्जन्म।

- **अग्रगण्य** : मुख्य, गणना में पहले आनेवाला।
- **फलित** : सफल, फलीभूत।

टिप्पणी

2.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. उदारवाद तथा चरमपंथ का किस काल में विशेष और पृथक महत्व था?
2. किस वर्ष और किसके प्रयासों से उदारवादी और चरमपंथी विचारधाराओं का पुनः मेल हुआ?
3. उदारवादी एवं चरमपंथी विचारधाराएं किसके प्रति समर्पित थीं?
4. यह बात कब स्पष्ट हुई कि उदारवादी नेता भारत में अंग्रेजों की नीतियों और प्रशासन में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने में पूरी तरह असमर्थ रहे थे?
5. वर्ष 1892–1905 के बीच की किन बातों ने राष्ट्रवादियों को निराश किया?

दीर्घ–उत्तीरय प्रश्न

1. उदारवाद तथा चरमपंथ की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. उग्रराष्ट्रवाद के उदय के कारणों की समीक्षा कीजिए।
3. उदारवादी विचारधारा पनपने और विकसित होने की क्रमबद्ध व्याख्या कीजिए।
4. क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के उद्‌भव के कारणों पर प्रकाश डालिए।
5. क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की विवेचना कीजिए एवं इसका ध्येय स्पष्ट कीजिए।

2.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी ए. और अवस्थी आर. के., *आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन* (नई दिल्लीः रिसर्च पब्लिकेशन, 1997)।
2. ए. आचार्य, *'लिबरलिज्म'*; आर. भार्गव एवं ए. आचार्य (संपा) *पॉलिटिकल थ्योरी : एन इन्ट्रोडक्शन,* (नयी दिल्लीः पियर्सन, 2008) पृ. 236–243।
3. ए. डी. आशीर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्र, *राजनीतिक विज्ञान,* (नई दिल्ली : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1992) 11वां हिन्दी संस्करण।
4. ऐलन रेयान, *'लिबरलिज्म'*; आर. गुडिन एवं पी. पेटिट (संपा). *ए कम्पेनियन टु कंटम्परेरी पॉलिटिकल फिलासफी,* (ऑक्सफोर्डः ब्लैकवेल, 1993) पृ. 360–362।
5. चंद्रा बी, *हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्लीः ओरिएंट ब्लैक्स्वान, 2009)।
6. प्रधान आर सी (2008), *राज टू स्वराज,* नई दिल्ली : मैकमिलन इंडिया लिमिटेड।
7. बारिया धरमपाल, *गोपालकृष्ण गोखले* (दिल्ली : मनोज पब्लिकेशन्स, 2003)।
8. वर्मा वी. पी., *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* (आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, 2009)।

इकाई 3 गांधीवाद, उदारवाद

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 गांधीवाद
  3.2.1 गांधीजी के अंहिसा संबंधी विचार
  3.2.2 सत्याग्रह
  3.3.3 अपरिग्रह
3.3 उदारवाद
3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.5 सारांश
3.6 मुख्य शब्दावली
3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

गांधी जी ने स्वयं किसी भी वाद या मत को शुरू नहीं किया था। उनके अपने मत और सिद्धांत थे, जिन पर चलकर उन्होंने देश के हित में योगदान दिया था। भारत में महात्मा गांधी के कार्यों और व्यक्तित्व से लगभग सभी समझदार लोग परिचित हैं। बापू अथवा गांधी जी के व्यक्तित्व से वस्तुतः भारत का बच्चा–बच्चा तक परिचित है। दरअसल यही गांधी जी के व्यक्तित्व की विशेषता है। भारतीय रुपयों पर छपी गांधी जी की तस्वीर या पुस्तकों में उन पर छपे लेखों के माध्यम से भारत का छोटा बच्चा भी बापू को जान और पहचान लेता है और स्कूलों में 2 अक्टूबर को होने वाला कार्यक्रम भी बापू के व्यक्तित्व की कहानी कह देता है। गांधी जी के सिद्धांतों और नीतियों का निचोड़ ही गांधीवाद है।

जहां तक उदारवाद की बात है, तो यह राजनीतिक सिद्धांत की एक विशेष विचारधारा है। वास्तव में वर्तमान राजनीतिक विचारधाराओं में से उदारवाद की परिपाटी सबसे अधिक पुरानी है। उदारवादी परंपरा की शुरुआत एवं इसका विकास यूरोप के पुनर्जागरण और धर्म के सुधार वाले आंदोलनों से संबद्ध है।

प्रस्तुत इकाई में गांधीवाद के अंतर्गत गांधी जी के विचारों, उनके अहिंसक आंदोलनों और सत्याग्रह आदि की विवेचना की गई है तथा उदारवादी विचारधारा और उसकी विशेषताओं का अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- महात्मा गांधी के मूल विचारों का मर्म जान पाएंगे;
- गांधी जी के अहिंसा वाले विचारों को समझ पाएंगे;

टिप्पणी

- सत्याग्रह के स्वरूप और उसकी तकनीक से परिचित हो पाएंगे;
- उदारवाद की विशेषताओं के महत्व को परख पाएंगे;
- भारत की उदारवादी विचारधारा की विशेषता को समझ पाएंगे;
- भारतीय उदारवाद के मौलिक लक्षणों के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाएंगे।

3.2 गांधीवाद

महात्मा गांधी ने किसी भी 'वाद' की शुरुआत नहीं की। उन्होंने समय–समय पर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषयों पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। आगे चलकर विभिन्न लोगों ने इन विचारों को इकट्ठा किया और उसे 'गांधीवाद' का नाम दे दिया। गांधीवाद सिद्धांतों का ढोंग, नियमों या नीतियों, रोक या संकोच का संग्रह नहीं है, बल्कि जीवन का एक रास्ता है। यह जीवन के विषयों के प्रति एक नया नजरिया पेश करता है तथा आधुनिक समस्याओं के लिए प्राचीन निदान उपलब्ध कराता है। महात्मा गांधी के कुछ मूल विचार निम्नानुसार हैं–

1. **कोई राजनीतिक पंथ नहीं, बल्कि शाश्वत सत्य का प्रयोग**– 1936 में, महात्मा गांधी ने कहा था– "गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है और मैं अपने बाद कोई पंथ छोड़कर नहीं जाना चाहता। मैं यह दावा नहीं करना चाहता कि मैंने कोई नया सिद्धांत या मत दिया है। मैंने इतना भर प्रयास किया है कि शाश्वत सत्य को हमारे दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं पर कैसे लागू किया जाए। इसलिए मेरे द्वारा किसी प्रकार की संहिता छोड़ जाने का प्रश्न नहीं है, जैसे कि मनु संहिता थी।"

   गांधी के विचार रस्किन, थोरो और टॉल्स्टॉय से प्रभावित थे। उनके राजनीतिक विचारों में धार्मिक सिद्धांतों को भी शामिल किया गया था। गांधी मानते थे कि वेदों, भगवद्गीता, बाइबल, कुरान और अन्य शास्त्रों ने उनके विचारों को प्रभावित किया है। गांधीवादी विचारों की नींव सत्य पर रखी गई थी। गांधी के अनुसार, "सत्य मेरे लिए संप्रभु सिद्धांत है, जिसमें कई अन्य सिद्धांत शामिल हैं, तथा हमारी संकल्पना का आधार सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि संपूर्ण सत्य और वह शाश्वत सिद्धांत है, जिसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर की कई परिभाषाएं हैं, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति असंख्य रूप में होती है। वे मुझे आश्चर्य और विस्मय से अभिभूत कर देते हैं और कुछ पलों के लिए तो मुझे सन्न कर देते हैं। लेकिन मैं ईश्वर को सिर्फ सत्य के रूप में ही पूजता हूं।" इस प्रकार, गांधी के विचारों में सत्य को एक महास्थान प्राप्त है। गांधी का सत्य कोई विशिष्ट या गैर–परंपरागत अवधारणा नहीं थी, उन्होंने बस इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया कि सबसे आम आदमी और ज्यादातर मुख्य धारा के दार्शनिक भी उसे सहजता से स्वीकार कर सकें। सत्य का इस्तेमाल सरल रूप में यथार्थ के लिए किया जाता है और हमारे तथा इसके बीच एक अनुकूलता का संबंध होता है। इसलिए एक विश्वास तब तक सत्य होता है जब तक वह यथार्थ के अनुरूप होता है। 'सत्य ही ईश्वर है' क्योंकि यह उच्चतम अच्छाई है, जो हमारे अस्तित्व का स्वाभाविक लक्ष्य होता है। गांधीवादी दर्शन के मुताबिक,

टिप्पणी

मनुष्य अनिवार्य रूप से सत्य की तलाश करने वाले होते हैं। यह हमारा स्वतंत्र विवेक होता है – यथार्थ से संगत विश्वासों को ग्रहण करने की हमारी क्षमता होती है तथा अपने व्यवहारों को मानदंड पर कसे गए सिद्धांतों के अनुरूप ढालने की क्षमता होती है, जिससे हमारे जीवन को अर्थ मिलते हैं और जिन्हें नैतिकता पर आधारित होना चाहिए।

2. **राजनीति का आध्यात्मीकरण**– अकसर राजनीतिक विचारकों और इतिहासकारों में इस बात को लेकर बहस छिड़ी कि क्या गांधी राजनीतिज्ञों के बीच एक संत थे या संतों के बीच एक राजनीतिज्ञ। इसके बावजूद, यह कहा जा सकता है कि गांधी उस प्रकार के नेता नहीं थे जैसा कि सामान्य रूप से नेताओं के बारे में सोचा–समझा जाता है। उन्होंने अपने अहिंसात्मक आंदोलन की शुरुआत के समय और उसके लिए अपनाए जाने वाले तौर–तरीकों को चुनने में असमान्य चातुर्य और बुद्धि का परिचय दिया। इसी ने उन्हें उन सारे राजनीतिज्ञों का आदर्श बना दिया, जो भारत की स्वतंत्रता के संघर्ष में शामिल थे।

   एक बार गांधी ने कहा था कि नेताओं को त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होना चाहिए। उन्होंने साधनों के इस्तेमाल पर जोर देते हुए कहा था कि सही और न्यायपूर्ण साध्य की प्राप्ति के लिए उचित और न्यायपूर्ण रास्तों को ही अपनाना चाहिए। इस प्रकार उनके मुताबिक, चाहे किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाए साधन और साध्य दोनों एक ही हैं। गांधी ने अपने पूरे जीवन में राजनीति में नैतिक मूल्यों को शामिल किये जाने पर जोर दिया ताकि इसे भौतिकवाद के मूल्यों से मुक्त रखा जाए। इस प्रकार उन्होंने राजनीति में 'आध्यात्मिक' मूल्यों का समावेश किया।

3. **राज्य एक निष्प्राण मशीन है जो व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है**– अहिंसा और दार्शनिक अराजकतावाद के समर्थक गांधी, राज्य के खिलाफ थे। उनके राज्य विरोधी दृष्टिकोण को ऐतिहासिक, नैतिक और आर्थिक आधारों पर जायज ठहराया गया था। गांधी के अनुसार, राज्य ताकत का प्रयोग करता है और उसके अस्तित्व को नैतिक आधारों पर सही नहीं ठहराया जा सकता है। ताकत के प्रयोग से राज्य किसी व्यक्ति के कार्य को नैतिक मूल्यों से विहीन कर देता है। व्यक्ति के अंदर एक आत्मा होती है, लेकिन राज्य चूंकि एक निष्प्राण मशीन है इसलिए, 'इसे उस हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता जिसके कारण उसका अस्तित्व है।' राज्य व्यक्तित्व को नुकसान पहुंचाकर प्रगति में बाधक बनता है और शक्ति पर अपनी बहुत ज्यादा निर्भरता से यह बेहद नुकसानदेह साबित होता है। गांधी एक राज्य विहीन लोकतंत्र को आदर्श मानते थे, जिसमें ग्रामीण समुदायों का एक संघ हो, जो स्वैच्छिक सहयोग से कार्य करते हों और जिनका शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व हो। गांधी ने लिखा– 'इस प्रकार प्रत्येक गांव एक गणतंत्र या पंचायत होगा जिसके पास पूरे अधिकार होंगे।' इस प्रकार, इसके मुताबिक प्रत्येक गांव आत्मनिर्भर और अपने मामले खुद निबटाने में सक्षम होना होगा, यहां तक कि पूरे विश्व के सामने अपनी रक्षा की आवश्यकता हो तो वह भी कर सके। इस प्रकार का समाज अधिकाधिक रूप से सुसंस्कृत होता है जहां प्रत्येक पुरुष या स्त्री को यह ज्ञान होता है कि उसे

क्या चाहिए और क्या जरूरत से ज्यादा है, वे यह भी जानते हैं कि किसी को भी इतनी इच्छा रखने का अधिकार नहीं है कि समान श्रम से दूसरे लोग उसे प्राप्त न कर सकें।

टिप्पणी

4. **विकेंद्रीकरण, भोजन, श्रम और वर्ग–विहीन समाज**– किसी भी लोकतंत्र में जो अस्तित्व में है, वहां काफी हद तक केंद्रीकरण और असमानता होती है, जबकि गांधीवाद ने ज्यादा जोर विकेंद्रीकरण और समानता पर दिया है। गांधी ने लिखा है– "यदि सभी किसी दूसरी चीज की बजाय अपने–अपने भोजन के लिए श्रम करें तो सभी के लिए पर्याप्त खाना और पर्याप्त आराम का समय होगा। फिर न अधिक जनसंख्या की चीख–पुकार मचेगी, न बीमारी होगी और न ही ऐसी गरीबी जो हम अपने आसपास देखते हैं। कोई अमीर नहीं होगा, कोई गरीब नहीं रहेगा, न कोई ऊंचा होगा न नीचा, न स्पृश्य और न ही अस्पृश्य।"

   गांधीवाद इस बात को मानता है कि राज्य जिस रूप में अभी है, उसमें व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है, जबकि राज्यविहीन लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को सर्वाधिक स्वतंत्रता दी जाती है ताकि वह स्वयं को अपने कौशल और क्षमता के अनुसार समाज सेवा में लगा सके। एक आलोचक के मुताबिक– "गांधी वर्ग–विहीन, समतावादी समाज में विश्वास करते थे जहां अमीर और गरीब, ऊंचा और नीचा का कोई भेद नहीं होगा। कुछ मामलों में, वे रूढ़िवादी समाजवादियों से भी यहां तक आगे निकल गए कि वे किसी को भी अनिवार्य रूप से समाज के लाभदायक सशरीर–श्रम से मुक्त करने को तैयार नहीं थे।"

   गांधी व्यापक रूप से केंद्रीकृत उत्पादन के भी खिलाफ थे और चाहते थे कि भारत में विकेंद्रीकृत उत्पादन को अपनाया जाए। इसके पीछे मशीनरी को पूरी तरह से हटाने का विचार नहीं था, बल्कि सत्ता को कुछ लोगों के हाथों में जाने से रोकना था। गांधीवादी अर्थव्यवस्था की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं इस प्रकार हैं–

   - मशीनी, बड़े पैमाने की या सामूहिक खेती की बजाय गहन, लघु और सहकारी खेती;
   - कुटीर उद्योगों का विकास;
   - निजी स्वामित्व, बशर्ते उससे समाज का फायदा हो;
   - पशु, मनुष्य और पौधों के जीवन में व्यवस्थित संतुलन;
   - सामाजिक न्याय तथा सभी को समान आर्थिक अवसरों का प्रावधान;
   - विकेंद्रीकरण के माध्यम से अर्थव्यवस्था और ग्राम पंचायतों का संगठन।

5. **अहिंसा**– महात्मा गांधी विचारों, शब्दों और कर्मों से हिंसा के विरुद्ध थे। महात्मा गांधी के अनुसार, "अहिंसा इतनी असभ्य चीज नहीं है जैसा कि इसे बना दिया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि किसी जीवित वस्तु को चोट न पहुंचाना अहिंसा है, लेकिन यह इसका सबसे संक्षिप्त वर्णन है। अहिंसा का सिद्धांत यह कहता है कि किसी के विचारों, बिना वजह की जल्दबाजी, झूठ बोलकर, नफरत से या उसे नुकसान पहुंचाने की बात सोचना भी हिंसा है। इसका उल्लंघन इस

प्रकार भी होता है कि विश्व को जिसकी आवश्यकता है उसे हम अपने कब्जे में कर लें।"

टिप्पणी

6. **संपत्ति भरोसे का न कि शोषण का औजार हो**– गांधी संपत्ति का इस्तेमाल शोषण के औजार के रूप में किये जाने के खिलाफ थे। गांधी के अनुसार, पूंजीवाद और शोषण को अहिंसात्मक उपायों से हटाया जाना चाहिए। गांधी जी के सिद्धांत ने निजी और गैर–निजी संपत्ति में कोई भेद नहीं किया। गांधी के लिए, सारी संपत्ति ट्रस्ट के नियंत्रण में होनी चाहिए। फिर चाहे उसका स्वामी कोई भी हो या फिर उसकी मात्रा और प्रकृति कैसी भी हो। इसका अर्थ है कि समाज की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समतावादी समाज की व्यवस्था में बदला जाए। संपत्ति को मुनाफे का साधन नहीं बल्कि लोगों के कल्याण का साधन होना चाहिए। गांधी ने कहा था– "किसी के पास उसकी जरूरत से ज्यादा संपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

7. **अच्छा साध्य और अच्छे साधन**– गांधी जी अच्छे साध्य और अच्छे साधन के पक्ष में थे। उनके अनुसार, साध्य कभी भी साधन को सही नहीं ठहरा सकता है। गांधीवादी राज्य की स्थापना के लिए, सिर्फ न्यायोचित साधनों का इस्तेमाल होना चाहिए। अहिंसा और सत्य गांधी की तकनीकों की आत्मा है। गांधी ने एक बार कहा था– "साधनों की तुलना बीजों से, साध्य की वृक्ष से की जानी चाहिए और तब यह देखा जा सकता है कि जैसा पवित्र रिश्ता साधन और साध्य का है, वैसा ही बीज और वृक्ष का भी होता है।" इस प्रकार, साध्य और साधन हर हाल में अच्छे होने चाहिए।

8. **सत्याग्रह**– गांधी के लिए, सत्याग्रह अहिंसात्मक आंदोलन का हथियार है। गांधी के अनुसार, बुराई का विरोध सत्याग्रह की तकनीकों से किया जाना चाहिए, जो आत्मा के बल पर काम करने वाला एक हथियार है और जो शारीरिक बल से भी उच्च कोटि का है। सत्याग्रह का अर्थ है– 'सत्य से जुड़ा हुआ और चूंकि गांधी के सत्य ही ईश्वर हैं, इसलिए सत्याग्रह का सामान्य शाब्दिक अर्थ यह हुआ कि यह जीने का ऐसा तरीका है जिसे ईश्वर में विश्वास करने वाला व्यक्ति अपनाता है और ईश्वर के प्रति अपने जीवन को समर्पित कर देता है। इस प्रकार एक सच्चा सत्याग्रही देवात्मा है।'

   महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का अर्थ निम्नानुसार समझाया है–

   मैंने सत्याग्रह शब्द को दक्षिण अफ्रीका में गढ़ा था जिसका इस्तेमाल वहां रहने वाले भारतीयों ने अपनी भावनाओं को अगले आठ वर्षों तक अभिव्यक्त करने के लिए पूरी ताकत से किया। साथ ही मैंने इस आंदोलन को यूनाइटेड किंग्डम और दक्षिण अफ्रीका में चल रहे शांतिपूर्ण आंदोलन से अलग करने के लिए भी सत्याग्रह शब्द को गढ़ा। इसका मूल अर्थ है– 'सत्य के साथ रहना, या सत्य की शक्ति। मैंने इसे प्रेम–बल या आत्म–बल भी नाम दिया है।' सत्याग्रह इनका रूप भी ले सकता है–(क) असहयोग, (ख) उपवास, (ग) हड़ताल, (घ) सविनय अवज्ञा, (ङ) धरना, (च) हिजरत यानी स्वैच्छिक निर्वासन। किसी भी सत्याग्रही को अहिंसात्मक आंदोलन चलाने के लिए खुद को अनुशासन, शुद्धता, साहस और सविनय से लैस करना होगा।

टिप्पणी

9. **राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रीयता के बीच सद्भाव**– गांधी ने राष्ट्रवाद के महत्व को उसके सबसे आदर्श रूप में रखने पर जोर दिया है। वे हिंसा और आक्रामक तौर–तरीकों पर आधारित राष्ट्रवाद के विरुद्ध थे। वे विश्व शांति के पक्षधर थे और चाहते थे कि राष्ट्रवाद और अंतर्राष्ट्रीयता के बीच सद्भाव हो। किसी भी देश के नागरिकों को देशभक्त होना चाहिए, लेकिन उन्हें दूसरे देश के लोगों के साथ भी दोस्ताना संबंध रखने चाहिए। एक बार उन्होंने कहा था– "गहन अंतर्राष्ट्रीयता ही मेरा राष्ट्रवाद है।"

10. **अस्पृश्यता**– अस्पृश्यता के खिलाफ चलाया गया आंदोलन, गांधी की विचारधारा का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू था। सितंबर, 1932 में, गांधी ने नये संविधान के मुताबिक किये गए चुनावी इंतजामों में तथाकथित 'अस्पृश्यों' के खिलाफ बरते जा रहे भेदभाव के विरुद्ध उपवास शुरू कर दिया। गांधी का उपवास उस जड़ता और पूर्वाग्रह से तर्क को अलग करना था जिसने अस्पृश्यता जैसी बुराई को फलने–फूलने दिया था, जिसने लाखों हिंदुओं को अपमान, भेदभाव और कष्ट के अभिशाप में धकेल दिया था।

    उपवास की घोषणा के तुरंत बाद, लोगों की भावनाएं उमड़ने लगीं। मंदिरों, कुओं और सार्वजनिक स्थलों के दरवाजे 'अस्पृश्यों' के लिए खोल दिए गए। हिंदू नेताओं ने अस्पृश्यों के प्रतिनिधियों से मुलाकात की। एक वैकल्पिक चुनावी व्यवस्था पर सहमति बनी तथा उसे ब्रिटिश सरकार की मंजूरी मिलने के बाद ही गांधी ने अपना उपवास खत्म किया। इसके बाद गांधी ने अपने आप को पूरी तरह अस्पृश्यता के विरुद्ध चलाए जा रहे आंदोलन के प्रति समर्पित कर दिया। गुजरात के संत कवि नरसिंह मेहता ने 15वीं सदी में देवदासियों के बच्चों को पुकारने के लिए हरिजन शब्द का इस्तेमाल किया था। गांधी जी ने इस शब्द को अपनाया और 'अस्पृश्यों' को हरिजन कहने लगे। गांधी की प्रेरणा से, एक नये संगठन हरिजन सेवक संघ की स्थापना हुई जिसने अस्पृश्यता के खिलाफ संघर्ष किया और जिसके तहत एक नया साप्ताहिक अखबार 'हरिजन' शुरू हुआ। हालांकि, यहां इस बात का जिक्र करना महत्वपूर्ण है कि भीमराव अंबेडकर समेत कई लोगों ने गांधी के आंदोलन की कड़ी आलोचना की।

3.2.1 गांधीजी के अंहिसा संबंधी विचार

गांधीजी अंहिसा के विचार के मौलिक विचारक नहीं थे, परंतु वे राजनीति में वृहत स्तर पर अंहिसा का प्रयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। अंहिसा जैसी कि गांधीजी द्वारा अनुकरण व क्रियान्वित की गई अपने–आप में शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने का नाम नहीं है। संक्षेप में, हम इसको सत्याग्रह कह सकते हैं, जिसका अर्थ है– पूर्ण नैतिकता व आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा बुराई का प्रतिकार। अंहिसा हमारा आत्मिक बल है तथा भगवान की वह शक्ति है, जो कि हममें ही निहित है। यह आत्मबलिदान में निहित है तथा आत्मपीड़ा से प्रेरित है। गांधीजी के शब्दों में– ''बुराई के सामने यह कमजोर का आत्मसमर्पण नहीं है। यह एक नकारात्मक शक्ति नहीं है, यह एक ऐसा सकारात्मक बल है, जो कि विद्युत से भी ज्यादा सकारात्मक है। अति हिंसा को अति अंहिसा के द्वारा ही मारा जा सकता है। यह सकारात्मक, गतिशील व निर्माणकारी है।''

टिप्पणी

सत्याग्रह अहिंसक आंदोलनों का शस्त्र है। गांधीजी के अनुसार यह उनके द्वारा सफलतापूर्वक अनुकरण किया जाता है, जो कि शारीरिक और नैतिक रूप से पूर्णतया मजबूत हैं, परंतु उनके द्वारा नहीं जो कि नैतिक रूप से कमजोर हैं। गांधीजी की तकनीक का सबसे प्रारम्भिक बिंदु था कि अंहिसा कमजोर लोगों की ताकत है। यह औरत, बच्चों तथा उन अशिक्षितों द्वारा भी प्रयोग की जा सकती है, जो कि साधारणतया कमजोर समझे जाते हैं। सत्याग्रह का मतलब है– बुराई के प्रतिरोध में गैर–अहिंसक तरीकों का प्रयोग, न कि बुराई के प्रतिरोध में बुराई। यह बुराई पर अच्छाई की जीत है। सत्याग्रह का सबसे मूलभूत सिद्धांत है 'सत्य'। इसीलिए यह सत्य के लिए संघर्ष है। एक सत्याग्रही जो कि अहिंसक संघर्ष कर रहा है, उसे यह देखना चाहिए कि जिसके लिए वह लड़ रहा है, वह एकदम उचित होना चाहिए, ताकि ईश्वर भी उसको मार्ग दिखा सके। जब भी उसे लगे कि सत्य के सिद्धांतों का उल्लंघन हो रहा है, तो उसे इसे स्वीकार करने में हिचकना नहीं चाहिए और वह सब त्याग देना चाहिए जो कि उसने अनुचित माध्यमों से प्राप्त किया है। एक सत्याग्रही के लिए सत्य जीत से ज्यादा महत्वपूर्ण है। इस प्रकार अहिंसक संघर्ष सत्य के सिद्धांत की अनुभूति के बिना असंभव है। यह आधे–अधूरे मन से नहीं किया जा सकता। गांधीजी के अनुसार, यह कहना पर्याप्त नहीं है कि ईश्वर सत्य है, बल्कि सत्य ईश्वर है। इस प्रकार सत्य सत्याग्रही को भगवान के समीप लाता है क्योंकि वह अपनी आज्ञा उसी से लेता है।

गांधीजी का मानना था कि प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर का कुछ न कुछ अंश है और सत्याग्रही इस दैवीय तत्व को प्रेम व आत्मकष्ट के साथ मनुष्य में प्रेरित कर सकता है। सत्याग्रही को मनुष्य की प्रकृति में सोए हुए नैतिक तत्व को जगाना होता है, प्रेम और आत्मकष्ट के द्वारा।

अगर सत्य अहिंसा का मूलभूत आधार है, तो प्रेम एक माध्यम है, जिसके द्वारा यह प्राप्त किया जाता है। गांधीजी के शब्दों में, प्रेम पत्थर से पत्थर दिल को पिघला देता है। गांधीजी ने बल का प्रतिकार किया तथा वे अपने विरोधी को अनुनय–विनय के द्वारा समझाना चाहते थे। उनका यह भी मानना था कि एक व्यक्ति बुरे व्यक्ति से नफरत किए बिना बुराई से नफरत कर सकता है। उन्होंने ब्रिटिश से अपने संबंध में कई अवसरों पर इस बात को साबित भी किया। वे कहते थे– ''यदि मेरा प्रेम निश्चल है, तो मुझे अंग्रेजों से मेरे अविश्वास के बावजूद उनसे प्रेम करना चाहिए।'' एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था– ''गांधी की लड़ाई साम्राज्यवाद से थी, किसी अंग्रेज से नहीं।''

अंहिसा के क्रियान्वयन में, प्रेम इसका आधार है, सत्य इसका शस्त्र। अहिंसा में प्रेम के महत्व को स्वीकार करते हुए गांधीजी लिखते हैं, ''प्रेम कभी दावा नहीं करता, यह हमेशा देता है, प्रेम स्वयं कष्ट सह सकता है, परंतु कभी बदले की भावना से प्रेरित नहीं होता है।'' इस प्रकार गांधीजी के लिए अहिंसा जीवन का पूर्ण दर्शन था। यह सारी मानवता के लिए था। गांधीजी का अपने अनुयायियों की अच्छाई में पूर्ण विश्वास था, जैसा कि उनका स्वयं का ईश्वर में अटूट विश्वास था। गांधीजी का मानवीय सम्भावनाओं में पूर्ण विश्वास था, और उनका मानना था कि मानवीय प्रकृति भूल सुधार से कभी परे नहीं है, अर्थात गलती को सुधारा जा सकता है। साधारणतया सत्याग्रह और उपवास को नैतिक दवाब का साधन मानकर उनकी आलोचना की जाती है। परंतु गांधीजी का मानना था कि सत्याग्रह और उपवास, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक, राजनीतिक व नैतिक दृष्टि से किसी भी तरीके से दवाब के साधन नहीं हो सकते।

टिप्पणी

उपवास महात्मा गांधी के लिए एक प्रार्थना थी। उनका मानना था उपवास हमारी तामसिक मनोवृत्तियों को पवित्र करता है तथा हमारी आत्मा को सद् कार्यों के लिए प्रेरित करता है। उपवास के विषय में गांधीजी का पूर्ण विश्वास था कि व्रत शरीर, मस्तिष्क और आत्मा को साफ रखता है। यह हमारी तामसिक मनोवृत्तियों को पवित्र करता है, जिसके फलस्वरूप आत्मा की मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं। गांधीजी का मानना था कि उनके पास उपवास की आवाज ईश्वर की आवाज के रूप में आई, जो कि उन्हें मानसिक व आध्यात्मिक संघर्ष के बाद मिली थी। उनके उपवास का उद्देश्य था लोगों को नैतिक रूप से प्रभावित किया जाए। सत्याग्रह व उपवास दोनों ही आत्मकष्ट से प्रेरित हों, इनका उद्देश्य है कि मनुष्य में सोए हुए नैतिक मानव को जगाया जाए। इनका तात्पर्य लोगों की सोयी हुई अंतरात्मा को जगाने से है। गांधीजी का अपने शत्रु की नैतिक क्षमता में एक बच्चे की तरह अटूट विश्वास था। एक सत्याग्रही को एक अहिंसक युद्ध लड़ने के लिए अपने–आप को आत्म–अनुशासन, सभ्यता व आंतरिक पवित्रता से तैयार करना पड़ता है। गांधीजी लिखते हैं कि एक सत्याग्रही को गरीबी धारण करनी चाहिए। ईमानदारी से निरीक्षण करना चाहिए, सत्य का अनुपालन करना चाहिए। एक सत्याग्रही को निर्भीकता को उत्पन्न करना चाहिए। एक सत्याग्रही को निर्भीक होना चाहिए तथा कायरता को त्याग देना चाहिए। गांधीजी कहते हैं, निर्भीकता स्वार्थ से बाहर आती है। जब एक व्यक्ति अपने–आप को पीछे हटा लेता है, अपना स्वार्थ त्याग देता है तब डरने वाली कोई बात नहीं होती। गांधीजी के शब्दों में– ''अगर तुम सत्य का अनुकरण करना चाहते हो, उसके लिए निर्भीकता आवश्यक शर्त है।''

निर्भीकता आध्यात्मिकता की पहली शर्त है। एक सत्याग्रही को हमेशा सांसारिक वस्तुओं से विमुख रहना चाहिए। सांसारिक चीजों से अलगाव एक सत्याग्रही को आवश्यक आंतरिक पवित्रता व चरित्र की श्रेष्ठता प्रदान करता है। एक सत्याग्रही को पूर्ण रूप से अनुशासित होना चाहिए, क्योंकि अनुशासन के अभाव में मस्तिष्क अपेक्षित दृढ़ता नहीं प्राप्त कर सकता।

अहिंसक संघर्ष में हमें परिणाम के लिए शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। इसके लिए महान धैर्य की आवश्यकता होती है क्योंकि कई बार अहिंसक तरीके हिंसक साधनों की अपेक्षा देरी से परिणाम देते हैं। अहिंसक कार्यकर्ता हार के बारे में नहीं जानता, क्योंकि उसका ईश्वर में असीम विश्वास होता है।

3.2.2 सत्याग्रह

सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। यह एक आध्यात्मिक शक्ति है। गांधी जी के शब्दों में– "सत्याग्रह आत्मा की शक्ति है। सत्य का आग्रह है, यह सत्य पर आग्रह दूसरों को कष्ट देकर नहीं वरन, अपने ऊपर कष्ट सहन करने को कहता है।" गांधी ने सत्याग्रह शब्द का इस्तेमाल 1906 में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद वाली सरकार के खिलाफ चलाए गए अहिंसात्मक आंदोलन के लिए किया था। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने के दौरान, गांधी ने इसे एक प्रेम–बल या आत्म–बल के रूप में इस्तेमाल किया जो अहिंसात्मक था और जिसका लक्ष्य सत्य की खोज था। गांधी के लिए सत्याग्रह, सत्य की विजय था, जिसे विरोधी की बजाय खुद कष्ट सहकर हासिल करना

टिप्पणी

था। सत्याग्रह ने हमेशा साधनों और साध्यों की शुद्धता पर जोर दिया। यह अन्याय, अत्याचार या बुराई के विरुद्ध लड़ने वाले नैतिक व्यक्ति के हाथों में एक नैतिक हथियार है तथा इसका इस्तेमाल किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। गांधी के अनुसार– "यह ऐसा बल है जिसका प्रयोग व्यक्तियों के साथ–साथ समुदायों के द्वारा भी किया जा सकता है। इसे राजनीतिक मामलों के साथ–साथ घरेलू मामलों में भी लागू किया जा सकता है। सार्वभौमिक रूप से लागू किये जाने की इसकी क्षमता ही इसके स्थायित्व और अजेय होने का प्रमाण है।"

सार्वजनिक जीवन में सत्याग्रह के प्रयोग से पहले, एक सत्याग्रही को घरेलू या अपने व्यक्तिगत जीवन में इसका प्रयोग करना चाहिए। परोपकार की तरह ही, सत्याग्रह की शुरुआत भी घर से ही होनी चाहिए। चाहे घरेलू जीवन हो या सार्वजनिक जीवन, सत्य की तलाश करने वाले एक व्यक्ति पर आचार संबंधी बड़ा दायित्व होता है। उसका लक्ष्य समाज सेवा और त्याग की बदौलत आत्मबोध की प्राप्ति करना होता है। एक सत्याग्रही के लिए, सत्याग्रह एक ऐसा हथियार है जिसका इस्तेमाल सदैव जनता की भलाई के लिए किया जाना चाहिए। कभी भी इसका अपने निजी स्वार्थ के लिए प्रयोग नहीं होना चाहिए। अनैतिक कार्यों को सही ठहराने तथा गलत तरीके से उठाए गए फायदे को जायज ठहराने के लिए भी इसका प्रयोग उचित नहीं है। सत्याग्रह में वैमनस्य और नफरत के लिए कोई स्थान नहीं है। एक सत्याग्रही अपने विरोधी के विषय में विजयी या पराजित की तरह नहीं सोचता है।

यह सदैव याद रखना चाहिए कि सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध के समान नहीं है। यह सच है कि दोनों ही शांतिपूर्ण तरीके हैं जिनका प्रयोग आक्रामकता के विरुद्ध और सामाजिक तथा राजनीतिक बदलावों के लिए किया जाता है। फिर भी, दोनों में अंतर है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग एक राजनीतिक हथियार के तौर पर औचित्य के लिए किया जाता है लेकिन सत्याग्रह एक नैतिक हथियार है जो क्रूर बल के विरुद्ध आत्मबल की सर्वोच्चता को स्थापित करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध कमजोर का हथियार है जबकि सत्याग्रह का प्रयोग सिर्फ साहसिक व्यक्ति ही कर सकता है। निष्क्रिय प्रतिरोधी अपने विरोधी को शर्मसार कर घुटने टेकने पर मजबूर करने का लक्ष्य रखता है जबकि एक सत्याग्रही राह से भटके विरोधी को प्रेम और धैर्य के साथ कष्ट सहते हुए जीतने की कोशिश करता है। निष्क्रिय प्रतिरोध में विरोध के लिए प्रेम का कोई स्थान नहीं होता। सत्याग्रह में, वैमनस्य के लिए कोई जगह नहीं होती। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान, गांधी के एक करीबी सहयोगी, महादेव देसाई ने कहा था– "सत्याग्रह गतिशील है, जबकि निष्क्रिय विरोध जड़ होता है। निष्क्रिय विरोध नकारात्मक रूप से कार्य करता है और शायद ही कभी कष्ट सहता है। सत्याग्रही सकारात्मक रूप से कार्य करता है और खुशी से कष्ट सहता है क्योंकि वह अपने प्रेम से कष्ट को भी फलदायी बना देता है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग सार्वभौमिक रूप से नहीं किया जा सकता है। इसे सत्याग्रह की तरह अपने बेहद करीबी लोगों के विरुद्ध प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। कमजोरी और हताशा की स्थिति में प्रयोग किया जाने वाला निष्क्रिय विरोध विरोध करने वाले को मानसिक और नैतिक रूप से और भी कमजोर कर देता है। निष्क्रिय विरोध के मुकाबले सत्याग्रह अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध अधिक प्रभावी और दृढ़ हथियार साबित होता है।"

टिप्पणी

सत्याग्रह के स्वरूप और तकनीक

सत्याग्रह की तकनीक असहयोग, सविनय अवज्ञा या उपवास और हड़ताल में से किसी भी रूप में हो सकती है। जहां तक असहयोग की बात है, तो गांधी ने कहा था कि अत्याचार और शोषण को लोगों के असहयोग से रोका जा सकता है। यदि लोगों ने सरकार का सहयोग करने से इनकार कर दिया, तो उसका चलना मुश्किल हो जाएगा। गांधी ने कहा था– "सबसे ज्यादा तिरस्कृत सरकार भी उन शासितों की सहमति के बिना नहीं चल सकती, जिनकी सहमति अकसर किसी तानाशाह के द्वारा बल से प्राप्त की जाती है। जैसे ही प्रजा के मन से तानाशाह का भय निकल जाता है, उस तानाशाह की शक्ति निष्प्रभावी हो जाती है।"

असहयोग आंदोलन हड़ताल या धरना जैसे रूप भी ले सकता है। हड़ताल में काम बंद किये जाने को विरोध के एक तरीके के रूप में अपनाया जाता है जिसका उद्देश्य लोगों और सरकार की सोच को जगाना होता है। हड़ताल तभी असरदार होती है, जब उनमें लोग स्वेच्छा और बिना किसी दबाव के शामिल हों। गांधी के अनुसार– "शांतिपूर्ण धरने का अर्थ किसी व्यक्ति को उसके किसी कार्य से रोकना नहीं होता बल्कि लोगों के तिरस्कार के बल पर भरोसा करना और ठगों को शर्मसार करना होता है। धरना दिए जाने के दौरान जोर–जबरदस्ती, धमकी, अपमान का प्रयोग, पुतलों को दफन करने या जलाने तथा भूख हड़ताल से बचना चाहिए।"

गांधी के द्वारा सुझाया गया सत्याग्रह का एक और तरीका है– 'सविनय अवज्ञा'। गांधी ने इसे 'शस्त्र क्रांति का एक संपूर्ण प्रभावी और रक्तहीन विकल्प' कहा था। सविनय अवज्ञा का अर्थ है– 'नागरिकों द्वारा कानून की अहिंसात्मक रूप में अवज्ञा।' अपनी सविनय अवज्ञा की अवधारणा को आगे बढ़ाते हुए गांधी ने सबसे ज्यादा जोर 'नागरिक' शब्द पर दिया। उन्होंने कहा था– 'अवज्ञा को नागरिक, अनुशासित, आदरपूर्ण, नियंत्रित और कभी भी विद्रोही नहीं होना चाहिए तथा कुछ सिद्धांतों को भलीभांति समझकर किया जाना चाहिए, साथ ही इसके पीछे कभी भी स्वेच्छाचारी और वैमनस्य तथा नफरत की भावना नहीं होनी चाहिए। यही नहीं, 'इसका प्रयोग सभी संभव नियंत्रणों के साथ किया जाना चाहिए। संभव हो तो इसका प्रावधान पहले से बना लिया जाना चाहिए कि हिंसा भड़कने या सामान्य अराजकता के दौरान क्या कदम उठाए जाएंगे। मामले के अनुसार उसका इलाका और अवधि भी जितनी आवश्यक हो वहीं तक सीमित होनी चाहिए।' जिन कानूनों को तोड़ा जाना है, उन्हें नेता तय करेंगे न कि सत्याग्रही।

गांधी ने उपवास को सत्याग्रह के एक और रूप के तौर पर सामने रखा था। उनके अनुसार यह अत्यधिक शक्तिशाली हथियार है। इसलिए गांधी ने सुझाव दिया था कि उपवास का सहारा लेने से पहले अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। गांधी के अनुसार, उपवास हर मौके पर नहीं किया जाना चाहिए बल्कि इसे विरले ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इसका प्रयोग आत्म–शुद्धि के लिए या अन्याय के विरोध तथा बुराई करने वाले के हृदय परिवर्तन के लिए किया जाना चाहिए। गांधी के अनुसार, उपवास उन लोगों को ही करना चाहिए जो आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ हैं। इसमें मन की शुद्धता, अनुशासन, विनम्रता और विश्वास की आवश्यकता होती है। गांधी का मानना था कि उपवास अंतरात्मा को जगाने का काम करता है। उन्होंने कहा था– "जो मनुष्यों की परिस्थितियों में क्रांतिकारी बदलाव लाते हैं, वे समाज में आक्रोश पैदा किये बगैर ऐसा नहीं

कर सकते हैं। इस प्रकार उपवास से आंदोलन के दो तरीके हैं– पहला हिंसा से और दूसरा अहिंसा से। स्वयं कष्ट सहकर अहिंसा के द्वारा डाले गए दबाव से अत्याचार करने वालों की नैतिकता को सबल और जागृत किया जा सकता है।"

टिप्पणी

सत्याग्रह का आखिरी तरीका है हड़ताल। हड़ताल पर गांधी के विचार समाजवादियों और साम्यवादियों से अलग थे। गांधी के अनुसार, हड़ताल एक स्वैच्छिक, शुद्धिकरण के लिए उठाया गया कष्ट है जो गलती करने वाले के हृदय परिवर्तन के लिए किया जाता है। गांधी वर्ग संघर्ष में विश्वास नहीं करते थे। गांधी ने विदेशी आक्रमण की परिस्थिति में भी सत्याग्रह का उपाय सुझाया। उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा था– "एक अहिंसात्मक मनुष्य या समाज बाहर से होने वाले हमले की न अपेक्षा करता है और न ही उसके विषय में सोचता है। इसकी बजाय, ऐसे व्यक्ति या समाज का दृढ़ विश्वास होता है कि कोई भी उन्हें परेशान नहीं करेगा। यदि बहुत बुरा हुआ तो भी, अहिंसा के दो रास्ते सदैव उपलब्ध हैं। अपना कब्जा छोड़ देना, लेकिन आक्रमणकारी से असहयोग करना। इस प्रकार यह मान लिया जाए कि नीरो का आधुनिक रूप भारत पर हमला कर दे, तो देश के नेता उसे अंदर आने देंगे, लेकिन उसे बता देंगे कि उसे लोगों से किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिलेगा। वे घुटने टेकने की बजाय कत्ल कर दिए जाने को स्वीकार करेंगे। दूसरा तरीका होगा लोगों के द्वारा अहिंसात्मक विरोध, जिन्हें अहिंसा के रास्ते पर चलने के लिए प्रशिक्षित किया गया है। वे लोग आक्रमणकारी की तोपों के सामने खुद को शिकार के रूप में डाल देंगे। इस विचारधारा के मूल में यह विश्वास छिपा है कि नीरो का भी एक दिल होता है। किसी आक्रमणकारी की इच्छा के आगे घुटने टेकने की बजाए स्त्री–पुरुषों के झुंड के झुंड मारे जाने का भयंकर दृश्य आखिरकार आक्रमणकारी के दिल और उसकी सेना को पिघला देगा।"

1930 के दशक में जब चीन पर जापान की विजय हो रही थी, तब गांधी ने कहा था– "अगर चीनियों के पास मेरी अहिंसा की अवधारणा होती तो जापान के पास जो अत्याधुनिक हथियार थे वे बेकार साबित हो सकते थे।" चीन के लोग जापान से कहते, 'अपने सारे हथियार ले आओ। हम अपनी आधी आबादी तुम्हारे सामने खड़ी कर देते हैं, लेकिन बाकी बचे दो सौ मिलियन लोग तुम्हारे सामने घुटने नहीं टेकेंगे।' यदि चीन के लोगों ने ऐसा किया होता तो जापान चीन का गुलाम बन गया होता।

धर्मशास्त्री ई. स्टेनली जोन्स के मुताबिक– "गांधी का सत्याग्रह आधुनिक युग को सबसे बड़ी देन है।" डी.ई. स्मिथ ने गांधी को सत्याग्रह की तकनीकों को विकसित करने की वजह से एक क्रांतिकारी नेता कहा था। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गांधी के विचार आज भी हमारे लिए प्रासंगिक हैं, जब हम चारों तरफ तथाकथित सत्याग्रह के अनेक रूप, जैसे धरना, आमरण अनशन और घेराव जैसे आंदोलनों को देखते हैं।

गांधी ने साधनों के साथ–साथ साध्य पर भी जोर दिया। आज भारत में जो कुछ हो रहा है वह गांधीवादी नैतिकता और आचार के मापदंडों के मुकाबले बेहद निम्न स्तरीय है। हालांकि, गांधी की सोच को यदि नई पीढ़ी पूरी तरह अपना ले, तो भारत की कई समस्याएं हिंसा का सहारा लिए बिना सुलझाई जा सकती हैं। गांधी की तकनीकों के प्रयोग से भ्रष्टाचार, कालाबाजारी या आर्थिक, औद्योगिक या सामाजिक जीवन में अन्याय से सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। खून–खराबे के बगैर भारत में गांधीवाद से क्रांति लाई जा सकती है।

3.3.3 अपरिग्रह

टिप्पणी

अपरिग्रह के बारे में गांधी जी के विचार उन्हीं के शब्दों में निम्नांकित हैं–

अपरिग्रह गैर–अधिकार की भावना, गैर लोभी या गैर लोभ की अवधारणा है, जिसमें अधिकारात्मकता से मुक्ति पाई जाती है। यह विचार मुख्य रूप से जैन धर्म तथा हिन्दू धर्म के राज योग का हिस्सा है। जैन धर्म के अनुसार "अहिंसा और अपरिग्रह जीवन के आधार हैं"। अपरिग्रह का अर्थ है कोई भी वस्तु संचित न करना।

अपरिग्रह का अर्थ है, निरंतर श्रम करते हुए ही समाज से कुछ लेना। बिना श्रम किये किसी चीज पर हक न जताना। जीवन की अनिवार्यताओं के अलावा जो कुछ भी है उसका प्रयोग समाज हित में करना। यही ट्रस्टीशिप या न्यासिता का सिद्धांत भी है।

इसका प्रमुख कारण है अनियंत्रित भोग–विलास और यम के प्रमुख स्तंभ अस्तेय व अपरिग्रह का पालन न होना। अपरिग्रह के बारे में तो कोई सोच ही नहीं रहा है। जीवनयापन से ज्यादा धन यदि मनुष्य समाज की भलाई में लगा दे तो समाज का आर्थिक असंतुलन समाप्त हो सकता है और धन की चोरी रोकी जा सकती है।

अपरिग्रह अस्तेय के साथ जुड़ा है। यदि हमारे पास कोई ऐसी वस्तु है जिसकी हमें आवश्यकता नहीं है तो भले ही वह मूलतः चुराई गई वस्तु न हो, पर चोरी की संपत्ति की श्रेणी में ही गिनी जाएगी। परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए व्यवस्था करना। सत्यशोधक अर्थात प्रेम के नियम का अनुयायी, कल के लिए बचाकर कुछ नहीं रख सकता। ईश्वर कल के लिए किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता। वह वर्तमान के लिए जितना जरूरी है, उससे तनिक भी अधिक की सृष्टि कभी नहीं करता। इसलिए यदि हमें ईश्वर के विधान में आस्था है तो हमें यह भरोसा रखना चाहिए कि वह हमारे प्रतिदिन के भोजन, अर्थात हमारी आवश्यकता की सभी वस्तुओं की व्यवस्था करेगा...दैवी नियम जो मनुष्य को उसका दैनिक भोजन और बस इतना ही प्रदान करता है– के अज्ञान और उसकी उपेक्षा के कारण ही आज दुनिया में इतनी असमानताएं और उससे उत्पन्न होने वाले कष्ट पैदा हुए हैं। धनवानों के पास फालतू चीजों का अंबार लगा है जिनकी उन्हें आवश्यकता नहीं है, अतः वे उपेक्षित रहती हैं और उनकी बर्बादी होती है जबकि लाखों–करोड़ों लोग भोजन के अभाव में भूखों मर जाते हैं।

"यदि प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ उतना रखे जितने की उसे जरूरत है तो कोई अभावग्रस्त नहीं रहेगा और सब संतोष का जीवन जिएंगे। आज जो स्थिति है, उसमें जितने असंतुष्ट निर्धन हैं, उतने ही असंतुष्ट धनवान भी हैं। निर्धन व्यक्ति लखपति बनने को उतावला है और लखपति करोड़पति बनने को।"

"यह स्मरणीय है कि अपरिग्रह का सिद्धांत वस्तुओं और विचारों पर समान रूप से लागू होता है। जो व्यक्ति अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान भरता है वह भी इस अमूल्य सिद्धांत का उल्लंघन करता है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख करते हैं, या उसकी ओर अभिमुख नहीं करते, वे हमारे मार्ग में बाधक हैं।"

"हम सबके पास संपत्ति क्यों होनी चाहिए ? हम, एक निश्चित समय के बाद, अपनी समस्त संपत्ति का त्याग क्यों न कर दें ? बेईमान व्यापारी कपटपूर्ण प्रयोजनों के

लिए ऐसा करते हैं। तो हम एक नैतिक तथा महान प्रयोजन के लिए ऐसा क्यों नहीं कर सकते?"

"मेरे कहने का आशय यह नहीं है कि अगर तुम्हारे पास धन है तो उसे बाहर फेंक दो और बीबी–बच्चों को घर से निकाल दो। इसका आशय यही है कि धन–संपत्ति के प्रति आसक्ति का त्याग कर दो और सर्वस्व ईश्वर को समर्पित करके उसकी दी हुई वस्तुओं को उसी की सेवा में लगा दो।"

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. किसके विचार रस्किन, थोरो और टॉल्सटॉय से प्रभावित थे?
   (क) नेहरू के (ख) गांधी के
   (ग) पटेल के (घ) अंबेडकर के
2. "गांधी का सत्याग्रह आधुनिक युग को सबसे बड़ी देन है।"– यह किसका कथन है?
   (क) ई. स्टेनली जोंस का (ख) डी.ई. स्मिथ का
   (ग) जॉन लॉक का (घ) टी.एच. ग्रीन का

3.3 उदारवाद

उदारवाद राजनीतिक सिद्धांत की एक प्रमुख विचारधारा है। वस्तुतः आधुनिक राजनीतिक विचारधाराओं में से उदारवाद की परंपरा सर्वाधिक प्राचीन है। उदारवादी दर्शन का उदय तथा विकास यूरोप में पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार आंदोलनों से जुड़ा है। कभी–कभी उदारवादी आंदोलनों को यूरोप में 16वीं एवं 17वीं शताब्दियों में यूरोप में सामंतवादी व्यवस्था के पतन एवं उभरते हुए मध्यवर्ग की तात्कालिक परिस्थितियों की उपज भी माना जाता है। उदारवादी परंपरा के अंतर्गत जॉन लॉक, एडम स्मिथ, माण्टेस्क्यू, थॉमस जैफकन, जॉन स्टुअर्ट मिल, लार्ड एक्टन, टी. एच. ग्रीन, जॉन ड्यूवी, जॉन रॉल्स, राबर्ट नॉजिक, फ्रेडरिक हायक इत्यादि विद्वानों को रख सकते हैं। उदारवाद अपने स्वरूप में मूलतः एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति है जिसमें अनेक और कभी–कभी परस्पर विरोधी विचार सम्मिलित हैं जो कि विभिन्न अवसरों पर देश–काल की परिस्थितियों के अनुसार प्रस्तुत किये गये हैं। लॉस्की के अनुसार– 'उदारवाद का संबंध किसी सम्प्रदाय से कम और मानव स्वभाव से अधिक है। यह स्वतंत्रता के लिये उत्कट अभिलाषा का द्योतक है। इस प्रकार की प्रबल भावना के लिए दूसरे व्यक्तियों के विचारों के प्रति, चाहे वे कितने ही खतरनाक मालूम हो, सहनशीलता और जिज्ञासा के भाव की आवश्यकता है और यह एक दुर्लभ मानवीय गुण है।'

उदारवाद का उदय एवं विकास

समूचे रूप में उदारवाद एक व्यापक आंदोलन था जिसकी बौद्धिक और सामाजिक जड़ें विचार वैभिन्य के विविध स्तरों पर देखी जा सकती हैं। लास्की के अनुसार उदारवाद का विचार अप्रत्यक्ष और अचेतन रूप से हुआ। उदारवाद के विकास में भिन्न–भिन्न

टिप्पणी

दिशाओं से सैद्धान्तिक हवा के इतने झोंके आए कि उसके चरित्र को स्पष्ट रूप से समझना कठिन है और उसके आकार को निश्चित रूप से स्थिर करना लगभग असंभव है। इसके विकास में महत्वपूर्ण योगदान ऐसे लोगों का है जो उसके उद्देश्यों से अपरिचित और प्रायः उनके विरोधी थे। इसमें मैकियावेली और कबल्विन, लूथर और कॉपरनिकस, हेनरी–VIII और थॉमस मोर एक शताब्दी में हुए तो रिचल्यू और लुई गप्ट, हॉब्स और जूयूं, पैस्कल और बेकन दूसरी शताब्दी में हुए। उदारवादी विचारों का अस्तित्व समूचे पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका में रहा तथापि इसका आग़ाज सबसे सशक्त रूप में इंग्लैंड में हुआ। इंग्लैंड में उदारवाद का उद्‌गम लॉक की समझौतावादी अवधारणा और समतावाद के लोक आन्दोलनों में ढूंढ़ा जा सकता है।

अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा एवं फ्रांस की क्रान्ति उदारवाद के विकास में महत्वपूर्ण मील के पत्थर साबित हुए। 1810 में बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही जर्मनी भी उदारवाद एवं राष्ट्रवाद संबंधी सैद्धान्तिक विचारों के केन्द्र के तौर पर उभरा। उदारवादी विचारों की लहर यूरोप के उपनिवेशों में भी फैली तथा भारत जैसे देशों में राजा राममोहन राय, महादेव गोविंद रानाडे इत्यादि विद्वानों की एक लम्बी परंपरा विकसित हुई जिनके विचार उदारवादी सिद्धांत से ओतप्रोत थे।

उदारवाद की विशेषताएं

उदारवाद कोई बंधी–बंधाई विचार प्रणाली नहीं है, बल्कि यह एक बौद्धिक आन्दोलन है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक इत्यादि पहलू समाहित हैं। अपनी तीन शताब्दियों के इतिहास में बदलती हुई परिस्थितियों में नई–नई चुनौतियों का सामना करने के लिये उदारवाद ने नित नये विचारों को अपनाया है। तथापि हम कुछ ऐसे लक्षणों की पहचान कर सकते हैं जो कि उदारवाद के सभी रूपों में समान रूप से पाये जाते हैं। हैलोवेल के अनुसार पांरपरिक उदारवाद की निम्नलिखित विशेषताएं हैं–

1. मानवीय व्यक्तित्व के मूल्य तथा व्यक्ति की आध्यात्मिक समानता में विश्वास;
2. व्यक्ति की इच्छा–स्वायत्तता में विश्वास;
3. व्यक्ति की अच्छाई तथा उसकी विवेकशीलता में विश्वास;
4. व्यक्ति के कुछ आधारभूत अधिकारों–जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार में आस्था;
5. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में यह मान्यता कि यह व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा हेतु परस्पर सहमति का परिणाम है;
6. व्यक्ति तथा राज्य के बीच संविदावादी संबंध;
7. सामाजिक नियंत्रण में विधि के महत्व पर बल;
8. व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर जोर;
9. यह मान्यता कि 'वह सरकार सर्वोत्तम होती है जो सबसे कम शासन करती है';
10. इस तथ्य में विश्वास कि व्यक्ति के प्राकृतिक विवेक द्वारा सत्य की सुलभता संभव है।

टिप्पणी

'अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक विज्ञान विश्वकोश' उदारवाद की तीन मुख्य विशेषताओं पर बल देता है–व्यक्ति के व्यक्तित्व की स्वतंत्र अभिव्यक्ति को महत्व; अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता न केवल व्यक्ति के लिये बल्कि समाज के लिये भी मूल्यवान; और व्यक्ति की स्वतंत्रता, विशेषतः अभिव्यक्ति की स्वततंत्रता प्रदान करने वाली संस्थाओं एवं नीतियों का निर्माण एवं पल्लवन। चूंकि उदारवाद मोटे तौर पर विवेक एवं मानवीय मूल्यों द्वारा प्रवर्धित एक जीवन पद्धति का विन्यास प्रस्तुत करता है, यह एक विचारधारा से अधिक लचीला है। वस्तुतः अपनी बौद्धिक पराकाष्ठा एवं परिवेश के माध्यम से उदारवाद स्वतंत्रता एवं सहिष्णुता के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करता है जिससे अन्य विचारधाराएं प्रस्फुटित एवं पल्लवित होती हैं। ऐलन रेयान के शब्दों में – 'उदारवाद में जो कुछ सम्मिलित होता है उसमें निश्चित तौर पर सर्वप्रमुख है सहिष्णुता और अन्य व्यवस्थाओं तथा विश्वासों के प्रति विद्वेष न रखने की भावना'।

भारत में उदारवादी विचारधारा

उन्नीसवी सदी के मध्य तक ब्रिटेन भारत में एक औपनिवेशिक शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका था। इस दौरान एक ओर भारत का आर्थिक शोषण अपने चरम पर पहुंचा तो दूसरी ओर ब्रिटेन के साथ भारत का सामाजिक–सांस्कृतिक संपर्क भी बढ़ा। भारतीय उच्च–मध्य वर्ग के युवकों के लिये लन्दन शिक्षा के एक महत्वपूर्ण केंद्र के रूप में उभरा। वहां से शिक्षा प्राप्त अनेक युवा भारत आये और अपने साथ देश में उन नवीन सामाजिक–सांस्कृतिक प्रतिमानों को स्थापित करने का सपना साथ लेकर आये जो कि उन्होंने यूरोप की आबोहवा में देखा था। आपने पूर्व में राजा राममोहन राय के संबंध में अध्ययन किया जो कि इस दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय उदाहरण है। यह वह दौर था जबकि यूरोप में उदारवादी दर्शन अपनी पराकाष्ठा पर था। निश्चित रूप से भारतीयों पर इस विचारधारा का प्रभाव पड़ा और इस प्रकार उदारवादी मान्यताओं का देश में प्रसार हुआ।

भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रारंभिक दौर में इन उदारवादी विचारों का ही बोलबाला रहा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जो कि प्रायः भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की पर्यायवाची समझी जाती है, अपनी स्थापना के पहले बीस वर्षों में ऐसे ही उदारवादियों के नेतृत्व में रही। इस दौर के नेता जैसे– दादा भाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, फिरोज शाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, महादेव गोविन्द रानाडे इत्यादि उदारवाद के पाश्चात्य राजनीतिक मूल्यों के निर्विवाद प्रशंसक थे। वे ब्रिटेन के भारत के साथ औपनिवेशिक संबंध को एक ऐसा दैवीय विधान मानते थे जो कि भारत में उदारवादी मूल्यों की स्थापना का एक महान सुअवसर था। इस सन्दर्भ में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के 1895 में कांग्रेस अधिवेशन में दिए गये अध्यक्षीय भाषण को उद्धृत किया जा सकता है– 'हम इंग्लैंड से प्रार्थना करते हैं कि वह भारत में अपने शासन के स्वरूप को क्रमिक रूप से परिवर्तित करे, इसको उदारवादी बनाये, देश तथा जनता के लिए नए विकसित वातावरण के अनुकूल बनाये, ताकि आने वाले समय में भारत स्वयं को स्वतंत्र राज्य के महान परिसंघ के रूप में स्थापित कर सके, अपने मूल में अंग्रेज, अपने चरित्र में अंग्रेज तथा अपनी संस्थाओं में अंग्रेज के रूप में वे इंग्लैंड के साथ स्थायी तथा अभेद्य संबंध का आनंद उठाएं।'

टिप्पणी

भारतीय उदारवाद के मौलिक लक्षण

भारतीय उदारवाद के मौलिक लक्षणों को इस तरह से समझा जा सकता है–

(क) **शिक्षित मध्य वर्ग का दर्शन** : उदारवाद को प्रायः मध्य–वर्ग का दर्शन माना जाता है। भारतीय उदारवाद के सन्दर्भ में यह बात अक्षरशः सत्य है। भारत में उदारवाद का प्रसार करने वाले नेता प्रायः ब्रिटेन में उच्च शिक्षा प्राप्त और मध्यम वर्गीय पृष्ठभूमि के थे। उनके राजनीतिक उद्देश्य और रणनीतियां केवल मध्यम वर्ग को ही लुभाने वाली थीं यही कारण है कि उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन महज एक बौद्धिक विचार बना रहा और अपने साथ वे साधारण जनता को लामबंद करने में सफल न हो सके।

(ख) **ब्रिटिश सम्राज्ञी के प्रति निष्ठा** : उदारवादी चिंतकों ने प्रायः देश में ब्रिटिश सम्राज्ञी की सत्ता का विरोध नहीं किया बल्कि उनसे भारत में भी उसी न्यायप्रियता के साथ शासन करने का आग्रह किया जैसा कि वे लन्दन में करती थीं। दादा भाई नौरोजी ने एक बार कहा था, भारतीयों को ब्रिटिश महानता, न्यायप्रियता और चरित्र में विश्वास है, इसलिए वे ब्रिटिश शासन के भक्त बने हुए हैं। विश्व में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं हुआ है जिसने विजेता के रूप में अंग्रेजों की भांति शासितों के कल्याण को अपना कर्तव्य माना हो।...यदि वर्तमान निर्गम बंद कर दिया जाए और देश के विधि निर्माण कार्य में भारतीय प्रतिनिधियों को अपनी राय देने के अवसर प्रदान किये जाएं तो भारतीयों को ब्रिटिश शासन के अंतर्गत एक ऐसे भविष्य की आशा हो सकती है जो उनके इतिहास के महानतम और सबसे गौरवशाली युग से भी बढ़ा–चढ़ा हो।

(ग) **आर्थिक राष्ट्रवाद** : उदारवादी दर्शन आर्थिक राष्ट्रवाद का प्रतिपादन करता है। उदारवादी नेता भारत में ब्रिटिश प्रशासन की आर्थिक नीतियों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक तरफ गलत आर्थिक नीतियों की वजह से देश की आम जनता तंगहाली का जीवन व्यतीत कर रही है और दूसरी ओर देश की विपुल सम्पदा ब्रिटेन जा रही है। इस दृष्टि से दादा भाई नौरोजी ने 'आर्थिक निष्क्रमण' के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए वे मदें बताईं जिनकी वजह से देश का धन ब्रिटेन को प्रवाहित हो रहा था। उनके अनुसार मुख्य मदें थीं– ब्रिटिश अफसरों की पेंशनें, भारत में ब्रिटिश फौजों के व्यय के लिये ब्रिटेन के युद्ध विभाग को भुगतान, भारत सरकार का इंग्लैंड में व्यय और भारत में स्थित ब्रिटिश व्यावसायिक वर्गों द्वारा अपनी कमाई में से स्वदेश भेजी गयी रकमें। इसी प्रकार आर. सी. दत्त और महादेव गोविन्द रानाडे ने भी निष्क्रमण सिद्धांत का प्रतिपादन किया।

(घ) **सामाजिक सुधारों की मांग** : उदारवादी सामजिक सुधारों के पक्षधर थे, उन्होंने ब्रिटिश सरकार द्वारा उठाये गये समाज सुधार के कदमों का समर्थन किया। सती प्रथा के अंत संबंधी कानून की उन्होंने प्रसंशा की और विधवा विवाह के पक्ष में कानून बनाने, बाल विवाह, बहुविवाह रोकने हेतु कानून बनाने के प्रयासों के प्रति सकारात्मक रवैया दिखाया और श्रमिक सुधारों की भी मांग की।

(ङ) **नागरिक स्वतंत्रताओं का आग्रह** : उदारवादी विचारक नागरिक स्वतंत्रताओं के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने विचार और अभिव्यक्ति की स्वत्रंत्रता का आग्रह किया और प्रेस की स्वतंत्रता को सबसे महत्वपूर्ण माना।

(च) **संवैधानिक सुधार तथा स्वशासी सरकार की मांग** : उदारवादियों ने देश की पूर्ण स्वाधीनता की मांग नहीं की बल्कि उनका प्रधान आग्रह देश में संवैधानिक सुधारों का था। वे देश में प्रतिनिधि निकायों का विस्तार और उनमें भारतीयों के लिये अधिकाधिक स्थानों की मांग करते थे। उनका लक्ष्य था देश में एक स्वशासी सरकार की स्थापना जो कि ब्रिटिश साम्राज्य की अधीनता में रहते हुए देश के प्रशासनिक मसलों में स्वायत्ता पूर्वक कार्य करे।

(छ) **कार्य पद्धति** : उदारवादियों की कार्यपद्धति 'प्रार्थना, याचिका और शांतिपूर्ण जुलूस' तक सीमित थी। उन्हें महारानी की न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास था और वे मानते थे कि इन पद्धतियों द्वारा ही वे अपनी मांगें मनवाने में कामयाब हो जाएंगे। उन्होंने किसी भी प्रकार के उग्र उपायों और हिंसक गतिविधियों का सदैव विरोध किया।

टिप्पणी

गोपालकृष्ण गोखले, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के शीर्ष नेताओं में से एक थे। उन्होंने देश के राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अपने चिंतन और कार्यकलापों की वजह से एक अमिट छाप छोड़ी। उनके विचार उदारवादी थे और वे कांग्रेस के अन्दर नरमपंथ का प्रतिनिधित्व करते थे। महादेव गोविन्द रानाडे के शिष्य गोखले ने राजनीति में नैतिक मूल्यों को महत्वपूर्ण माना और तमाम विरोधों और आलोचनाओं के बावजूद अत्यंत धैर्य और संयम से आजीवन संवैधानिक मार्ग का अनुसरण किया। भारतीय राष्ट्रवाद को संभवतः उनका सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने एक गुरु के रूप में महात्मा गांधी जैसा राजनीतिक शिष्य तैयार किया जिसे समूचा देश आज 'राष्ट्रपिता' की उपाधि देता है।

अपने समय के अन्य उदारवादी नेताओं के विपरीत गोपालकृष्ण गोखले का संबंध एक मध्यमवर्गीय परिवार से था। उनके पिता कृष्ण राव मूलतः एक किसान थे जिन्होंने आर्थिक मजबूरियों के चलते कोल्हापुर रियासत के एक सामंती रजवाड़े के यहां नौकरी प्रारंभ की। उनका जन्म 9 मई, 1866 को तत्कालीन बंबई प्रेसीडेंसी के रत्नागिरी जिले के कोतलुक गांव में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा कांगला में शुरू हुई तथा अपने स्कूल के दिनों में ही उन्होंने सत्यनिष्ठा एवं ईमानदारी की अनेक मिसालें पेश कीं। तमाम आर्थिक परेशानियों के बावजूद उन्होंने 1884 में 18 साल की उम्र में मुंबई के एलफिंस्टन कॉलेज से स्नातक की डिग्री प्राप्त की। स्नातक की पढ़ाई के बाद वे अध्यापन की ओर बढ़े और पुणे के न्यू इंग्लिश स्कूल में सहायक शिक्षक का कार्य करने लगे। वर्ष 1885 में गोखले पुणे चले गए और डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी के अपने सहयोगियों के साथ फर्ग्यूसन कॉलेज के संस्थापक सदस्यों में शामिल हुए। गोपालकृष्ण गोखले ने फर्ग्यूसन कॉलेज को अपने जीवन के करीब दो दशक दिए और कॉलेज के प्रधानाचार्य बने। इस दौरान वे महादेव गोविन्द रानाडे के संपर्क में आये। रानाडे एक न्यायाधीश, विद्वान और समाज सुधारक थे, जिन्हें गोखले ने अपना गुरु बना लिया। गोखले ने पूना सार्वजनिक सभा में रानाडे के साथ काम किया और उसके सचिव बन गए।

टिप्पणी

गोपालकृष्ण गोखले ने 1886 में 20 साल की उम्र में सामाजिक जीवन में प्रवेश किया। वे 1889 में कांग्रेस में शामिल हुए तथा 1895 में कांग्रेस की बंबई शाखा के मंत्री बनाये गये इस दौरान उन्होंने 1892 के ब्रिटिश शासन अधिनियम की कमियों पर बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला। गोखले ने बाल गंगाधर तिलक की साप्ताहिक पत्रिका मराठा के लिए नियमित रूप से लेख लिखे। अपने लेख के माध्यम से उन्होंने लोगों के अन्दर छिपी हुई देशभक्ति को जगाने की कोशिश की। जल्द ही गोखले डेक्कन एजुकेशन सोसाइटी के सचिव के रूप में पदोन्नत किये गए। वर्ष 1894 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने पूना में अपने सत्र का आयोजन किया तब उन्हें स्वागत समिति का सचिव बनाया गया। इस सत्र के कारण गोखले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के एक महत्वपूर्ण सदस्य बन गए। गोखले पुणे नगरपालिका के दो बार अध्यक्ष चुने गए। कुछ दिनों के लिए गोखले बंबई विधान परिषद के एक सदस्य भी रहे जहां उन्होंने सरकार के खिलाफ अपनी बात रखी।

वर्ष 1892 में गोखले ने फरग्यूसन् कॉलेज छोड़ दिया। वे दिल्ली में इम्पीरियल विधान परिषद के सदस्य बने जहां उन्होंने देशवाशियों के हित के लिए अपनी बात रखी। गोखले को हमारे देश की आर्थिक समस्याओं की अच्छी समझ थी जिसे उन्होंने बहस के दौरान काफी चतुरता से प्रस्तुत किया। गोखले ने 1905 में 'सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' नामक एक नई समिति की शुरुआत की। इस समिति ने कार्यकर्ताओं को देश की सेवा के लिए प्रशिक्षित किया। उसी वर्ष गोखले ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतियों पर किये जा रहे अनुचित व्यव्हार के संबंध में अपने विचार प्रकट करने इंग्लैंड चले गए। 49 दिनों के अंतराल में उन्होंने 47 विभिन्न सभाओं को सम्बोधित कर सबको मंत्रमुग्ध कर दिया। गोखले ने भारत में मूलभूत रूप से स्वराज या स्वशासन पाने के लिए नियमित सुधार की वकालत की। उन्होंने 1909 के 'मार्ले मिंटो सुधारों' के प्रस्तुतीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जो अंत में एक कानून बन गया। वे 1912 में दक्षिण अफ्रीका गये और रंग–भेद विरोधी आन्दोलन में भाग लिया। कार्यों में अत्यधिक व्यस्तता और मधुमेह तथा दमा जैसी व्याधियों की वजह से उनका शरीर जीर्ण होता चला गया और 19 फरवरी, 1915 को उनका निधन हो गया।

सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी की स्थापना

राष्ट्रीय एकता और सार्वजानिक नीति के आध्यात्मीकरण के अपने विचारों को मूर्तरूप देने के उद्देश्य से गोखले ने 12 जून, 1905 को सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी नामक अनुपम संस्था की स्थापना की। इस संस्था में चरित्र तथा क्षमता निर्माण पर जोर दिया गया और कहा गया कि सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मीकरण अनिवार्य है। ह्रदय स्वदेशानुराग से इतना ओतप्रोत हो जाना चाहिये कि उसकी तुलना में और सभी कुछ तुच्छ जान पड़ने लगे। ऐसी उत्कृष्ट देशभक्ति जाग्रत होनी चाहिये जो मातृभूमि के लिये त्याग करने का प्रत्येक अवसर पाकर प्रफुल्लित हो उठे। इस सोसाइटी के सदस्यों को ये 7 शपथ ग्रहण करनी होती थीं–

1. वह अपने देश को सर्वोच्च समझेगा और उसकी सेवा में प्राण न्योछावर कर देगा।
2. देश सेवा में व्यक्तिगत लाभ को नहीं देखेगा।

3. प्रत्येक भारतवासी को अपना भाई मानेगा।
4. जाति समुदाय का भेद नहीं मानेगा।
5. सोसाइटी उसके और उसके परिवार के लिए जो धनराशि देगी, वह उससे संतुष्ट रहेगा तथा अधिक कमाने की ओर ध्यान नहीं देगा।
6. पवित्र जीवन बिताएगा। किसी से झगड़ा नहीं करेगा।
7. सोसायटी का अधिकतम संरक्षण करेगा तथा ऐसा करते समय सोसायटी के उद्देश्यों पर पूरा ध्यान देगा।

टिप्पणी

राजनीतिक दर्शन

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने अपने राजनीतिक गुरु गोपालकृष्ण गोखले के विषय में कहा था– "गोखले ने मुझे सिखाया कि अपने देश से प्यार करने का दम भरने वाले प्रत्येक भारतीय का स्वप्न यह होना चाहिये कि शब्द वैभव से ग्रस्त न होकर देश के राजनीतिक जीवन का अध्यात्मीकरण किया जाए। उन्होंने मेरे जीवन को प्रेरित–प्रभावित किया और आज भी कर रहे हैं। इसी नाते मैं अपने को पवित्र बनाना चाहता हूं और अपना आध्यात्मीकरण करना चाहता हूं। उस आदर्श के प्रति मैंने अपने को समर्पित कर दिया है। देश के राजनीतिक जीवन के आध्यात्मीकरण का आशय क्या है? यह सवाल बार–बार मेरे मन में उठता है। आप के लिये यह कोई एक बात हो सकती है, मेरे लिये दूसरी। मैं समझता हूं कि राजनीतिक जीवन व्यक्तिगत जीवन का प्रतिरूप ही होना चाहिये और उन दोनों के बीच संबंध विच्छेद संभव ही नहीं है।" अपने गुरु के प्रति श्रद्धाभाव से कहे गये ये शब्द वस्तुतः गोखले के राजनीतिक विचारों का सार हैं। गोपालकृष्ण गोखले के राजनीतिक विचारों की उल्लेखनीय विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

- **राजनीति का आध्यात्मीकरण** : गोखले बचपन से ही अपनी सत्यनिष्ठा, ईमानदारी और निर्भीकता के लिये विख्यात थे, जिसका उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन में अवलंबन किया। उदारवादी विचारों से प्रभावित गोखले ने राजनीति के क्षेत्र में भी आध्यात्मिकता का आग्रह किया और साध्य के साथ ही साथ साधनों की भी पवित्रता पर बल दिया। गोखले का मानना था कि यदि साधनों की पवित्रता और सच्चरित्रता का खयाल न रखा गया तो भारतीय अपनी समस्याओं का संतोषजनक समाधान प्राप्त नहीं कर सकेंगे और भविष्य में मिलने वाले स्वशासन और स्वराज के समुचित प्रयोग में सफल नहीं हो सकेंगे।
- **मानव प्रगति के लिये स्वतंत्रता में विश्वास** : गोखले जिस उदारवाद से प्रभावित थे उसके मूल में स्वतंत्रता का आग्रह था और इसी कारण वे विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मानव प्रगति का मूल मानते थे। वे सरकार के अनावश्यक नियंत्रणों का विरोध करते थे तथा प्रेस एवं शिक्षा के क्षेत्र में स्वायत्तता के प्रबल पक्षधर थे। वह जीवनपर्यंत सरकार के दमनकारी प्रतिबंधात्मक कानूनों के विरुद्ध आवाज उठाते रहे। उदाहरणस्वरूप, उन्होंने लॉर्ड कर्जन के कार्यकाल में आये 'भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम' जो कि देश की उच्च शिक्षा में सरकारी नियंत्रण स्थापित करने की मंशा से लाया गया था का डटकर विरोध किया।

टिप्पणी

- **उदारवादी विचारों और प्रजातान्त्रिक प्रणाली का समर्थन** : गोखले पर प्रायः यह आरोप लगता है कि उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन का उस निर्भीकता से विरोध नहीं किया जैसा कि पश्चातवर्ती उग्रपंथियों ने किया। इसके पीछे गोखले के राजनीतिक विचारों की मौलिक मान्यताओं को समझना जरूरी है। वे उदारवादी स्वतंत्रता के आदर्शों से प्रेरित थे तथा 'विधि के शासन' और 'प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली' में विश्वास करते थे। ये दोनों ही व्यवस्थाएं इंग्लैंड में विद्यमान थीं। गोखले का मानना था कि ब्रिटिश संपर्क के फलस्वरूप भारतीय भी इन आधुनिक विचारों से परिचित हो रहे हैं तथा क्रमिक सुधारों के माध्यम से एक दिन उन्हें भी वैसी ही शासन प्रणाली प्राप्त होगी जैसी कि इंग्लैंड में है। उन्हें ब्रिटिश सम्राज्ञी की न्यायप्रियता में पूर्ण आस्था थी और वे मानते थे कि देश में जो दमन और शोषण चल रहा है उनकी मुख्य वजह प्रशासनिक है। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार करने का आग्रह किया ताकि वे यथार्थ रूप से भारतवासियों के हृदय में स्थान बना सकें।
- **पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली और ब्रिटेन के साथ संबंधों के प्रति सकारात्मक रवैया** : गोखले ने पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का समर्थन किया। उनकी दृष्टि में पाश्चात्य शिक्षा एक मुक्तिदायनी शक्ति थी जो भारतीय जनमानस में पुरातनपंथी और रूढ़िवादी विचारों के स्थान पर आधुनिकता एवं विवेकवाद का प्रसार करने में सहायक थी। वे देश में इसके अधिकाधिक विस्तार के हिमायती थे ताकि देशवासी आधुनिक जीवनशैली, चरित्र और चिंतन के सर्वोत्तम तत्वों से परिचित हो सकें और उनका अनुसरण करें। वे ब्रिटेन के साथ भारत के संपर्क को कल्याणकारी मानते थे और महारानी के शासन को एक वरदान मानते थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ संपर्क बनाये रखने से भारतीयों की बौद्धिक प्रतिभा निखरेगी, आधुनिक दृष्टिकोण का विकास होगा और भावी भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त होगा।
- **संवैधानिक उपायों के पक्षधर** : गोखले का संवैधानिक पद्धति में दृढ़ विश्वास था और वे हिंसा, विद्रोह, सशस्त्र संघर्ष अथवा क्रांति जैसे उपायों के प्रबल विरोधी थे। उनके अनुसार हमें अपनी शिकायतें दूर करवाने और मांगे मनवाने के लिये केवल संवैधानिक साधनों का ही प्रयोग करना चाहिये, ये समय साध्य होते हैं किन्तु प्रबल जनमत की शक्ति से एक न एक दिन सफलता अवश्य मिलती है। उनका संवैधानिक उपायों का यह मार्ग प्रायः 'प्रार्थना, याचिका और शांतिपूर्ण जुलूस' की पद्धति के रूप में जाना जाता है।
- **स्वशासन की धारणा** : गोखले ब्रिटिश साम्राज्य से पूर्ण स्वाधीनता की मांग नहीं करते थे बल्कि केवल देश में स्वशासन की स्थापना की मांग करते थे। 1907 में इलाहाबाद में दिए गये अपने एक भाषण में उन्होंने कहा– 'मेरी आकांक्षा है कि मेरे देशवासियों की स्थिति अपने देश में वैसी ही हो जैसी कि अन्य लोगों की अपने देश में है। मैं जाति या सम्प्रदाय के भेदभाव से परे प्रत्येक नर–नारी के पूर्ण विकास का समर्थक हूं। मैं चाहता हूं कि उन पर किसी प्रकार के

टिप्पणी

अप्राकृतिक प्रतिबन्ध न लगाए जाएं। मैं चाहता हूं कि भारत विश्व के महान राष्ट्रों में राजनीतिक, औद्योगिक, धार्मिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक और कला के क्षेत्र में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण करे। मेरी आकांक्षा यही है कि ये सभी आदर्श ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत ही प्राप्त हों। उन्होंने समय–समय पर स्वशासन के लिये जो सुझाव दिए उनमें शामिल हैं– भारतीयों को भारत मंत्री की सभा, वाइसराय और विभिन्न प्रान्तों के गवर्नरों की परिषदों में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व की मांग; केन्द्रीय और प्रांतीय विधान परिषदों में सदस्य संख्या बढाने, भारतीयों को उचित प्रतिनिधित्व दिए जाने तथा उनकी शक्तियों का विस्तार करने; स्थानीय निकायों में सरकारी हस्ताक्षेप कम करने और ब्रिटिश नौकरशाही के उच्च पदों में भर्ती के लिये प्रतियोगी परीक्षा भारत में भी आयोजित करने की मांग।

- **सत्ता का विकेंद्रीकरण** : गोपालकृष्ण गोखले का मानना था कि सत्ता का केन्द्रीकरण निरंकुशता को बढ़ावा देता है अतः उन्होंने ब्रिटिश शासन को विकेंद्रीकरण की दिशा में बढ़ने की सलाह दी। उन्होंने प्रांतीय विधान परिषदों की शक्तियों में वृद्धि करने का सुझाव दिया। जिला प्रशासन में कलेक्टर की मनमानी कम करने हेतु 'जिला स्तरीय परिषदों' के गठन की मांग की और स्थानीय स्तर पर पंचायतों को सुदृढ़ करने का प्रस्ताव रखा।
- **राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता में विश्वास** : गोखले ने राष्ट्रीय एकता का सन्देश दिया। उन्होंने हिन्दू–मुस्लिम एकता को राष्ट्र के लिये कल्याणकारी माना और मार्मिक अपील की कि वे परस्पर सहिष्णुता और आत्म–संयम से काम लें तथा आपसी मतभेदों को भुलाकर मैत्रीपूर्ण सहयोग की भावना विकसित करें। गोखले का विश्वास था कि कठोर परिश्रम, त्याग, सामाजिक स्फूर्ति और नैतिक विकास के बल पर ही राष्ट्रीयता की सुदृढ़ नींव डाली जा सकती है। राष्ट्रीय एकता और दृढ़ता के अपने विचारों को मूर्तरूप देने के लिये ही उन्होंने 1905 में 'सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी' की स्थापना की।

आर्थिक चिंतन

गोपालकृष्ण गोखले एक प्रख्यात राजनीतिज्ञ होने के साथ ही साथ अर्थशास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने देश में व्याप्त गरीबी पर गहन चिंतन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत की सम्पदा का एक बड़ा भाग ब्रिटिश साम्राज्य अपने सैनिक मंसूबों को पूरा करने के लिये खर्च कर रहा है। शांतिकाल में भी भारी–भरकम रकम अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के वेतन और विलासिता के लिये खर्च की जाती है। ब्रिटिश नौकरशाही देश का खून चूस रही है और भारत की अकूत सम्पदा इंग्लैंड भेजी जा रही है। 1901 में इम्पीरियल लेजिस्लेटिव काउंसिल के बजट पर भाषण देते हुए गोपालकृष्ण गोखले ने 'धन के बहिर्गमन' सिद्धान्त की व्याख्या की जिसका प्रतिपादन दादा भाई नौरोजी ने किया था। उन्होंने माना कि भारत में रेलवे के आगमन से संचार व्यवस्था में सुधार हुआ है और आवागमन की सुविधा बढ़ी है तथा अकालग्रस्त क्षेत्रों में भोजन आदि पहुंचाने में रेलें बड़ी उपयोगी रही हैं किन्तु उन्होंने इस बात की तीव्र आलोचना की कि देश में इसका विस्तार मानवोचित कारणों की अपेक्षा व्यावसायिक हितों की पूर्ति

टिप्पणी

के उद्देश्य से किया जा रहा है और रेलवे का विस्तार शोषण का नवीन स्वरूप बनता जा रहा है। कृषि के क्षेत्र में उन्होंने पुरानी पद्धति को ज्यादा से ज्यादा संभव हद तक बदलने की मांग की तथा कृषि विज्ञान और उन्नत कृषि साधनों को नये तरीके से पेश करने की सख्त जरुरत बताई। उन्होंने कृषकों की दीनहीन हालत के लिये कर व्यवस्था को भी उत्तरदायी माना और सरकार से किसानों को करों में उचित राहत देने तथा कर वसूली के तरीकों में समुचित परिवर्तन लाने की सलाह दी। देश के औद्योगीकरण पर उन्होंने बल दिया और उद्योगपतियों से श्रम में अधिकाधिक कुशलता लाने के साथ ही साथ कारखानों के आधुनिकीकरण का भी आग्रह किया। टैक्सटाइल उद्योग को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कहा कि हथकरघा उद्योग अच्छा काम कर रहा है और पहले भी इसका भविष्य था लेकिन जो अहम काम हैं वे मशीन के जरिये ही किये जाने चाहिए। देश में आर्थिक अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिये उन्होंने 1908 में रानाडे इंस्टिट्यूट ऑफ इकोनॉमिक्स की स्थापना की।

संवैधानिक सुधारों का स्वप्न

गोपालकृष्ण गोखले संवैधानिक तरीकों से सुधारों के प्रबल पक्षधर थे तथा उन्होंने देश में संवैधानिक सुधारों हेतु बड़ी तत्परता से अपने सुझाव प्रस्तुत किये। वे मार्ले–मिंटो सुधारों की तैयारी में गहन तौर पर शामिल थे। इसी प्रकार, बम्बई प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर लार्ड विलिंगडन ने संवैधानिक सुधारों के अगले चरण के संबंध में उनके सुझाव आमंत्रित किये थे। इस समय वे गंभीर रूप से बीमार थे और मृत्युशय्या पर थे किन्तु उन्होंने बड़ी ही तत्परता और लगन के साथ अपने सुझावों के संबंध में एक नोट तैयार कर आगा खान को सौंपा जिसे अगस्त 1917 में प्रकाशित किया गया। ये गोखले की अन्तिम राजनीतिक इच्छाएं मानी जाती हैं और इस नोट को प्रायः 'गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा' कहा जाता है। गोखले के ये सुझाव भविष्य के किन्हीं दूरगामी लक्ष्यों की आकांक्षा से प्रेरित होने की अपेक्षा ब्रिटिश संवैधानिक सुधार के अगले कदम के रूप में 'प्रांतीय स्वायत्तता' को मूर्तरूप देने के उद्देश्य पर आधारित थे। उन्होंने अपनी सुधार योजना के लिये 'जर्मन रैहस्टाग' की एक मॉडल के रूप में चर्चा की। गोखले की इस सुधार योजना को काफी हद तक भारत सरकार अधिनियम,1919 में मान्यता प्राप्त हुई।

तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारतीयों का समर्थन हासिल करने के लिये 'दिल्ली डिस्पैच' जारी किया जिसमें यह घोषणा की गयी कि युद्ध की समाप्ति पर सरकार संवैधानिक सुधारों को अंजाम देगी और 'प्रांतीय स्वायत्तता' सहित भारतीयों को अनेक अन्य रियायतें देने पर विचार किया जाएगा। इसके तहत प्रान्तों में द्वैध शासन की व्यवस्था के संकेत दिए गये। देश के आंतरिक प्रशासन के संबंध में भारत सरकार और राज्य के सचिव द्वारा नियंत्रण का प्रावधान किया गया। इस विचार को कार्यरूप में परिणित करने के लिये गोखले ने निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये–

प्रांतीय सरकार के लिये सुझाव

प्रत्येक प्रान्त में निम्न व्यवस्थाएं होनी चाहिए–

1. प्रशासन के शीर्ष पर इंग्लैंड से नियुक्त गवर्नर।

टिप्पणी

2. छह सदस्यों वाली एक कैबिनेट या कार्यकारी परिषद जिनमें से तीन सदस्य अंग्रेज और तीन सदस्य भारतीय हों। गोखले द्वारा चिह्नित विभाग थे– गृह (कानून और न्याय सहित); वित्त; कृषि, सिंचाई, लोक निर्माण; शिक्षा; स्थानीय स्वशासन (साफ–सफाई और चिकित्सा राहत सहित) और उद्योग एवं वाणिज्य। कार्यकारी परिषद में भारतीय सिविल सेवा के सदस्यों की नियुक्ति की जा सकती थी किन्तु उनके लिये किसी भी विभाग के आरक्षण का प्रावधान नहीं होना चाहिये और इस हेतु सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति ही नियुक्त हों चाहे वे अंग्रेज हों या फिर भारतीय।
3. प्रत्येक प्रान्त में एक विधान परिषद जिसके सदस्यों की संख्या 75 और 100 के बीच हो। इसके कम से कम 4/5 सदस्य विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों और हितों के द्वारा निर्वाचित किये जाने चाहिए।
4. जिन कार्यकारी सरकारों और विधान परिषदों का गठन किया जाना है उनके बीच संबंध मोटे तौर पर वैसे ही हों जैसे कि शाही सरकार और 'जर्मन रैहस्टाग' में होते हैं। परिषद को सभी प्रांतीय कानून पारित कर सकने की शक्ति हो और प्रांतीय कराधान में किसी भी प्रकार के परिवर्तन करने के मामलों में इसकी स्वीकृति आवश्यक हो। इन्हें बजट पर विचार विमर्श करने की शक्ति; उन प्रस्तावों पर विचार करने का अधिकार, जो इनके अधिकार क्षेत्र में आते हैं और सामान्य प्रशासनिक प्रश्नों पर भी विचार करने का अधिकार हो तथा इनके निर्णयों को गवर्नर द्वारा वीटो किये गये मामलों को छोड़कर सामान्यतः स्वीकार किया जाए। विधान परिषदों की ज्यादा से ज्यादा बैठकों और अधिक से अधिक चर्चा की व्यवस्था हो किन्तु कार्यकारी सरकार के सदस्यों का कार्यकाल व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से परिषदों के बहुमत के समर्थन पर निर्भर न हो।

भारत सरकार के लिये सुझाव

इस प्रकार व्यावहारिक रूप से प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान की जाए और इसी के अनुरूप कार्यकारी परिषद या वायसराय के मंत्रिमंडल की संरचना को बदलना होगा। वर्तमान में परिषद में चार सदस्य हैं जो देश के आंतरिक प्रशासन से सम्बद्ध हैं– गृह, कृषि, शिक्षा और उद्योग एवं वाणिज्य। इस योजना के तहत समस्त आंतरिक प्रशासन अब प्रांतीय सरकारों को सौंप दिया जाना है और भारत सरकार इन पर नाममात्र का नियंत्रण रखेगी जिसका प्रयोग बहुत दुर्लभ अवसरों पर ही किया जाएगा। केन्द्रीय स्तर पर इन चार सदस्यों के स्थान पर एक सदस्य जिसे 'इंटीरियर' के नाम से जाना जाएगा पर्याप्त होगा। तथापि कुछ अन्य नए विभागों की आवश्यकता होगी। गोखले इस सन्दर्भ में छह सदस्यों वाली परिषद का सुझाव देते हैं जिनमें से कम से कम दो भारतीयों को हमेशा रखा जाएगा। ये छह विभाग होंगे– आंतरिक, वित्त, कानून, रक्षा, संचार (रेलवे, पोस्ट और टेलीग्राफ) और विदेश।

वायसराय की विधान परिषद का गठन भारत की विधानसभा के रूप में होना चाहिए। शुरुआती तौर पर इसके सदस्यों की संख्या 100 हो तथा इसकी शक्तियों का विस्तार किया जाए किन्तु इसमें वर्तमान में शासकीय बहुमत (जो शायद एक नामजद

टिप्पणी

बहुमत को स्थानापन्न करने के लिए पर्याप्त होगा) के सिद्धांत को ही मान्यता दी जाए। ऐसा तब तक किया जाना चाहिये जब तक कि प्रांतों के लिए स्वायत्त व्यवस्था की दृष्टि से काम का पर्याप्त अनुभव हासिल न कर लिया जाए। यह व्यवस्था भारत सरकार के प्रांतीय प्रशासन के सिलसिले में आपात स्थितियों में प्रयोग किये जा सकने के लिए एक आरक्षित शक्ति प्रदान करेगी।

भारत सरकार की संरचना इस प्रकार से हो कि वह वित्तीय मामलों में राज्य के सचिव के नियंत्रण से मुक्त हो सके। अन्य मामलों में भी राज्य के सचिव का नियंत्रण काफी हद तक कम किया जाना चाहिए। राज्य के सचिव की परिषद को खत्म किया जाना चाहिये और उसकी शक्तियों को कम से कम करते हुए उसकी हैसियत अधिक से अधिक उपनिवेशों के लिए राज्य के सचिव की रखनी चाहिये। सेना और नौसेना में भारतीयों को उच्च पद, पर्याप्त प्रशिक्षण और उचित सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

3. उदारवाद किस सिद्धांत की एक प्रमुख विचारधारा है?

   (क) पारिवारिक (ख) सामाजिक

   (ग) राजनीतिक (घ) आर्थिक

4. किसकी कार्यपद्धति 'प्रार्थना, याचिका और शांतिपूर्ण जुलूस' तक सीमित थी?

   (क) आतंकवादियों की (ख) उदारवादियों की

   (ग) बुद्धवादियों की (घ) विदेशियों की

3.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (ख)

3.5 सारांश

महात्मा गांधी ने किसी भी 'वाद' की शुरुआत नहीं की। उन्होंने समय–समय पर राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विषयों पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। आगे चलकर विभिन्न लोगों ने इन विचारों को इकट्ठा किया और उसे 'गांधीवाद' का नाम दे दिया। गांधीवाद सिद्धांतों का ढोंग, नियमों या नीतियों, रोक या संकोच का संग्रह नहीं है, बल्कि जीवन का एक रास्ता है। यह जीवन के विषयों के प्रति एक नया नजरिया पेश करता है तथा आधुनिक समस्याओं के लिए प्राचीन निदान उपलब्ध कराता है।

टिप्पणी

1936 में, महात्मा गांधी ने कहा था, "गांधीवाद जैसी कोई चीज नहीं है और मैं अपने बाद कोई पंथ छोड़कर नहीं जाना चाहता। मैं यह दावा नहीं करना चाहता कि मैंने कोई नया सिद्धांत या मत दिया है। मैंने इतना भर प्रयास किया है कि शाश्वत सत्य को हमारे दैनिक जीवन और उसकी समस्याओं पर कैसे लागू किया जाए। इसलिए मेरे द्वारा किसी प्रकार की संहिता छोड़ जाने का प्रश्न नहीं है, जैसे कि मनु संहिता थी।"

गांधी के विचार रस्किन, थोरो और टॉल्स्टॉय से प्रभावित थे। उनके राजनीतिक विचारों में धार्मिक सिद्धांतों को भी शामिल किया गया था। गांधी मानते थे कि वेदों, भगवद् गीता, बाइबल, कुरान और अन्य शास्त्रों ने उनके विचारों को प्रभावित किया है। गांधीवादी विचारों की नींव सत्य पर रखी गई थी। गांधी के अनुसार, "सत्य मेरे लिए संप्रभु सिद्धांत है, जिसमें कई अन्य सिद्धांत शामिल हैं, तथा हमारी संकल्पना का आधार सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि संपूर्ण सत्य और वह शाश्वत सिद्धांत है, जिसे ईश्वर कहते हैं। ईश्वर की कई परिभाषाएं हैं, क्योंकि उनकी अभिव्यक्ति असंख्य रूप में होती है। वे मुझे आश्चर्य और विस्मय से अभिभूत कर देते हैं और कुछ पलों के लिए तो मुझे सन्न कर देते हैं। लेकिन मैं ईश्वर को सिर्फ सत्य के रूप में ही पूजता हूं।" इस प्रकार, गांधी के विचारों में सत्य को एक महास्थान प्राप्त है। गांधी का सत्य कोई विशिष्ट या गैर–परंपरागत अवधारणा नहीं थी, उन्होंने बस इस शब्द का प्रयोग इस प्रकार किया कि सबसे आम आदमी और ज्यादातर मुख्य धारा के दार्शनिक भी उसे सहजता से स्वीकार कर सकें। सत्य का इस्तेमाल सरल रूप में यथार्थ के लिए किया जाता है और हमारे तथा इसके बीच एक अनुकूलता का संबंध होता है। इसलिए एक विश्वास तब तक सत्य होता है जब तक वह यथार्थ के अनुरूप होता है। 'सत्य ही ईश्वर है' क्योंकि यह उच्चतम अच्छाई है, जो हमारे अस्तित्व का स्वाभाविक लक्ष्य होता है। गांधीवादी दर्शन के मुताबिक, मनुष्य अनिवार्य रूप से सत्य की तलाश करने वाले होते हैं। यह हमारा स्वतंत्र विवेक होता है – यथार्थ से संगत विश्वासों को ग्रहण करने की हमारी क्षमता होती है तथा अपने व्यवहारों को मानदंड पर कसे गए सिद्धांतों के अनुरूप ढालने की क्षमता होती है, जिससे हमारे जीवन को अर्थ मिलते हैं और जिन्हें नैतिकता पर आधारित होना चाहिए।

गांधीजी अंहिसा के विचार के मौलिक विचारक नहीं थे, परंतु वे राजनीति में वृहत स्तर पर अंहिसा का प्रयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। अंहिसा जैसी कि गांधीजी द्वारा अनुकरण व क्रियान्वित की गई अपने–आप में शत्रु के समक्ष आत्मसमर्पण कर देने का नाम नहीं है। संक्षेप में, हम इसको सत्याग्रह कह सकते हैं, जिसका अर्थ है– पूर्ण नैतिकता व आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा बुराई का प्रतिकार। अंहिसा हमारा आत्मिक बल है तथा भगवान की वह शक्ति है, जो कि हममें ही निहित है। यह आत्मबलिदान में निहित है तथा आत्मपीड़ा से प्रेरित है। गांधीजी के शब्दों में– ''बुराई के सामने यह कमजोर का आत्मसमर्पण नहीं है। यह एक नकारात्मक शक्ति नहीं है, यह एक ऐसा सकारात्मक बल है, जो कि विद्युत से भी ज्यादा सकारात्मक है। अति हिंसा को अति अंहिसा के द्वारा ही मारा जा सकता है। यह सकारात्मक, गतिशील व निर्माणकारी है।''

टिप्पणी

सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह। यह एक आध्यात्मिक शक्ति है। गांधी जी के शब्दों में– "सत्याग्रह आत्मा की शक्ति है। सत्य का आग्रह है, यह सत्य पर आग्रह दूसरों को कष्ट देकर नहीं वरन, अपने ऊपर कष्ट सहन करने को कहता है।" गांधी ने सत्याग्रह शब्द का इस्तेमाल 1906 में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद वाली सरकार के खिलाफ चलाए गए अहिंसात्मक आंदोलन के लिए किया था। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने के दौरान, गांधी ने इसे एक प्रेम–बल या आत्म–बल के रूप में इस्तेमाल किया जो अहिंसात्मक था और जिसका लक्ष्य सत्य की खोज था। गांधी के लिए सत्याग्रह, सत्य की विजय था, जिसे विरोधी की बजाय खुद कष्ट सहकर हासिल करना था। सत्याग्रह ने हमेशा साधनों और साध्यों की शुद्धता पर जोर दिया। यह अन्याय, अत्याचार या बुराई के विरुद्ध लड़ने वाले नैतिक व्यक्ति के हाथों में एक नैतिक हथियार है तथा इसका इस्तेमाल किसी भी परिस्थिति में किया जा सकता है। गांधी के अनुसार– "यह ऐसा बल है जिसका प्रयोग व्यक्तियों के साथ–साथ समुदायों के द्वारा भी किया जा सकता है। इसे राजनीतिक मामलों के साथ–साथ घरेलू मामलों में भी लागू किया जा सकता है। सार्वभौमिक रूप से लागू किये जाने की इसकी क्षमता ही इसके स्थायित्व और अजेय होने का प्रमाण है।"

गांधी ने साधनों के साथ–साथ साध्य पर भी जोर दिया। आज भारत में जो कुछ हो रहा है वह गांधीवादी नैतिकता और आचार के मापदंडों के मुकाबले बेहद निम्न स्तरीय है। हालांकि, गांधी की सोच को यदि नई पीढ़ी पूरी तरह अपना ले, तो भारत की कई समस्याएं हिंसा का सहारा लिए बिना सुलझाई जा सकती हैं। गांधी की तकनीकों के प्रयोग से भ्रष्टाचार, कालाबाजारी या आर्थिक, औद्योगिक या सामाजिक जीवन में अन्याय से सफलतापूर्वक लड़ा जा सकता है। खून–खराबे के बगैर भारत में गांधीवाद से क्रांति लाई जा सकती है।

एक विचारधारा के रूप में उदारवाद का उदय अब से लगभग तीन शताब्दियों पूर्व यूरोप में हुआ। ज्ञानोदय, औद्योगिक क्रांति, सामंतवाद का पतन और पूंजीवाद का उदय इत्यादि कुछ ऐसी परिस्थितियां थीं जिन्होंने यूरोप में उदारवादी विचारों के प्रसार में महती भूमिका अदा की। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के प्रारंभिक दौर में उदारवादी विचारों का ही बोलबाला रहा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जो कि प्रायः भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की पर्यायवाची समझी जाती है अपनी स्थापना के पहले बीस वर्षों में उदारवादियों के नेतृत्व में रही।

गोपालकृष्ण गोखले, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के शीर्ष नेताओं में से एक थे, जिन्होंने देश के राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अपने चिंतन और कार्यकलापों की वजह से एक अमिट छाप छोड़ी। उनके विचार उदारवादी थे और वह कांग्रेस के अन्दर नरमपंथ का प्रतिनिधित्व करते थे। गोपालकृष्ण गोखले का जन्म 9 मई, 1866 को तत्कालीन बंबई प्रेसीडेंसी के रत्नागिरी जिले में हुआ, उन्होंने 1886 में 20 साल की उम्र में सामाजिक जीवन में प्रवेश किया। राष्ट्रीय एकता और सार्वजानिक नीति के आध्यात्मीकरण के अपने विचारों को मूर्तरूप देने के उद्देश्य से गोखले ने 12 जून, 1905 को सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी नामक अनुपम संस्था की स्थापना की।

3.6 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **प्रवर्धित** : बढ़ाया हुआ।
- **विन्यास** : रखना, व्यवस्थित करना, प्रदर्शन।
- **अभेद्य** : जिसमें प्रवेश न किया जा सके।
- **गतिविधियां** : कार्यकलाप, किसी कार्य का होना।
- **सत्यनिष्ठता** : ईमानदारी, सच्चाई।

3.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी विचारों, शब्दों और कर्मों से किसके विरुद्ध थे?
2. सत्याग्रह का क्या अर्थ है?
3. आर्थिक निष्क्रमण के सिद्धांत से आप क्या समझते हैं?
4. सर्वेन्ट ऑफ इंडिया सोसायटी के सदस्यों को क्या शपथ लेनी होती थी?
5. उदारवाद की स्वतंत्रता संबंधी अवधारणा की मुख्य विशेषताएं क्या हैं?
6. सत्ता के विकेंद्रीकरण के संबंध में गोपालकृष्ण गोखले के विचार संक्षिप्त में दीजिए।
7. गोखले ब्रिटेन के साथ भारत के संपर्क को कल्याणकारी क्यों मानते थे?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी के मूल विचारों की व्याख्या कीजिए।
2. सत्याग्रह पर टिप्पणी लिखिए।
3. भारतीय उदारवाद के मौलिक लक्षण क्या हैं? विचार कीजिए।
4. गोपालकृष्ण गोखले के राजनीतिक दर्शन की विवेचना कीजिए।
5. गोखले के आर्थिक चिंतन पर एक लेख लिखिए।
6. गोखले के स्वशासन के प्रस्ताव की समीक्षा कीजिए।
7. राजनीति के आध्यात्मीकरण संबंधी गोखले के विचारों का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

3.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी ए. और अवस्थी आर. के., *आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन* (नई दिल्लीः रिसर्च पब्लिकेशन, 1997)।
2. ए. आचार्य, *'लिबरलिज्म'*; आर. भार्गव एवं ए. आचार्य (संपा) *पॉलिटिकल थ्योरी : एन इन्ट्रोडक्शन,* (नयी दिल्लीः पियर्सन, 2008) पृ. 236–243।

टिप्पणी

3. ए. डी. आशीर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्र, *राजनीतिक विज्ञान,* (नई दिल्ली : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1992) 11वां हिन्दी संस्करण।
4. ऐलन रेयान, *'लिबरलिज्म'*; आर. गुडिन एवं पी. पेटिट (संपा). *ए कम्पेनियन टु कंटम्परेरी पॉलिटिकल फिलासफी,* (ऑक्सफोर्डः ब्लैकवेल, 1993) पृ. 360–362।
5. चंद्रा बी, *हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्लीः ओरिएंट ब्लैक्स्वान, 2009)।
6. प्रधान आर सी (2008), *राज टू स्वराज,* नई दिल्ली : मैकमिलन इंडिया लिमिटेड।
7. बारिया धरमपाल, *गोपालकृष्ण गोखले* (दिल्ली : मनोज पब्लिकेशन्स, 2003)।
8. वर्मा वी. पी., *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* (आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, 2009)।

इकाई 4 साम्यवाद, समाजवाद

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 साम्यवाद
  4.2.1 साम्यवाद की अवधारणा
  4.2.2 भारत में साम्यवाद का विकास
  4.2.3 साम्यवाद के संबंध में एम.एन. राय के विचार
4.3 समाजवाद
  4.3.1 समाजवाद के उद्‌भव की ऐतिहासिक खोज
  4.3.2 फेबियन समाजवाद
  4.3.3 लेनिन और मार्क्सवाद
  4.3.4 भारतीय समाजवादी विचारक : राममनोहर लोहिया
  4.3.5 पं. दीनदयाल उपाध्याय
  4.3.6 जयप्रकाश नारायण
4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.5 सारांश
4.6 मुख्य शब्दावली
4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

'साम्यवाद' के लिए सबसे पहला नाम कार्ल मार्क्स का आता है। इन्हीं के विचारों को 'मार्क्सवाद' कहा जाता है। मार्क्सवाद इस विश्व का जिसमें हम रहते हैं और मानव समाज का, जो इस विश्व का एक भाग है, एक सामान्य सिद्धांत है। मार्क्सवाद आधुनिक युग में संपूर्ण विश्व के कामगार वर्ग को पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संगठित होने का संदेश देता है ताकि पूंजीवाद के विरुद्ध क्रांति करके समाजवाद की स्थापना की जा सके, जिससे अंततः साम्यवाद का उदय होगा। मार्क्स का दार्शनिक आधार भौतिकवाद है। इसमें जड़ पदार्थ को सृष्टि का सार तत्व मानते हैं, विचार तत्व या चेतन तत्व को भौतिक तत्व की प्रतिच्छाया के रूप में देखा जाता है। यह सिद्धांत समाजवाद के सहारे मानव जाति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति पर जोर देता है। इस प्रकार मार्क्स ने अपने क्रांतिकारी विचारों से पूरे विश्व में हलचल उत्पन्न कर दी। मार्क्स ने तत्कालीन भारत से संदर्भित अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे तथा भात में स्थापित उपनिवेशवाद की तत्व मीमांसा का विश्लेषण किया जो भारतीय विचारकों को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया।

समाजवाद सामाजिक समानता के सिद्धांत पर आधारित है। यह मूलतः वर्ग राजनीति के आधार पर तथा धन के वर्गीकरण के अनुसार समाज का अवलोकन करता है।

प्रस्तुत इकाई में साम्यवाद तथा समाजवाद की विस्तृत विवेचना की गई है और समाजवाद एवं साम्यवाद में अंतर का विश्लेषण किया गया है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- साम्यवाद की अवधारणा को भलीभांति आत्मसात कर पाएंगे;
- भारत में साम्यवाद की स्थापना और विस्तार के बारे में जानकारी ग्रहण कर पाएंगे;
- भारत में साम्यवाद के विकास के संबंध में जान पाएंगे;
- समाजवाद के उद्‌भव की ऐतिहासिक खोज कर पाएंगे;
- समाजवाद की पद्धतियों एवं कार्ययोजनाओं से परिचित हो पाएंगे;
- साम्यवाद तथा समाजवाद में अंतर कर पाएंगे।

4.2 साम्यवाद

साम्यवाद इस प्रकार का विचारधारा को समर्थन करता है जहां सामाजिक व्यवस्था का विधान हो जिसमें निजी संपत्ति का कोई स्थान न हो, न वर्ग–भेद हो, पुरानी तथा नवीन संस्थाएं तथा मान्यताएं समाप्त हो जाए, यहां तक कि राज्य भी लुप्त हो जाए। इस प्रकार साम्यवाद अपने आप में एक ऐसी विचारधारा है जो कहती है कि लोग आपस में मिल–जुलकर रहें, मिलकर–बांटकर खाए तथा कंधे से कंधा मिलाकर काम करें। साम्यवाद के अंतर्गत यह नियम है– "हर एक से अपनी क्षमता के अनुसार, हर एक को अपनी आवश्यकता के अनुसार।"

साम्यवाद मुख्यतः उन सिद्धांतों से संबंध रखता है जो एक ऐसे समाज को स्थापित करने पर जोर देते हैं, जिनमें मनुष्य के जीवन के सभी क्षेत्रों विशेषकर आर्थिक–सामाकि–राजनीतिक क्षेत्र में समानता को सुनिश्चित करे। आर्थिक क्षेत्र में समानता से तात्पर्य ऐसी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिसमें समाज में सभी की आर्थिक स्थिति एक समान हो तथा जिसमें किसी एक वर्ग विशेष के द्वारा किसी दूसरे वर्ग विशेष का शोषण न हो। राजनीतिक समानता से तात्पर्य है कि सभी को अपने विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो तथा समस्त राजनीतिक प्रक्रिया में समान रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त हो। साथ भय रहित विचारों की अभिव्यक्ति करने का अधिकार प्राप्त हो। सामाजिक समानता का तात्पर्य यह है कि जाति, वर्ग, जन्म अथवा धर्म के आधार पर किसी भी प्रकार का कोई भेद–भाव न हो। महिलाओं को विशेषकर समाज में सहभागिता तथा बराबरी का अधिकार सुनिश्चित हो। अर्थात लिंग के आधार पर होने वाले भेद–भाव न हों।

उपरोक्त अवसर तब तक संभव नहीं हैं जब तक कि उत्पादनों के साधनों पर निजी स्वामित्व विद्यमान है। अतः साम्यवाद की मांग यह है कि इन साधनों का उपयोग न केवल सामूहिक नियंत्रण में रहना चाहिए अपितु उस पर सामूहिक स्वामित्व भी स्थापित होना चाहिए। और उनका संचालन तटस्थ भाव से सर्वहित को ध्यान में रख कर किया जाना चाहिए।

टिप्पणी

'साम्यवाद' की विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले विचारक लेनिन हैं। लेनिन को रूसी साम्यवादी क्रांति का प्रमुख माना गया है। साथ ही मार्क्स का अनुयायी भी। लेनिन ने मार्क्स के विचारों की अत्यंत व्यावहारिक रूप से व्याख्या की तथा उसे रूस में वास्तविक रूप प्रदान किया। जिस प्रकार लेनिन ने रूस में साम्यवाद को व्यावहारिक रूप प्रदान किया उसी प्रकार 'माओ' ने चीन की विशेष परिस्थितियों में साम्यवाद को स्थापित किया।

4.2.1 साम्यवाद की अवधारणा

सामाजिक न्याय अथवा साम्यवाद की विस्तृत ऐतिहासिक अवधारणा हमें प्लेटो तथा अरस्तू तक ले जाती है। प्लेटो का अभिप्राय ऐसी सामाजिक व्यवस्था से था, जिसमें मनुष्य उन सभी कर्तव्यों को स्वेच्छापूर्वक पूर्ण करे, जिनका पालन समाज के प्रयोजनों की दृष्टि से अपरिहार्य है। इस प्रकार यदि नागरिक–कल्याण को परम कसौटी मान लिया जाए तो 'साम्यवाद' और 'सामाजिक–न्याय' के मध्य की दूरी मिटने लगती है। किंतु साम्यवाद इसे पाने के लिए वर्ग–संघर्ष का मार्ग अपनाता है। उसकी मूल धारणा है कि सत्ता के सर्वोच्च पर विद्यमान सर्वसत्तावादी शक्तियां अपने विशेषाधिकारों को कभी नहीं छोड़ेंगी। लेकिन वर्गहीन समाज की रचना के लिए यह सर्वोपरि है कि उनसे उन सभी संसाधनों को प्राप्त करके राज्य के नियंत्रण में लिया जाए जो उन्होंने श्रमिकों और कामगारों के अंतहीन शोषण द्वारा अर्जित किया है। 'साम्यवाद' राज्य से और अधिक जिम्मेदार आचरण की अपेक्षा रखता है। उसका आदर्श है– 'प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी जरूरत के अनुसार'। 'साम्यवाद' अपने राज्य के नागरिकों से अपेक्षा रखता है कि वे राज्य के विकास में अपना भरपूर योगदान दें। साम्यवादी राज्य अपने नागरिकों की सामान्य आवश्यकताओं के आधार पर अपनी उत्पादन नीति बनाता है और इन नीतियों का लोक–कल्याण के लिए प्रयोग करता है।

किसी भी राज्य को साम्यवाद की ओर ले जाना आसान कार्य नहीं है। यह अनेक चरणों में संपन्न होने वाली प्रक्रिया है। मार्क्स ने इसके लिए दो प्रमुख चरणों को बताया है, उसके अनुसार केवल सत्ता के शीर्ष पर सर्वहारा के अधिकार कर लेने मात्र से क्रांति का लक्ष्य पूर्ण नहीं हो जाता; उसका दूसरा चरण वर्गहीन समाज की स्थापना करना है, जिसमें सभी प्रकार के भेदों का शमन हो जाता है। साथ ही उन परिस्थितियों का विलोपन हो जाता है, जो असमानता तथा असुरक्षा को बढ़ावा देती हैं। इस प्रकार साम्यवाद जिस सर्वहारा वर्ग का सपना था संकल्प है, उसका बहुत बड़ा हिस्सा अत्यंत गरीबी, निरक्षरता और भीषण रूढ़िवादी अंधविश्वासों से ग्रस्त रहा है। भारतीय विषय में जातिवाद और भी बड़ी मुश्किल है। अनेक वर्षों की पराधीनता, शोषण और उत्पीड़न का शिकार बने रहने के कारण, अपने लिए स्वयं निर्णय लेने का आत्मविश्वास लुप्त प्रायः हो जाता है। वहीं दूसरी ओर प्रचुर संसाधनों, ज्ञान–विज्ञान तथा सभी प्रकार की सर्वसंपन्न शक्तियों से सज्जित अभिजात्य अल्पसंख्यक समुदाय सदैव आत्मविश्वास से परिपूर्ण होता है तथा यह वर्ग बदलाव के लिए उतना ही तत्पर होगा जितने में उसके निजी लाभ को किसी प्रकार की हानि न हो। अतः करनी और कथनी में अंतर आने लगता है और यह अंतर तभी समाप्त हो सकता है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति सजग हो। आमूल परिवर्तन तभी संभव है जब जनमानस में वर्गीय चेतना जागृत हो, वे शोषण के कारणों को समझें तथा समान हितों के लिए संगठित हों।

टिप्पणी

इस प्रकार साम्यवाद एक ऐसी अवधारणा है, जो एक वर्गविहीन समाज की परिकल्पना करती है, जिसमें समाज का प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार से समान है। यह साम्यवाद कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगल्स द्वारा निष्पादित और साम्यवादी घोषणा पत्र में वर्णित समाजवाद का अंतिम लक्ष्य है। एक प्रकार से यह एक सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था है, जिसके तहत एक ऐसे समतामूलक समाज की स्थापना की कल्पना की जाती है, जिसमें ऐतिहासिक और आर्थिक प्रतिमानों को नष्ट करके उत्पादन के समस्त संसाधनों पर संपूर्ण समाज के स्वामित्व की अवधारणा होगी। समाज वर्गहीन होगा तथा मानवता ही एकमात्र जाति होगी। न्याय सबके लिए सुलभ एवं समान होगा। साम्यवाद में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसमें 'हर एक से क्षमतानुसार, हर एक को आवश्यकता अनुसार' के सिद्धांत को लागू किया जाता है। साम्यवाद में निजी संपत्ति हेतु कोई भी स्थान नहीं होता। साम्यवादी व्यवस्था में पूंजी तथा उत्पादनों के साधनों पर जनता का नियंत्रण होता है। इस प्रकार साम्यवाद एक सुदृढ़ विचारधारा है।

साम्यवाद तथा समाजवाद में अंतर

समाजवाद मुख्यतः उन सिद्धांतों से संबंधित होता है, जो एक ऐसे समाज को स्थापित करने पर बल देता है जिसमें मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का संपूर्ण विकास हो। समाजवाद मानव मात्र के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में समानता को सुनिश्चित करता है। इस प्रकार 'समाजवाद' तथा 'साम्यवाद' दोनों ही एक इस प्रकार की समाज की संकल्पना करते हैं, जहां मनुष्य–मनुष्य में कोई भी अंतर न हो। इस प्रकार साम्यवाद और समाजवाद दोनों ही का उद्देश्य समाज में एकरूपता लाना है, तथापि इनमें कुछ मूलभूत अंतर भी हैं, जिनको हम निम्नलिखित प्रकार से समझ सकते हैं–

1. जहां समाजवाद वर्गविहीन समाज की परिकल्पना करता है, जिसमें उत्पादन एवं पूंजी पर समाज अर्थात राज्य का स्वामित्व होता है और एक समान वितरण भी समाज के नेतृत्व में किया जाता है, वहीं दूसरी ओर साम्यवादी व्यवस्था में पूंजी तथा उत्पादन पर सीधा जनता का नियंत्रण रहता है।
2. समाजवादी नियमों की व्यवस्था में योग्यता एवं कार्य के आधार पर भुगतान का प्रावधान है, वहीं साम्यवादी व्यवस्था में व्यक्ति की आवश्यकता के अनुसार उसे भुगतान अथवा पारिश्रमिक दिया जाना निर्धारित किया जाता है।
3 समाजवादिक व्यवस्था में राज्य एक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग माना जाता है, जबकि साम्यवादी व्यवस्था राज्य के अस्तित्व को पूर्णतया नकारती है। इस व्यवस्था में राज्य की कोई परिकल्पना ही नहीं है।
4. समाजवादिक व्यवस्था में राज्य के सहयोग से समानता लाने की परिकल्पना की गई है, जबकि साम्यवाद का लक्ष्य अथवा उद्देश्य ही राज्य नामक संस्था को समाप्त करना है। साम्यवादियों के अनुसार राज्य शोषक की शोषण में मदद करता है।
5. समाजवादी अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए शांतिपूर्वक समानता के पक्षधर हैं, वहीं साम्यवादी समाज में समानता को लाने का माध्यम संघर्ष तथा क्रांति को मानते हैं।
6. समाजवाद एक आर्थिक प्रणाली का पक्षधर है, जबकि साम्यवाद आर्थिक एवं राजनीतिक प्रणाली है।

टिप्पणी

7. समाजवाद के अंतर्गत व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा को मान्यता प्राप्त है, जबकि साम्यवादी व्यवस्था किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत संपत्ति को अस्वीकार्य करती है।
8. समाजवाद के समान्तर पूंजीवाद का अस्तित्व होना संभव है, किंतु साम्यवाद में पूंजीवाद पूर्णतया असंभव है।
9. समाजवाद को व्यक्तिगत समानता की ओर एक पहला कदम माना जा सकता है, जबकि साम्यवाद व्यक्तिगत समानता की परिणिति है।

इस प्रकार हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि समाजवाद से होकर ही साम्यवाद के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। सारतः यह कहा जा सकता है कि मार्क्स की क्रांतिकारी विचारधारा बीसवीं सदी के आंदोलन से प्रेरित थी तथा कहीं–कहीं पर इसके तहत सरकारों पर नियंत्रण हो सका। 1917 में बोल्शेविक क्रांति ने रूसी जार का शासन खत्म कर दिया तथा एक गृहयुद्ध के पश्चात सोवियत संघ की स्थापना हुई जो कि 1991 में ध्वस्त हो गयी जो कि नाम मात्र कम्युनिस्ट साम्राज्य था। इस प्रकार बीसवीं या इक्कीसवीं सदी के कम्युनिस्ट राज्य ने 19वीं सदी में अभिव्यक्त होने वाली अर्थव्यवस्था की कमी का कारण मार्क्स को बताया है। माओ के चीन में अकाल तथा राजनतिक हिंसा के कारण लाखों लोगों की मृत्यु हो गई। वर्ग–भेद को नष्ट करने की बजाय, चीन तथा रूस के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने छोटे–छोटे धनाढ्य दल बनाए जो कि कड़ियों के माध्यम से राज्य के स्वामित्व वाले उद्यमों के लिए लाभान्वित हुए।

भारत में साम्यवाद की स्थापना एवं विस्तार

साम्यवाद एवं समाजवाद दोनों ही विचारधाराओं का संपूर्ण विश्व में गहरा प्रभाव परिलक्षित हुआ तथा अनेकानेक देशों ने इन मॉडलों को ग्रहण किया। भारतवर्ष भी इस प्रक्रिया में अछूता नहीं रहा। हमारे देश में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात साम्यवाद की सुगबुहाट दिखाई पड़ती है तथा प्रथम साम्यवादी के रूप में महेंद्र नाथ राय का नाम लिया जाता है। इनका मूल नाम नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य था और इनका जन्म कलकत्ता के निकट एक गांव में हुआ था। महेंद्र नाथ राय ने रूस की वोल्शेविक क्रांति में हिस्सा लिया था और बाद में लेनिन के सलाहकार भी नियुक्त हुए। इसके बाद राय मैक्सिको गए और वहां उन्होंने 'साम्यवादी पार्टी' की स्थापना की। भारत आने पर राय को साम्यवाद की संभावना कम लगी। राय वीर सावरकार, विपिन चंद्र पाल, स्वामी विवेकानंद, स्वामी दयानंद के विचारों से प्रभावित थे और बंगाल में हो रहे स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेते थे। इसके पश्चात 1921 में राय चीन गए। वहां चीन की क्रांति में सहायता की। किंतु वहां भी इनकी विचारधारा मेल नहीं खायी। इसके पूर्व वर्ष 1920 में मानवेंद्र नाथ राय एवं उनके कुछ अन्य सहयोगियों ने 'साम्यवादी दल' बनाया। एस. पी. घाटे इस दल के महामंत्री नियुक्त किए गए। राय की सलाह पर 'कम्युनिस्ट पार्टी' को 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' की शाखा मान लिया या। इसके बाद वर्ष 1928 में 'कम्युनिस्ट इंटरनेशनल' ने ही भारत में 'कम्युनिस्ट पार्टी' की कार्य प्रणाली सुनिश्चित की। पार्टी के महासचिव स. सुधाकर रेड्डी थे और इस दल का युवा संगठन 'ऑल इंडिया यूथ फेडरेशन' के नाम से विख्यात है।

टिप्पणी

इतिहास

यह सर्वमान्य तथ्य है कि यद्यपि 'भारतीय साम्यवादी दल' का नियमानुसार गठन 26 दिसंबर को कानपुर में हुआ, तथापि देश के औपनिवेशिक हालात पहले से ही इसके लिए पृष्ठभूमि तैयार कर चुके थे। देश में व्याप्त आर्थिक असंतोष एवं नस्लीय उत्पीड़न ने साम्यवादी आंदोलन के उदय को और अधिक सरल–सुगम बना दिया। 1857 की असफल क्रांति के पश्चात भारत शासन सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया। अब भारत कंपनी का गुलाम न होकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का गुलाम बन गया और वर्ष 1858 में ब्रिटिश सरकार ने सत्ता संभालते ही भारतीय जनमानस का अत्यंत शोषण एवं उत्पीड़न करना आरंभ कर दिया था। उदारवादी नेता दादाभाई नौरोजी ने भी भारत की आर्थिक–सामाजिक–राजनीतिक दुर्दशा का कारण ब्रिटिश सरकार को ठहराया। भारत में साम्यवाद के पैर जमाने के लिए जमीन तैयार करने का काम ब्रिटेन की नस्लवादी नीतियों ने भी किया। यह वह समय था जब अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर साम्यवादी आंदोलन गति पकड़ रहा था। इस कारण भारत का साम्यवाद से अछूता रहना संभव नहीं था।

साम्यवाद समर्थित देशों से प्रबुद्ध साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित भारतीय देश में मार्क्सवादी साहित्य भेज रहे थे तथा भारत में मार्क्सवाद के प्रति विशेषतः युवा–वर्ग एवं क्रांतिकारियों में आकर्षण बढ़ा और भारत में साम्यवादी आंदोलन जोर पकड़ने लगा। 'पेशवार षड्यंत्र केस' (1922–28) से संबंध होने के कारण साम्यवादी दल के सदस्य अत्यधिक चर्चा में रहे थे। इस केस से संबंधित मुकदमों के लिए कांग्रेस ने 'केंद्रिय सुरक्षा समिति' का गठन किया। तथा इन मुकदमों की पैरवी के लिए कैलाश नाथ काटजू, डॉक्टर एफ.एच. अंसारी तथा जवाहरलाल नेहरू को प्रतिवादियों की तरफ से प्रस्तुत किया गया। वर्ष 1934 तक साम्यवादी दल ने अपने आंदोलनों के द्वारा भारत में काफी लोकप्रियता हासिल कर ली थी। इसी सफलता को अग्रसर होता देख जुलाई 1934 में ब्रिटिश भारत की सरकार ने साम्यवादी दल को भारत में प्रतिबंधित कर दिया था। स्वतंत्रता आंदोलन के काल में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता आंदोलनों में कांग्रेसी नेताओं के साथ ही थे। किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के समय साम्यवादी नेताओं ने अंग्रेजों का साथ दिया। इस कारण दिसंबर 1945 में कांग्रेस ने सभी साम्यवादियों को अपने दल से निष्कासित कर दिया।

भारत की स्वतंत्रता पश्चात जब 1950 में भारतीय संविधान को अंगीकार किया गया तब साम्यवादी दल ने इसे 'दासता का घोषण–पत्र' कहा। वर्तमान में इस दल का प्रभाव केरल, पश्चिम बंगाल तथा त्रिपुरा में प्रमुख रूप से विद्यमान है।

वामपंथ आंदोलन

फ्रांसीसी क्रांति के काल में सर्वप्रथम दक्षिण एवं वाम शब्द का प्रयोग किया गया। वहां राजा के अनुयायी 'दक्षिण पंथी' तथा राजा के विरोधी 'वामपंथी' कहलाए गए। कालक्रमानुसार 'वामपंथ' को ही 'साम्यवाद' कहा जाने लगा। भारत में वामपंथी विचारधारा प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1919 ई.) के बाद ही प्रमुखतया प्रचलन में आई। उस समय के प्रसिद्ध औद्योगिक शहरों, जैसे– मुंबई, कलकत्ता, लाहौर, कानपुर तथा मद्रास में 'साम्यवाद' अत्यधिक प्रभावशील था। बंबई में सोशलिस्ट पत्रिका के संपादक एस. डांगे, बंगाल में 'नवयुग' के संपादक मुजफ्फर अहमद, मद्रास के 'सिंगारवेलु चेट्टीचार' तथा लाहौर में 'इन्कलाब' के संपादक गुलाम हुसैन इत्यादि ने भारत में साम्यवादी

विचारधारा को समर्थन देते हुए साम्यवाद के प्रचार–प्रसार में भरसक योगदान दिया, जिसके परिणामस्वरूप भारत में इस आंदोलनों से दो विचारधाराओं– साम्यवाद तथा कांग्रेस समाजवादी दल का विकास हुआ। भारतीय साम्यवाद को रूस की साम्यवादी संगठन 'कमिन्टर्न' का समर्थन प्राप्त था, तो दूसरी ओर 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था। अन्य शब्दों में कहें तो यह कांग्रेस का 'वामपंथी' दल था।

श्रमिक आंदोलन

द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात भारतीय स्वतंत्रता के लिए राजनीतिक आंदोलनों में अत्यधिक तेजी आई और परिणामस्वरूप श्रमिक आंदोलन भी बलशाली होते गए। रूस (1918) की 'साम्यवादी क्रांति' ने भारतीय मजदूर संघों को प्रोत्साहित किया। इसी श्रृंखला में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर 'अंतर्राष्ट्रीय मजदूर संघ' (IOL) की स्थापना हुई और इसी कड़ी में भारत में आधुनिक श्रमिक संघ 'मद्रास श्रमिक संघ' की स्थापना वी.पी. वाडिया ने की तथा वाडिया जी के प्रयासों के फलस्वरूप ही भारत में 1926 में 'श्रमिक संघ अधिनियम' पारित हुआ।

सुधारवादी, क्रांतिकारी एवं विभिन्न यूनियन एवं दलों की स्थापना

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय में विशेष कर द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान एवं पश्चात साम्यवादी विचारधारा को समर्थित अनेक यूनियनों एवं दलों की स्थापना होती गई। 1920 में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (AITUC) की स्थापना हुई, जिसमें 64 से अधिक मजदूर संघ (श्रमिक संघ) सम्मिलित हो गए। इस यूनियन की स्थापना का श्रेय लाला लाजपत राय, एम.एन. जोशी एवं जोसेफ बैपटिस्टा को जाता है, जिनके अथक प्रयासों का परिणाम AITUC (एटक) था। इसके प्रथम अध्यक्ष लाला लाजपत राय थे। राय का कहना था कि 'पूंजीवाद' साम्राज्यवाद तथा सैन्यवाद का जुडवां बच्चा है।

1922 के कांग्रेस के 'गया' अधिवेशन में श्रमिकों को संबद्ध करने के लिए 'एटक' के साथ सहयोग करने का निर्णय कांग्रेस ने लिया। किंतु 1929 में 'एटक' दो दलों में विभाजित हो गई। इनमें एक सुधारवादी तो दूसरा क्रांतिकारी विचारधारा का था। इन्हें क्रमशः 'जेनेवा एमस्टर्डम गुट' एवं 'मास्को गुट' भी कहते हैं। एम.एन. जोशी तथा वी.वी. गिरि के नेतृत्व में नरमपंथी ने 'एटक' से अलग 'भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन' की स्थापना की। इसके बाद 1931 में रणदिवे तथा देश पांडेय ने भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से पृथक होकर 'लाल ट्रेड यूनियन' की स्थापना की। इसके पश्चात 1938 में 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस', 'लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' तथा 'राष्ट्रीय फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन्स' में फिर से साम्य स्थापित हो गया तथा इसका पहला अधिवेशन 1938 में नागपुर में हुआ।

एक होने के पश्चात 'अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस' ने भारत में समाजवादी राज्य की स्थापना, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण एवं प्रेस तथा विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का समर्थन किया। इसी साल अर्थात 1938 में ही सुभाष चंद्र बोस के सहयोग से 'हिंद मजदूर सेवक संघ' की स्थापना हुई। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे वामपंथी दलों की स्थापना भी हुई। जिसमें सर्वप्रमुख 'फारवर्ड ब्लाक' है, जिसकी स्थापना 1939 में सुभाष चंद्र बोस ने महात्मा गांधी से मतभेद होने पर 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' से अलग हो कर की। 1939 में ही एन. दत्त मजुमदार ने 'भारतीय

बोल्शेविक दल' की स्थापना की। 1940 में क्रांतिकारी समाजवादी दल का गठन हुआ। 1940 में ही एम.एन. राय ने 'अतिवादी लोकतंत्र दल' की स्थापना की।

टिप्पणी

4.2.2 भारत में साम्यवाद का विकास

भारत में साम्यवाद का उदय 1857 के विद्रोह के बाद ही हो गया था। प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस की नीतियों पर अपना प्रभाव डालना आरंभ कर दिया था। स्वतंत्रता का आंदोलन चूंकि साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा साम्यवादी सिद्धांत के अनुरूप था इसलिए साम्यवादी दल ने कांग्रेस के आंदोलनों का खुलकर समर्थन किया। तत्कालीन कांग्रेस गांधी के नेतृत्व में अहिंसा परक नीतियों पर चल रही थी, जबकि कम्युनिस्ट क्रांति समर्थक थे। अतः कम्युनिस्टों ने कांग्रेस के अंदर अपना प्रभाव बनाना शुरू कर दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जवाहर लाल नेहरू प्रबल समर्थक सिद्ध हुए।

युवा और प्रतिभाशाली नेहरू मार्क्सवाद तथा रूस की महान अक्टूबर क्रांति से अत्यधिक प्रभावित थे तथा साम्यवाद की ओर आकर्षित थे। इसी साम्यवादी प्रभाव के कारण ही दिसंबर 1929 के कांग्रेस अधिवेशन में नेहरू के सभापतित्व में पूर्ण स्वतंत्रता को अपनाया गया। कांग्रेसियों की सोशलिस्ट पार्टी का गठन, जमींदारी प्रथा के उन्मूलन का प्रस्ताव आदि साम्यवादी विचारधारा का ही प्रमाण है। इसी कड़ी में द्वितीय महायुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा जिस प्रकार से साम्राज्यवादी युद्ध को जनता के युद्ध में परिवर्तित किया तथा 1942 में 'भारत छोड़ो' आंदोलन से असहयोग किया, जिसके कारण दक्षिण पंथी तथा प्रतिक्रियावादी ताकतों की हिम्मत बढ़ी। इस कारण से कम्युनिस्ट पार्टी को राष्ट्र विरोधी तथा रूस का अंधसमर्थक कहा गया। इन्हीं सभी आंदोलनों, वाद–विवादों, आरोप–प्रत्यारोप के चलते भारत विभाजन के त्रास पर स्वतंत्र हुआ और 1952 में प्रथम आम (लोकसभा) चुनाव हुए। आशा के अनुरूप कांग्रेस प्रचंड बहुमत से सत्ता पर आसीन हुई, किंतु अप्रत्याशित रूप से 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' जिसे देश विरोधी पार्टी तक करार दिया था कांग्रेस के बाद दूसरी बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। इनमें प्रो. हीरेन मुखर्जी, भूपेश गुप्ता, रेणुका चौधरी, ए.के. गोपालन, एस.ए. डांगे, रंगरेड्डी, इंद्रजीत गुप्त आदि के समान कम्युनिस्ट पार्टी के सांसदों के स्तर के आगे कांग्रेस के सांसद कमतर और नौसिखिये ही साबित होने थे। इन सांसदों द्वारा उठाये गए प्रश्नों और दिए गए व्यक्तव्यों के आगे सरकार अधिकांशतः लाचार एवं असहाय ही प्रतीत होती थी। इस कारण कम्युनिस्ट नीतियों का सरकार की नीतियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

भारत के पहले प्रधानमंत्री के रूप में नेहरू 'जो स्वतंत्रता आंदोलन के समय ही अपनी आर्थिक नीतियों को स्पष्ट कर चुके थे', ने साम्यवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता स्पष्ट कर दी थी। हालांकि वे साम्यवाद से प्रभावित तो थे किंतु गांधी जी के प्रभाव के आगे नतमस्तक थे। और यही कारण था कि जब कम्युनिस्टों ने यह कहकर कांग्रेस की आलोचना की कि वे ब्रिटिश पूंजीपतियों को हराकर भारतीय पूंजीपतियों को स्थापित करना चाहते हैं, तब नेहरू तिलमिला उठे और उन्होंने कम्युनिस्टों का यह कह कहते हुए विरोध किया कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन मात्र कोई श्रमिक आंदोलन नहीं था, बल्कि यह एक आम मध्यमवर्गीय आंदोलन था जिसका उद्देश्य न केवल सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करना था, बल्कि राजनैतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति भी था। यद्यपि

टिप्पणी

नेहरू ने भारतीय साम्यवादियों को भ्रमित जरूर कहा तथापि साम्यवादियों के आरोपों को स्वीकार करते हुए कहा निःसंदेह भारत का पूंजीवादी वर्ग ब्रिटिश सामाग्री के बहिष्कार तथा स्वदेशी के प्रचार से अत्यधिक लाभान्वित हुआ है, किंतु यह तो निश्चित ही था क्योंकि प्रत्येक राष्ट्रीय आंदोलन राष्ट्रीय उद्योग–धंधों को बढ़ावा देता है तथा विदेशी उद्योगों का बहिष्कार करता है। उनका यह कहना था कि 'साम्यवाद का ध्येय है पूंजीवाद की लाश पर समाजवाद का निर्माण' जो स्पष्ट रूप से उन पर साम्यवादी विचारधारा के प्रभाव को दिखाता है। साम्यवादी नेता हीरेन मुखर्जी के अनुसार– "समाजवाद का परम लक्ष्य सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करना है। एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्रों द्वारा, एक वर्ग के अन्य वर्गों द्वारा समस्त शोषण का अंत करना है तथा एक अंतर्राष्ट्रीय सहकारी समाजवादी विश्व संघ के ढांचे के अंतर्गत राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना है।"

इस प्रकार प्रथम आम चुनावों की अप्रत्याशित जीत से उत्साहित कम्युनिस्ट पार्टी की अप्रैल 1956 में 'पालघाट' में बैठक में पार्टी के कार्यक्रम का पुनःनिर्धारण किया गया। इस बैठक में यह सार तत्व घोषणा के रूप में राष्ट्र के समक्ष आया कि– साम्यवादी दल का उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता व प्रभुसत्ता को मजबूत बनाना एवं आयोजन के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण रखना, भारत की विदेश नीति को विश्व शांति स्थापित करने में बल प्रदान करना, आम आदमी के जीवन स्तर को सुधारने के लिए संघर्ष करना, जनसंगठनों तथा संयुक्त लोकतांत्रिक मोर्चो का गठन करना, जन आंदोलन के माध्यम से जनता के मध्य आर्थिक भेदभाव दूर करना, भारत के समाजवादी खेमे के साथ संबंधों को मजबूत करना तथा साम्राज्यवाद के प्रत्येक हथकंडे के विरुद्ध संघर्ष करना होगा। इस प्रस्ताव पर अमल करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी ने जल्दी ही एक अखिल भारतीय स्तर की ताकत हासिल कर ली थी और केरल, पंजाब, आंध्र और महाराष्ट्र जैसे राज्यों में इसकी स्थिति अत्यधिक मजबूत हो गई। तथा इन सभी उपलब्धियों के आधार पर कम्युनिस्ट पार्टी ने 1957 के द्वितीय आम निर्वाचन में भाग लिया।

साम्यवादी दल को इन लोकहितों के कार्यों की बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। क्योंकि सभी विरोधी दल एवं पूंजवादी वर्ग ने साम्यवादी दल के विरुद्ध कुछ ऐसी असंवैधानिक मुहिम चलायी जिसके परिणामस्वरूप केंदिय सरकार ने संसदीय लोकतंत्र के समस्त नियमों को दरकिनार करते हुए जुलाई 1959 में केरल की सरकार को बर्खास्त कर दिया। इसके परिणामस्वरूप मध्यावधि चुनाव हुए किंतु कांग्रेस सहित सभी दलों के एकजुट हो जाने पर भी साम्यवादी दल पूर्व से कहीं अधिक मतों से जीता। जहां 1957 में इस दल को 23 लाख मत प्राप्त हुए थे वहीं 1959 के मध्यावधि चुनावों में कम्युनिस्ट दल को 35 लाख मत प्राप्त हुए थे, जो यह प्रमाणित करता था कि जनाधार विशेषकर सर्वाधिक शोषित वर्ग में पार्टी में भरोसा बढ़ा था। साथ ही यह बात भी सिद्ध होती है कि इस दल की कथनी और करनी में अंतर नहीं है। साम्यवादी दल की 1958 में 5वीं कांग्रेस बैठक अमृतसर में हुई। इस समय तक पार्टी की सदस्य संख्या दो लाख तक पहुंच गई थी। इस बैठक में देश की स्थिति पर गहन चिंतन–मंथन हुआ। इसकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि यह रही कि पहली बार इस संभावना पर विचार किया गया कि भारत में समाजवाद की स्थापना शांतिपूर्वक तरीके से की जा सकती है। इसके पश्चात् भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को छठवीं कांग्रेस बैठक सन् 1961 में विजयवाड़ा में हुई जिसमें अमृतसर कांग्रेस में लिए गए निर्णयों को आगे बढ़ाने का निर्णय लिया गया।

टिप्पणी

साथ ही यह प्रस्ताव भी पारित किया गया कि दक्षिणपंथी गठन कर लिया जाए। दल के यह आपसी मतभेद विजयवाड़ा कांग्रेस के समय उभरे थे और जब भारत–चीन युद्ध प्रारंभ हुआ तब ये मतभेद और उग्र व प्रबल हो गए। ये मतभेद भारत की राजनीतिक तथा आर्थिक स्थिति, भारत में समाजवाद की अधिक प्रगति तथा अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी आंदोलनों से संबंधित और विशेषकर भारत के साथ रूस से संबंधित चीन की नीतियों जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर थे। नवंबर 1962 में कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी ने चीन आक्रमण से संबंधित एक प्रासंगिक एवं महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किया, जिसके मुख्य पक्ष इस प्रकार हैं–

1. शांतिपूर्वक बातचीत के द्वारा समस्या के समाधान पर बल देते हुए राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रयासों को समर्थन प्रदान करना।
2. इस तथ्य को दृढ़तापूर्वक बताने के लिए कि चीन की कार्यवाही अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन की नीति तथा सिद्धांतों के सर्वथा विरुद्ध है, व्यापक आंदोलन करना।
3. साम्राज्यवादी तथा दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादियों के द्वारा इस युद्ध निर्मित परिस्थिति का लाभ उठाकर गुटनिरपेक्षता की नीति तथा देश की स्वतंत्रता को दबाने के प्रयासों को पूर्णतया नाकाम करने के लिए सतत संघर्ष करना।
4. प्रतिक्रियावादियों, एकाधिकारवादियों तथा विद्यमान सरकार की ऐसी नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करना जो आपातकाल का लाभ उठाकर जनता पर अनावश्यक बोझ डालने तथा प्रगतिशील नीतियों को परास्त अथवा कमजोर करने के लिए हैं।
5. देश की सुरक्षा के लिए धन एकत्रित करने के लिए आंदोल करना तथा बैंकों के राष्ट्रीयकरण, राज्यों के द्वारा खाद्यान्न व्यापार अधिग्रहण करने के लिए दबाव बनाना।

नवंबर 1962 के इस प्रस्ताव ने स्पष्ट रूप से यह जताया कि साम्यवादी चीन ने 81 दलों के 1960 में आयोजित (मास्को विश्व साम्यवादी सम्मेलन) सम्मेलन में मान्य की गई शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, नव स्वतंत्र राष्ट्रों के प्रति उदार दृष्टिकोण तथा शांति व युद्ध के प्रश्नों पर निर्णित प्रस्ताव की खुलेआम धृष्टतापूर्वक धज्जियां उड़ायी हैं। इस प्रस्ताव का दल के अल्पसमूह ने विरोध किया तथा चीनी नतृव में प्रोत्साहन प्राप्त कर इस अल्पसंख्यक वर्ग ने फूट डालने की गतिविधियां बढ़ा दीं और 1964 में पृथक दल बनाकर अंततः पार्टी से अलग हो गए। वर्ष 1963 व 1964 में हुई इन आंतरिक कलहों के बावजूद भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अखिल भारतीय स्तर पर अनेक सत्याग्रह, जनप्रदर्शन तथा बंद आयोजित किए। इन्होंने एकाधिकार के समाप्ति की मांग उठाई। बैंक, तेल, आयात–निर्यात व्यापार, खाद्यान्न का थोक व्यापार आदि क्षेत्रों का सरकारी अधिकरण करने के लिए आवाज उठाई।

कम्युनिस्ट दल में आपसी फूट के पश्चात भारतीय कम्युनिस्ट दल ने दिसंबर 1964 में बंबई में सातवीं कांग्रेस का आयोजन किया। इसमें पार्टी का नया कार्यक्रम प्रस्तावित हुआ जिसमें राष्ट्रवादी लोकतंत्र तथा गैरपूंजीवादी विकास का प्रावधान पारित किया गया। यह प्रस्ताव उस पूंजवादी विकास के मार्ग में रोड़ा था जिसे कांग्रेस स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से मानती चली आ रही थी। इसी बैठक में पार्टी का नवीन संविधान भी तैयार किया गया था।

बंबई कांग्रेस में तैयार किए गए कार्यक्रम और प्रावधानों को पटना में 1968 में हुई कांग्रस में और अधिक परिष्कृत करके व्यावहारिक बनाया गया तथा पार्टी का यही प्रावधान/कार्यक्रम वर्तमान में भी प्रभावशील है।

टिप्पणी

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि न केवल भारत में अपितु संपूर्ण विश्व में साम्यवाद एक अत्यंत प्रभावशाली विचारधारा है और साथ ही में यह एक अत्यंत गलत समझी जाने वाली विचारधारा है। आवश्यकता है, साम्यवाद को समाजवाद से जोड़कर शांतिपूर्ण विचारधारा के रूप में विकसित करने की।

साम्यवाद की मान्यता है कि जिस समूह विशेष अथवा व्यक्ति के पास उत्पादन का अवसर होता है वह दूसरे समूह अथवा व्यक्ति विशेष (मजदूर) को अपने अधीन करके उसका भाग्य एवं जीवन निर्धारक बन जाता है। और यहीं से सर्वहारा वर्ग के शोषण का आरंभ हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह वर्ग विशेष जिसे उत्पादन का अवसर प्राप्त हुआ है वह उसे निज अधिकार मानकर उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त कर लेता है और परिणामस्वरूप समस्त पूंजी का वह स्वामी बन बैठता है। उसके प्रभाव में तत्कालीन सत्ता व सरकारें भी आ जाती हैं तथा इस प्रकार समूह विशेष सर्वशक्तिशाली पूंजीवादी वर्ग बन जाता है और दूसरा समूह विशेष (सर्वहारा) इस वर्ग का शोषित हिस्सा बन जाता है।

इस प्रकार की परिस्थितियों का जन्म ही न हो और यदि विद्यमान हो तो उन्हें रोकना यही साम्यवादी विचारधारा का प्रमुख कार्य है। साम्यवादी का कहना है कि उत्पादन एवं अर्जित पूंजी पर मजदूर तथा उत्पादक का एक समान अधिकार होना चाहिए। इसी समानता के अधिकार की प्राप्ति के लिए अनेक साम्यवादी दलों ने सर्वहारा वर्ग एवं पूंजीवादी वर्ग के मध्य संघर्ष की शुरुआत की। तथा इस प्रकार किए गए संघर्ष में साम्यवादियों को अनेक यूरोपीय क्षेत्रों में सफलता भी प्राप्त हुई। लेकिन यहां समस्या तब उत्पन्न हुई जब उत्पादन के आधार पर समानता देने का प्रयास हुआ, तो यह मुद्दा उठा कि यदि उत्पादन का स्वामी कोई एक समूह विशेष हुआ तो निर्मित परिस्थिति पूंजीवाद को ही जन्म देगी। इसके निराकरण स्वरूप उत्पादन के क्षेत्रों में संपत्ति का स्वामित्व समाज को देने का प्रावधान भी हुआ और इस भाव को साक्षात रूप देने के लिए तथा समाज के अंतिम स्तर तक इसके पालन करने हेतु सामाजिक रचना द्वारा चुनी गई सरकार को अधिकार देना सुनिश्चित किया गया। अर्थात राज्य एवं सरकार अनिवार्य माने गए। साथ ही परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने एवं पूंजीवादी संभावनाओं के विनाश हेतु सरकारों को मजबूत करना आवश्यक था। उसी प्रकार दूसरा पक्ष अपने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के द्वारा कोई नवीन आंदोलन न खड़ा करें, इस बात का संज्ञान भी सरकार को लेना था। इस प्रकार इन सभी संभावनाओं को साधने के लिए राष्ट्र की समस्त इकाइयों पर सरकार का दबाव एवं पहरा आवश्यक हो गया। फलस्वरूप सरकारों को अनेक अधिकार दिए गए एवं राष्ट्र की समस्त शक्ति का केंद्र बनाया गया। यह प्रक्रिया कई राष्ट्रों में सफलतापूर्वक अपनायी गई। भारत भी इस वाद से अछूता नहीं था। भारत में साम्यवाद की बुनियाद अत्यंत प्राचीन रही है। किंतु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में इसे समझने के लिए यदि हम लेनिनवादी साम्यवादी व्यवस्था को देखते हैं तो इसका क्रम निम्नानुसार परिलक्षित होता है–

टिप्पणी

1. **गांधी युग (1930–1948):** यह वह समय था, जब संपूर्ण राष्ट्र मात्र गांधीवादी विचारों से अत्यंत प्रभावित था। जनमानस पर गांधी की छवि अंकित थी। गांधी जी किन्हीं भी दो–समूहों को परस्पर शत्रु नहीं मानते थे। गांधी का सिद्धांत सहअस्तित्व का था, जिसके अनुसार अनेक असमानताओं के उपरांत भी एक ही समाज में लोग किसी उद्यान में विभिन्न पेड़–पौधों की तरह रह सकते हैं, बिना संघर्ष किए सहर्ष। इसलिए कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता पूर्व किसी साम्यवादी विचारधारा के लिए भारतीय जनता पूर्ण रूप से न तो तैयार थी और न ही परस्पर सहयोग को त्यागकर परस्पर संघर्ष के लिए तैयार थी। गांधी अपने सहअस्तित्व के सिद्धांत से देश की जनता को परस्पर जोड़े रखने में सफल होते जा रहे थे। उनके सिद्धांतों को पूरी दुनिया में सराहा जाने लगा था। यही कारण है कि भगत सिंह को हम विद्रोह तथा जोश के लिए जानते हैं, न कि साम्यवादी विचारों के लिए जबकि सत्यता यह है कि भगत सिंह साम्यवादी क्रांतिकारी थे और उनकी सोच भारत में एक वर्गरहित समाज की स्थापना करने की थी। किंतु गांधीजी बिल्कुल साम्यवादी नहीं थे और संपूर्ण देश उनके साथ खड़ा था।

2. **नेहरू युग (1947–1964):** भारत में स्वतंत्रता के पश्चात देश की बागडोर सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा पंडित जवाहर लाल नेहरू के हाथ में आई। ये दोनों ही 'साम्यवाद' के पक्षधर बिल्कुल नहीं थे और साम्यवाद को फासीवाद के समान घातक मानते थे। यद्यपि नेहरू समाजवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक थे। संविधान में भी इन दोनों के रहते व्यापार व उद्योगों को नुकसान पहुंचाने वाला कोई भी प्रावधान नहीं था। सरदार पटेल की मृत्यु के पश्चात भी नेहरू ने समाजवाद का रास्ता अपनाया, लेकिन साम्यवाद से दूर ही रहे। नेहरू के पास मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लोग भी थे तथा प्रबल दक्षिणपंथी श्यामा प्रसाद मुखर्जी जैसे लोग उनके सान्निध्य में थे। किंतु वे अपनी गुटनिरपेक्ष नीति पर अडिग रहे। उन्होंने किसी भी देश या विश्व शक्ति का चाटुकार बनना स्वीकार नहीं किया और न ही वाम या दक्षिणपंथियों को सत्ता में हावी होने दिया। इस प्रकार साम्यवाद और कम्युनिस्ट पार्टी अपनी जड़ें जमाने में सफल नहीं हो सकी। सशक्तिकरण के उस दौर में जहां एक ओर गांधी के ग्राम–स्वराज के सिद्धांत को लागू किया वहीं दूसरी ओर केंद्रीय विकास एवं उद्यमिता के क्षेत्र में भारत के अग्रसर होने का मार्ग भी प्रशस्त होता गया। इस कारण भी पूर्णतया साम्यवाद का होना भारत में असंभव रहा।

3. **सत्ता का अतिकेंद्रियकरण (1964 से 1977):** वर्ष 1964 में पंडित जी की हृदयघात से मृत्यु हो गई। देश की जनता पंडित जी के हृदयघात का कारण साम्यवादी चीन के हाथों पराजय को मानते थे तथा पाकिस्तान द्वारा चीनी हथियारों के प्रयोग से भलीभांति परिचित थे। इन्हीं अव्यवस्थाओं के मध्य विराट व्यक्तित्व, गांधीवादी विचारधारा तथा छोटे कद के भारत के चहेते लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री बने। शास्त्री जी अपना वेतन तक दान करके अपनी किसानी से आयी आमदनी से अपना व परिवार का निर्वाह करते थे। प्रधानमंत्री बनते ही वर्ष 19645 में उन्हें भारत–पाक युद्ध का सामना करना पड़ा। इस प्रकार उस

टिप्पणी

समय 'साम्यवाद' को विरोधी विचारधारा माना गया, जबकि भारत के परम मित्र सोवियत संघ में भी साम्यवाद ही था। यदि हम संपूर्ण कालचक्र को विस्तारपूर्वक देखें तो यह आईने की तरह स्पष्ट होता है कि भारतीय साम्यवाद का उभरना तब तक संभव नहीं था जब तक कि प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने तानाशाही रुख अपना कर अपने पिता की संपूर्ण विचारधारा के विरुद्ध जाकर देश को एक बड़े जेल–खाने के रूप में नहीं बदल दिया। साम्यवाद की सर्वाधिक प्रबल संभावना तब बनी थी जब जय प्रकाश नारायण ने आंदोलन किया था। हालांकि लोकनायक साम्यवादी होते हुए भी लेनिन के समान इस क्रांति के बिल्कुल समर्थक नहीं थे, जिसमें एक सेना बनाकर सत्ता से युद्ध किया जाए (जिस प्रकार नेताजी सुभाष चंद्र बोस किया करते थे)।

लोकनायक साम्यवादी होने के साथ–साथ गांधीवादी विचारधारा के भी प्रबल समर्थक हुआ करते थे। वे मात्र सत्ता पलटने के लिए की गई क्रांति (भगतसिंह की तरह) के समर्थक न होकर पुनर्जागरण जैसी सामाजिक क्रांति में ही विश्वास रखते थे। इसीलिए तत्कालीन कम्युनिस्ट पार्टी उनके साथ नहीं खड़ी थी बल्कि गांधीवादी विचारधारा का अनुयायी वह छात्र–वर्ग खड़ा था, जो अहिंसात्मक किंतु दबाव बनाने वाले आंदोलन के साथ लोकनायक के कंधे–से–कंधा मिलाकर चल रहा था, जिसका उद्देश्य तानाशाह कहलाई जाने वाली इंदिरा से सत्ता वापस लेकर 'जनता' को सौंपना और परिणाम भी यही आया कि 'जनता पार्टी' के हाथ सत्ता लगी और संपूर्ण देश में लोकनायक जय प्रकाश नारायण का नारा गूंजा– "सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।" क्योंकि स्वयं लोकनायक सत्ता में पदासीन नहीं होना चाहते थे, तो प्रधान की कुर्सी आयी मोरार जी देसाई के पास। किंतु मोरार जी सत्ता संभालने में पूरी तरह से विफल रहे तथा मात्र दो साल बाद ही उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। इसी के साथ यह धारणा बलवती हुई कि किसी भी स्थिति में कांग्रेस ही सत्ता संभाल सकती है।

4. **राजीव गांधी युग व अनन्तर (1985 से 1995):** वर्ष 1984 में सिक्ख दंगों की परिणित में इंदिरा को अपनी जान देनी पड़ी। साथ ही 1985 में आत्मविश्वास के साथ मुस्कराहट लिए चेहरा राजीव गांधी के रूप में दिखा, जो विकास की एक ऐसी आंधी लेकर आए कि जनता सिक्ख दंगे भुलाकर तकनीकी विकास और विज्ञान की चकाचौंध में खो गई। जब दूरदर्शन पर रामायण, महाभारत देखने को मिला तो समाज धार्मिक और गैर–धार्मिक तत्वों में बंट गया। चाहे नक्सलियों का अथवा लिट्टे का, अथवा इन पर आधारित यश चोपड़ा की फिल्में, चाहे शाहरुख, गोंविदा की यथार्थ को भुलाने वाली फिल्में ही क्यों न हो। साम्यवाद कहीं प्रत्यक्ष नहीं हो रहा था।

5. **1995 से अद्यतन :** इस दौरान राजीव बोफोर्स तो सह गए किंतु लिट्टे का वार उनके प्राण ले उड़ा। तब बुद्धिजीवी एवं प्रबल कूटनीतिज्ञ नरसिम्हा राव ने आगे बढ़कर सारा मामला संभाला। इसी दौरान सोवियत टूटा तथा भारत को भारत का सोना बेचने की नौबत तक आ गई। राव तथा उनके वित्त मंत्री ने वैश्विक व्यापार के लिए दरवाजा खोला जो इंदिरा जी के समय खोला जाना चाहिए था। और उसके पश्चात भारत में साम्यवाद अत्यंत सिकुड़ कर रह गया।

साम्यवाद के अलोकप्रिय होने का प्रमुख कारण उसका संघर्षमय क्रांति का मार्ग माना जा सकता है, जो कि निश्चित ही भारत जैसे विशाल देश में संभव एवं प्रासंगिक नहीं, किंतु हां, साम्यवाद का समाजवादी रूप सर्वथा सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

टिप्पणी

4.2.3 साम्यवाद के संबंध में एम.एन. राय के विचार

मानवेंद्र राय, जिसका पूर्ववर्ती नाम नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य था, युवावस्था में ही क्रांतिकारी बन गया। उसका जन्म 1887 में बंगाल में हुआ। पहले चरण में वह राष्ट्रवादी क्रांतिकारी था। विद्यार्थी के रूप में वह क्रांतिकारी युगांतर आंदोलन का सक्रिय कार्यकर्ता बन गया। 1919 तक उसका यह प्रारंभिक क्रांतिकारी चरण जारी रहा। युगांतर दल के सदस्य के रूप में नरेंद्रनाथ का विश्वास था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद का उन्मूलन करने के लिए भारत में एक सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता है।

नरेंद्रनाथ अपने दल की 'आतंकवादी' गतिविधियों में योगदान करता था। वह बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन को चलाने के लिए धन और हथियार एकत्र करने का प्रयास कर रहा था। 1910 में हावड़ा षड्यंत्र केस में जेल की सजा हुई। 1915 में उसे कलकत्ता में एक राजनीतिक डकैती में कथित भागीदारी के आरोप में फिर कारागार में डाल दिया गया। 1915 में वह गुप्त रूप से हालैंड के उपनिवेश जावा में पहुंच गया, जहां उसने शस्त्रों की आपूर्ति के लिए जर्मन एजेंटों से संपर्क किया। भारत में सशस्त्र विद्रोह के लिए जर्मनी से हथियार नहीं मिले, तो वह संयुक्त राज्य अमेरिका चला गया।

वहां से 1919 में वह मैक्सिको गया और अपने नए नाम मानवेंद्रनाथ राय को ग्रहण कर वहां बस गया। मैक्सिको में वह रूसी कम्युनिस्ट माइकेल बोरोदिन के संपर्क में आया। वहां रह कर उसने मार्क्सवाद का अध्ययन किया और शीघ्र ही स्वयं मार्क्सवादी बन गया। युगांतर और बंगाल की राष्ट्रवादी क्रांतिकारिता को उसने तिलांजलि दे दी। इस प्रकार राय के प्रथम क्रांतिकारी चरण की समाप्ति हो गई और अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी चरण की शुरुआत हो गई।

कुछ समय बाद मानवेंद्रनाथ राय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की दूसरी कांग्रेस में भाग लेने के लिए रूस जाने का निमंत्रण मिला। राय एक राष्ट्रवादी के रूप में मैक्सिको गया था और अब एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी के रूप में सोवियत रूस जा रहा था।

राय ने अपने मेमॉयर्स में लिखा : 'मैंने एक नवीन आस्था के साथ किंतु बौद्धिक रूप से एक स्वतंत्र मनुष्य की हैसियत से अपने पुनर्जन्म की भूमिका को छोड़ दिया। अब मैं ऐसी राजनीतिक स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करता था, जिसमें आर्थिक मुक्ति और सामाजिक न्याय का तत्व न हो। मैंने यह भी अनुभव किया कि सामाजिक स्वाधीनता के लिए प्रभावकारी संघर्ष की शर्त थी कि सभी प्रकार की परंपराओं और सत्ताओं के बंधनों से मानसिक स्तर पर मुक्ति प्राप्त कर ली जाए।

1920 में कोमिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में भी राय ने अपनी उग्रवादी क्रांतिकारी मानसिकता का परिचय दिया। राष्ट्रवादी क्रांतिकारी के रूप में भी सशस्त्र क्रांति राय की राजनीति थी। कोमिंटर्न में भी उसका मत था कि क्रांतिकारी दल बुर्जुआ कांग्रेस से स्वतंत्र रहकर सशस्त्र जनक्रांति के लिए प्रयास करे। लेनिन का मत था कि शुरू के चरणों में उपनिवेशों तथा अर्द्ध-उपनिवेशों में कम्युनिस्ट राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में राष्ट्रीय बुर्जुआ पार्टी के साथ सहयोग करें, उसका विरोध न करें। इसके विपरीत

राय को राष्ट्रीय बुर्जुआ पार्टी की भूमिका पर बिलकुल भरोसा नहीं था। लेनिन का विचार था कि गांधी भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में प्रगतिशील भूमिका निभा रहा है परंतु राय की दृष्टि में गांधी एक मध्ययुगीन प्रतिक्रियावादी था।

टिप्पणी

प्रारंभिक चरण में राय के दृष्टिकोण का भारतीय कम्युनिस्टों के चिंतन पर काफी प्रभाव पड़ा लेकिन बाद में उन्होंने राय के दृष्टिकोण को वामपंथी मताग्रही विचलन बताकर उसकी कठोर आलोचना की।

भारत में राय उग्रवादी रहा था और नरम दल के नेताओं को सरकारी एजेंट और पूंजीपतियों का प्रतिनिधि मानता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि राय इन मॉडरेट नेताओं के साथ कम्युनिस्टों के सहयोग की नीति को स्वीकार न करे। उसका मत था कि ये उदारपंथी नेता भारत के पूंजीपति वर्ग के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से कुछ सुविधाओं की मांग कर रहे थे। ऐसी स्थिति में अग्रगामी और क्रांतिकारी शक्ति के रूप में कम्युनिस्ट इन साम्राज्य प्रेमी उदारपंथी नेताओं के साथ राजनीतिक सहयोग कदापि नहीं कर सकते थे।

कोमिंटर्न ने लेनिन की थीसिस के साथ राय की पूरक थीसिस को भी औपचारिक मान्यता दे दी परंतु व्यवहार में 1928 तक लेनिन की थीसिस के अनुसार ही नेताओं को निर्धारित और क्रियान्वित किया गया। राय ने ताशकंद आकर कुछ भारतीय क्रांतिकारियों को मास्को में *टाइलर्स ऑफ दि ईस्ट यूनिवर्सिटी* में विचारधारा के प्रशिक्षण के लिए भरती करा दिया। उसने श्रीपादअमृत डांगे तथा कुछ अन्य *'रैडिकलों'* से संपर्क स्थापित किया। राय रूस, चीन और यूरोप में कोमिंटर्न की गतिविधियों में संलग्न रहा।

1922 में राय ने 'इंडिया इन ट्रांजिशन' शीर्षक से अपनी पहली कृति प्रकाशित की। यह भारतीय समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था का पहला विस्तृत मार्क्सवादी विश्लेषण था। राय ने मजदूरों की हड़तालों का संदर्भ देकर बताया कि उनमें वर्गीय चेतना बढ़ रही थी। किसानों में भी जमींदारों के शोषण के विरुद्ध जागृति फैल रही थी। कांग्रेस के उदारपंथी और उग्रपंथी नेता जन क्रांति का नेतृत्व नहीं कर सकते थे क्योंकि वे पूंजीपतियों और जमींदारों के हितों का समर्थन करते थे। राय की दृष्टि में तिलक-गांधी दोनों पुनरुत्थानवादी थे और धर्म को राजनीति में घसीट रहे थे। राय ने लिखा, 'गांधीवाद के प्रभाव में कमी प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विनाश और राजनीतिक आंदोलन से उनके पूर्ण निराकरण को दर्शाती है।

अपनी दूसरी कृति *'इंडिया'ज प्रॉब्लेम एंड इट्स सॉल्यूशन'* में राय ने कहा कि कांग्रेस की 'बुर्जुआ लीडरशिप ने क्रांतिकारी शक्तियों के साथ द्रोह किया है। बाद में उसने मेमॉयर्स में लिखा, 'तत्कालीन परिस्थितियों का सारांश था कि एक प्रतिक्रियावादी विचारधारा ने एक भावी क्रांतिकारी आंदोलन के विकास को अवरुद्ध कर दिया था।' राय के अनुसार गांधी का असहयोग आंदोलन निम्न बुर्जुआ अभियान था, जिसमें कोई क्रांतिकारी कार्यक्रम नहीं था। उसकी राय थी कि आर्थिक मुद्दों पर मजदूरों और किसानों को आंदोलन में शामिल करने की कोशिश की जाए।'

डांगे को एक पत्र लिखकर राय ने कहा कि भारतीय साम्यवादियों को कांग्रेस के समानांतर एक विरोधी पार्टी का निर्माण करना चाहिए, जो अवैध कम्युनिस्ट पार्टी के मार्गदर्शन में काम करे। इस पार्टी के सदस्य कांग्रेस में प्रवेश कर उसे अग्रगामी और

टिप्पणी

प्रगतिशील बनाने का प्रयास करें। इस प्रकार कांग्रेस संगठन के अंतर्गत एक क्रांतिकारी विपक्ष का निर्माण किया जा सकता था।

जब असहयोग आंदोलन को गांधी ने वापस लिया तो राय ने क्रोध से कहा कि जो काम साम्राज्यवाद का दमन न करा सका उसे गांधी ने एक क्षण में अपनी अहिंसा की जादू की छड़ी से करा लिया। राय ने कहा, 'कांग्रेस ने अपने ही अनुयायियों के क्रांतिकारी कार्य की निंदा करके आत्महत्या कर ली थी। गांधीवाद की वेदी पर एक शक्तिशाली क्रांतिकारी आंदोलन का बलिदान कर दिया गया था।

राय क्रांति की संभावनाओं के बारे में बहुत आशावादी था। 1924 में उसने लिखा, 'जनता बहुत परेशान है। किसानों में विद्रोह की ज्वाला भड़क रही है और शहर का सर्वहारा वर्ग भी मौका मिलने पर अपने क्रांतिकारी जोश का प्रदर्शन करता है। इन क्रांतिकारी तत्वों को साम्राज्यवाद-विरोधी सेना में एकजुट करने की प्रक्रिया जारी है। लोग देखेंगे कि बुर्जुआजी का सुधारवादी कार्यक्रम उन्हें कहीं नहीं ले जा सकता। जैसे ही राष्ट्रवादी शक्तियों के साधारण लोग बुर्जुआजी के सुधारवादी नेतृत्व से मुक्त होंगे, वे क्रांति के झंडे के नीचे आकर आगे बढ़ेंगे।'

1926 में राय ने *'दि फ्यूचर ऑफ इंडियन पॉलिटिक्स'* में सुझाव दिया कि एक व्यापक जनाधार वाली *पीपुल्स पार्टी* का गठन किया जाए, जिसमें एक क्रांतिकारी राष्ट्रवाद के कार्यक्रम के आधार पर सर्वहारा वर्ग, कृषक वर्ग और निम्न बुर्जुआ वर्ग को एकजुट किया जाए। इस कृति में राय ने सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरू की स्वराज्य पार्टी की तीखी आलोचना की क्योंकि यह पार्टी 'जमींदारों के वर्ग को समाज और संस्कृति का स्तंभ मानकर उनकी प्रशंसा करती थी।'

इसके बाद कोमिंटर्न के प्रतिनिधि के रूप में राय कुछ समय चीन में रहा। बर्लिन लौटने पर उसे पता चला कि त्रात्स्की को रूसी कम्युनिस्ट पार्टी से निष्कासित कर दिया गया था। राय ने भी त्रात्स्की की भांति राष्ट्रीय बुर्जुआजी के प्रति तीव्र विरोध की नीति का प्रतिपादन किया था परंतु स्तालिन और त्रात्स्की के बीच संघर्ष में राय ने स्तालिन का साथ दिया।

30 दिसंबर, 1927 को राय ने भारतीय कम्युनिस्टों को नीतिगत मार्गदर्शन के लिए एक पत्र लिखा, जिसमें उसने कहा कि भारतीय कम्युनिस्टों को एक अवैध कम्युनिस्ट पार्टी के समानांतर एक वैध किसान-मजदूर पार्टी का गठन भी करना चाहिए।

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस का अधिवेशन जुलाई-सितंबर, 1928 में हुआ। राय ने इस समय तक अपनी 'डिकोलोनाइजेशन थीसिस' को विकसित कर लिया था। इसके द्वारा राय ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि औपनिवेशिक विस्तार न केवल अवरुद्ध हो गया था। बल्कि वर्तमान उपनिवेशों के ढांचे भी संकट और ह्रास की स्थितियों से गुजर रहे थे। यह राय के चिंतन में बढ़ते हुए दक्षिणपंथी विचलन का संकेत था।

'डिकोलोनाइलेशन' का कारण राय के अनुसार पूंजीवाद के ह्रास के कारण उत्पन्न साम्राज्यवादी संकट में निहित था। साम्राज्य की राजधानियों में पूंजी का संचय बढ़ता जा रहा था, जिसका एकमात्र समाधान था कि अतिरिक्त पूंजी का निवेश उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में उनकी वर्तमान आर्थिक स्थिति के चलते नहीं कर सकते थे। इसलिए उन्हें बड़े संकोच के साथ अपने उपनिवेशों को औद्योगीकरण की सुविधाएं देने के लिए

मजबूर होना पड़ रहा था। 'उपनिवेशों के औद्योगीकरण की यह प्रक्रिया 'डिकोलोनाइजेशन' की ओर ले जाती है और एक ऐसी प्रक्रिया को गति देती है, जिसके द्वारा अंत में साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्ग उपनिवेशों में राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग को सत्ता हस्तांतरित कर देता है।

टिप्पणी

कोमिंटर्न की छठी कांग्रेस ने राय के 'डिकोलोनाइजेशन थीसिस' को अस्वीकार कर दिया। उसने कहा कि राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग अब उपनिवेशों में क्रांतिकारी शक्ति नहीं रही। उसने राय के इस सुझाव को अमान्य ठहराया कि कम्युनिस्ट पार्टी को एक समानांतर वैध मजदूर-किसान पार्टी का गठन करना चाहिए क्योंकि यह पार्टी बड़ी आसानी से एक क्रांति विरोधी निम्न बुर्जुआ पार्टी में रूपांतरित हो सकती है।

इसके बाद कोमिंटर्न में राय की स्थिति संदेहजनक हो गई। राय ने अगले वर्ष जर्मनी में रहते हुए अपनी अगली पुस्तक *'रिवोल्यूशन एंड काउंटर-रिवोल्यूशन इन चाइना'* लिखी। इसमें उसने अपने चीन-प्रवास के अनुभवों के आधार पर क्वोमिंतांग-कम्युनिस्ट संयुक्त मोर्चे की विफलता और च्वांग काई शेक की प्रतिक्रांति की सफलता के कारणों पर विचार किया।

जुलाई, 1929 में कोमिंटर्न के दसवें प्लेनम में मानवेंद्रनाथ राय को इस संस्था की सदस्यता से वंचित कर दिया गया। आरोप में कहा गया कि अब वह कम्युनिस्टों का साथी नहीं था बल्कि गांधी का मित्र या संशोधनवादी जर्मन नेता ब्रांडलर या थालहाइमर का सहयोगी बन गया था। इस प्रकार राय का अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद से एक दशक का संसर्ग समाप्त हो गया।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद से मोहभंग

राय का वि-उपनिवेशीकरण का सिद्धांत, जिसे उसने 'डिकोलोनाइजेशन थीसिस' का नाम दिया था, उसके साम्यवाद से मोहभंग की शुरुआत का द्योतक था। कोमिंटर्न के प्रतिनिधि के रूप में राय-बोरोदिन की चीन में भूमिका की विफलता भी राय के पतन का एक कारण थी। यद्यपि उन्होंने कोमिंटर्न की औपनिवेशिक नीति को क्वोमिंतांग-कम्युनिस्ट संयुक्त मोर्चे के माध्यम से लागू किया था किंतु च्यांग काई शेक की शंघाई प्रतिक्रांति के लिए राय और बोरोदिन दोनों को ही अंशत: दोषी ठहराया।

विडंबना यह थी कि 1921 से 1928 तक जब लेनिन ने पराधीन देशों के कम्युनिस्टों को राय दी कि वे राष्ट्रवादी बुर्जुआजी के नेतृत्व में काम करें तो मानवेंद्रनाथ राय ने उसका तीव्र विरोध किया और राष्ट्रीय बुर्जुआजी की भूमिका को प्रतिक्रांतिकारी बताया। जब 1928 में स्तालिन ने राष्ट्रीय बुर्जुआजी को प्रतिक्रियावादी बताकर उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों के कम्युनिस्टों से उनका तीव्र विरोध करने का अनुरोध किया, जो राय की 1922 के 'थीसिस' के अनुरूप था। राय स्वयं अपनी पूर्ववर्ती नीति का आलोचक बन गया और वि-उपनिवेशीकरण सिद्धांत का प्रतिपादन करने लगा। जब कोमिंटर्न की लाइन दक्षिणपंथी थी तो राय की व्यक्तिगत दिशा वामपंथी थी। जब कोमिंटर्न की लाइन में वामपंथी मोड़ आया तो राय की व्यक्तिगत सोच दक्षिणपंथ की ओर मुड़ गई।

दूसरी बात यह थी कि राय संभवत: कोमिंटर्न से प्राप्त धनराशि का सही उपयोग नहीं कर रहा था। भारत में क्रांति की संभावनाओं के बारे में वह कोमिंटर्न को अतिशयोक्तिपूर्ण सूचनाएं दे रहा था। भारतीय मजदूर आंदोलन, किसान आंदोलन या भारतीय कम्युनिस्ट समूहों से उसका न्यूनतम संपर्क था। तिलक, गांधी इत्यादि भारतीय

टिप्पणी

नेताओं की हिंदू पुनरुत्थानवादी विचारधारा की राय की कृतियों में अतिरंजित और महत्वपूर्ण व्याख्या की गई थी। कोमिंटर्न से निष्कासित होने पर जिस द्रुत गति से राय ने अपनी एक दशक पुरानी मार्क्सवादी मान्यताओं का त्याग किया, यह उसकी वैचारिक अस्थिरता और मानसिक चंचलता को प्रकट करता है।

कोमिंटर्न से बहिष्कृत होने के बाद, मानवेंद्रनाथ राय दिसंबर, 1930 में डॉ. महमूद के छद्म नाम से एक जाली पासपोर्ट के द्वारा भारत पहुंचा। राय ने कुछ कम्युनिस्ट और ट्रेड यूनियन नेताओं से संपर्क स्थापित किया और नेहरू के निमंत्रण पर उसने 1931 की कराची कांग्रेस में भाग लिया। कराची कांग्रेस ने मौलिक अधिकारों और आर्थिक नीति पर अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित किया, जिसमें कार्य के अधिकार, प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और नियोजित अर्थव्यवस्था के सुझाव दिए गए। नेहरू के साथ मिलकर राय ने इस प्रस्ताव का प्रारूप बनाने में मुख्य भूमिका निभाई।

जुलाई, 1931 में राय को एक पुराने षड्यंत्र के मामले में गिरफ्तार कर लिया गया। शंकर घोष का कथन है, 'अपनी गिरफ्तारी के बाद राय ने एक वक्तव्य में, जिसे अदालत में पेश करने की उसे अनुमति नहीं मिली, कहा कि उसने भारतीय क्रांति के केवल एक प्रेरणा-सूत्र के रूप में कार्य किया था। उसने दावा किया कि उसने स्वतंत्रता आंदोलन का सृजन नहीं किया था। बस, दूसरों से कुछ पहले उसने इसकी परिकल्पना कर ली थी। उसने यह दावा भी किया कि उसने मजदूर वर्ग की एक पार्टी संगठित करने की कोशिश की क्योंकि ऐसा करना राजनीतिक दासता, आर्थिक शोषण और सामाजिक अध:पतन से जनता को मुक्त करने के लिए आवश्यक था और ऐसी पार्टी एक ऐतिहासिक जरूरत थी और इसका एक ऐतिहासिक क्रांतिकारी मिशन था और यदि ब्रिटिश नरेश या कोई अन्य शक्ति इस पार्टी की राह में बाधा डाले तो उसे जाना ही होगा।

राय ने अपने वक्तव्य में आगे कहा, 'मैं क्रांति के लिए उत्तरदायी नहीं हूं और न ही कम्युनिस्ट इंटरनेशनल। इसके लिए केवल साम्राज्यवाद जिम्मेदार है। इसलिए मुझे दंडित करने से क्रांति नहीं रुकेगी। साम्राज्यवाद ने खुद अपनी कब्र खोदने वालों को तैयार किया है। ये राष्ट्र की क्रांतिकारी शक्तियां ही हैं। ये तब तक कार्यरत रहेंगी जब तक उनका ऐतिहासिक कार्य पूरा नहीं होता। कानपुर षड्यंत्र केस में उसे 1931 में जेल की सजा हुई और 1936 में उसे कारागार से मुक्त किया गया।

जेल से छूटने पर राय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गया। अब कोमिंटर्न से उनका विच्छेद पूर्ण और स्थायी हो गया था। अब राय का मत था कि वामपंथियों को राष्ट्रीय बुर्जुआजी के साथ राष्ट्रीय क्रांति में सहयोग करना चाहिए क्योंकि सर्वहारा वर्ग अकेले ही इस संघर्ष का अग्रिम दस्ता नहीं बन सकता। अब राय का वर्ग संघर्ष में विश्वास क्षीण हो चुका था और सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी शक्ति में उसका विश्वास भी लगभग लुप्त हो गया था। उसका मत था, अन्य वर्ग भी क्रांति करने की क्षमता रखते थे जैसे भूतकाल में बुर्जुआ वर्ग ने सामंती शक्तियों के उन्मूलन के लिए सफल क्रांति की थी।

1937 में राय ने *इंडिपेंडेंट इंडिया* शीर्षक से एक साप्ताहिक का प्रकाशन शुरू किया। इस पत्र के माध्यम से वह गांधी के सिद्धांतों, खासकर अहिंसा और उसके पुनरुत्थानवादी विचारों की तीव्र आलोचना करता था। इस सूक्ष्म पद्धति के द्वारा गांधी भारतीय समाज की क्रूर पूंजीवादी वास्तविकता को छिपाकर मजदूरों और किसानों को

संतुष्ट रखना चाहता था। वह सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय एकता के गांधीवादी विचार का विरोध इस आधार पर करता था कि मजदूरों और पूंजीपतियों के हितों का किसी प्रकार का समन्वय संभव नहीं है। सर्वाधिक आलोचना वह गांधी की चरखा-खादी अर्थनीति की और धर्म से अनुप्राणित राजनीति की करता था।

टिप्पणी

जून 1939 में राय ने *लीग ऑफ रैडिकल कांग्रेसमैन* नाम से कांग्रेस के अंतर्गत अपने ग्रुप का निर्माण किया। 1940 में वह मौलाना अबुल कलाम आजाद के विरुद्ध कांग्रेस के अध्यक्ष पद के लिए उम्मीदवार बना। इस निर्वाचन में राय की भारी बहुमत से पराजय हुई। 'रैडिकल कांग्रेसी' के रूप में राय का अब मार्क्सवाद-लेनिनवाद तथा साम्यवादी आंदोलन से पूर्ण मोहभंग हो चुका था परंतु गांधीवाद के संबंध में उसकी पुरानी मनोग्रंथि लगभग उतनी ही कठोरता से अभी तक अपनी जगह कायम थी। एक नेता और सिद्धांतकार के रूप में वह पहले कोमिंटर्न के स्तर पर असफल हुआ और अब कांग्रेस और राष्ट्रीय आंदोलन के स्तर पर भी उसी प्रकार अप्रासंगिक होता जा रहा था।

फासीवाद और नात्सीवाद का विरोध

जब दूसरा विश्वयुद्ध हुआ तो राय के अनुसार यह लोकतांत्रिक और फासीवादी शक्तियों के बीच में एक अंतर्राष्ट्रीय गृहयुद्ध था। फ्रांस की पराजय के बाद राय ने अनुरोध किया कि भारतीय राजनीतिक शक्तियों को मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासों को अपना पूरा समर्थन देना चाहिए। फासीवाद की अंतिम पराजय के बाद राय का विश्वास था कि भारत निश्चित रूप से स्वतंत्र हो जाएगा। युद्धकाल में भारत की मुक्ति के लिए राष्ट्रीय आंदोलन चलाना, राय की दृष्टि में अनावश्यक था। अपने वि-उपनिवेशीकरण के सिद्धांत के आधार पर राय ने भविष्योक्ति की कि युद्ध के बाद ब्रिटिश बुर्जुआजी भारत की बुर्जुआजी को सत्ता सौंप देगी।

1942 में जब गांधी के नेतृत्व में 'भारत छोड़ो' आंदोलन शुरू हुआ तो उसने इसका तीव्र विरोध किया। उसने कहा कि अंग्रेजों के विरुद्ध यह आंदोलन उन्मादपूर्ण भारतीय नस्लवाद का प्रतीक था, और अंग्रेज इस समय दानवी फासीवादी ताकतों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। राय की दृष्टि में कांग्रेसी नेता भारतीय फासीवाद के प्रतिनिधि बन गए थे। राय ने आरोप लगाया कि 'भारत छोड़ो' आंदोलन का संगठन कांग्रेस के वित्तीय और औद्योगिक पूंजीवादी संरक्षकों ने किया था।'

युद्धकाल में एक फासीवाद-विरोधी मोर्चे का गठन किया गया, जिसने क्रांतिकारी शक्तियों की नई व्यूह रचना को जन्म दिया। राय ने कहा कि भविष्य में मध्यम वर्ग क्रांति का नेतृत्व करेगा क्योंकि मजदूर वर्ग अपना क्रांतिकारी ओज खो चुका है। राय का निश्चित मत था कि कांग्रेस को सत्ता के हस्तांतरण का अर्थ भारत में फासीवाद के अधिनायकत्व की विचारधारा की स्थापना करना होगा।

राय के अनुसार युद्धकाल में कांग्रेस का राष्ट्रवाद और कम्युनिस्टों का मार्क्सवाद दोनों अप्रासंगिक हो चुके थे। 'रैडिकल लोकतंत्र की विचारधारा किसी खास ब्रांड के राष्ट्रवाद या साम्यवाद के झूठे रंगों में अभिव्यक्त नहीं हो सकती। 1940 के दशक में राय ने अपने व्यक्तिवादी राजनीतिक दर्शन का विकास किया।

जयप्रकाश ने आरोप लगाया कि राय को मैक्सवेल, भारत सरकार का गृह सचिव, अपने प्रचार के लिए आर्थिक सहायता देता था। राय ने कहा कि सभी कांग्रेस नेताओं को जेल में बंद कर देना चाहिए। राय के अनुसार गांधी, राष्ट्रीय पूंजीवाद के प्रतिनिधि के रूप

टिप्पणी

में, नेहरू, राष्ट्रीय समाजवाद के अधिवक्ता के रूप में, एक दूसरे के पूरक थे और दोनों भारत में प्रतिक्रियावादी अधिनायकतंत्र की स्थापना की योजना में संलग्न थे।

फासीवाद, राय के अनुसार केवल आक्रमणकारी राज्यों की पद्धति और कार्यनीति ही नहीं थी बल्कि अध:पतन का पूर्ण दर्शन था, जो मनुष्य की नैतिक प्रकृति और उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विनाश करता था। यह पूंजीवाद का अंतिम रक्षा-कवच था, जो सभी आधुनिक प्रवृत्तियों को नष्ट कर समय की घड़ी को वापस मध्ययुग में ले जाने का प्रयास कर रहा था।

वाई. बी. चव्हाण, जो राय का शिष्य रह चुका था, उसके तर्क को समझने में असमर्थ था : "कहा जाता है कि हिटलर का नात्सीवाद मानवीय अधिकारों के लिए उनके लोकतांत्रिक स्वरूप में सबसे बड़ा खतरा था। परंतु इसके साथ-साथ हम ब्रिटिश और जर्मन साम्राज्यवादों के बीच में विशेष विभेदीकरण करने में असमर्थ थे। मैंने महसूस किया कि यह कहना केवल बौद्धिक रोमांसवाद था कि हम जर्मन साम्राज्यवाद के खिलाफ ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन करें। मेरे चित में यह संघर्ष बहुत समय तक जारी रहा।" अंत में चव्हाण 'भारत छोड़ो' आंदोलन में शामिल हुआ और उसका एक नायक बन गया।

भारतीय आध्यात्मिकता की भर्त्सना

राय ने भारत की दार्शनिक परंपरा तथा वेदांत की तीव्र आलोचना की। उसने कहा कि "शंकर और रामानुज मानसिक मताग्रह और मध्ययुगीन शास्त्र-विद्या के प्रतिनिधि थे। ब्राह्मणवाद बौद्ध आंदोलन के मुक्तिदायी संदेश के विरुद्ध एक प्रतिक्रियावादी अभियान था। उसने जाति प्रणाली और कर्मकांड के विरुद्ध बौद्ध विद्रोह का दमन कर दिया।" राय ने वर्तमान युग में विवेकानंद, अरविंद और गांधी के अध्यात्मवाद को भी प्रतिक्रियावादी घोषित किया। राय के अनुसार "इस अध्यात्मवाद का ध्येय पूर्व-पूंजीवादी, पिछड़ी सामाजिक दशाओं को कायम रखना था। भारतीय अध्यात्मवाद पश्चिमी अध्यात्मवाद से किसी प्रकार भिन्न नहीं है।"

बौद्धिक गुणवत्ता, सूक्ष्मता और विविधता में भारतीय अध्यात्म और दर्शन, राय के मतानुसार, पश्चिम के दर्शन और आध्यात्मिक चिंतन की तुलना में अल्पविकसित था। ग्रीक, इजिप्शियन, यहूदी, ईसाई आदि पश्चिमी दार्शनिक और आध्यात्मिक पद्धतियां भारत की अपेक्षा सांस्कृतिक दृष्टि से कम समृद्ध और कम समुन्नत नहीं थी। यह दावा कि "भारत के लोग, समग्रता की दृष्टि से, पश्चिमी समाज के अधिकांश लोगों की तुलना में कम भ्रष्ट, भावनात्मक स्तर पर अधिक शुद्ध, आदर्शों की दृष्टि से कम सांसारिक, संक्षेप में अध्यात्म के क्षेत्र में उच्चतर थे, यथार्थ की पूर्ण उपेक्षा पर आधारित है।"

राय का निष्कर्ष है, 'गांधीवाद जनमानस को नैतिक दर्शन के रूप में नहीं बल्कि धर्म के रूप में प्रभावित करता है। गांधीवाद का सामाजिक आधार सांस्कृतिक पिछड़ापन है; इसका बौद्धिक स्तंभ अंधविश्वास है। गांधी का आदर्श जगत एक बिलकुल स्थिर समाज है। यह पूर्ण सामाजिक गतिहीनता की दशा है।

मार्क्सवाद की ' रैडिकल' आलोचना

1940 में राय ने मार्क्सवाद को त्याग कर 'रैडिकल लोकवाद' की दिशा में द्रुत गति से अपनी यात्रा प्रारंभ की। राय ने कहा कि मार्क्स स्वयं मानवतावादी था लेकिन उसके सिद्धांतों का नैतिक आधार दुर्बल था। मार्क्स द्वारा प्रस्तुत इतिहास की भौतिक व्याख्या भी

दोषपूर्ण थी क्योंकि उसमें मानव की बौद्धिक क्रियाओं पर ध्यान नहीं दिया गया था।

इस संक्रमण को राय ने अपनी कृति *'साइंटिफिक पॉलिटिक्स'* की प्रस्तावना में दर्शाया। उसने कहा, "सात साल पहले मैं कट्टर मार्क्सवादी था लेकिन जीवाणु के रूप में कम्युनिज्म से आगे बढ़ने की प्रवृत्ति तब भी मुझमें मौजूद थी। वर्ग संघर्ष को मानते हुए भी मैं सामाजिक संगठन की सुदृढ़ता पर जोर देता था। मेरे लिए मार्क्सवाद वर्ग की विचारधारा से कुछ बढ़कर था। इस दर्शन के द्वारा मैं प्रकृति, सामाजिक विकास और व्यक्ति की इच्छा और भावनाओं के बीच में समन्वय करना चाहता था।"

टिप्पणी

1940 और 1947 के बीच में राय 'रैडिकल डेमोक्रेट' था और 1947 से 1954 तक वह अपने को 'नव मानवतावादी' कहने लगा। वह अपनी विचारधारा को *वैज्ञानिक मानवतावादी* का नाम देने लगा। इसी काल में जयप्रकाश का संक्रमण समाजवाद से सर्वोदय में हुआ तथा एम.एस.आर. मसनी का रूपांतरण एक दक्षिणपंथी, स्वतंत्र पार्टी के नेता में हो गया। ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद ने गांधीवाद से नेहरूवाद और नेहरूवाद से जयप्रकाशवाद की दिशा में यात्रा की और अंत में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की ओर एक लंबी छलांग लगाई।

अगस्त, 1947 में मानवेंद्रनाथ ने नव मानवतावाद का घोषणापत्र जारी करते हुए कहा कि उसका आधार नैतिकता और विवेक है, मताग्रह नहीं। उसने कहा कि यूरोपीय पुनर्जागणरण का लौकिक मानवतावाद और विज्ञान के आविष्कार नए समाज के आधार होंगे। नए समाज के निर्माण में मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों विचारधाराएं अप्रासंगिक और बाधक हैं। कम्युनिस्ट राजनीतिक आचरण ने विश्व और सर्वहारा वर्ग को न तो सामाजिक न्याय दिया है और न ही स्वतंत्रता का अधिकार। उसने क्रांतिकारियों की सेना को बौद्धिक भ्रांतियों, भावनात्मक अराजकता, और नैतिक निराशा से ग्रस्त कर दिया है।

राय के अनुसार नव मानवतावादी समाज के आदर्श यूरोप के नवोदय आंदोलन के विचारों पर आधारित होंगे। यह उन्नीसवीं सदी के 'रैडिकल' सिद्धांतों और पद्धतियों को मान्यता देने और वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग मनुष्यों की नैतिक उन्नति और सुख शांति के लिए करेगा। नव मानवतावाद की संकल्पना निश्चित रूप से वैश्विक और सर्व वर्गीय थी। उसमें राष्ट्रवादी और वर्गवादी विकृतियों को समाप्त कर दिया जाएगा।

नव मानवतावादी के रूप में राय का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी था। वह मार्क्स के समष्टिवादी दृष्टिकोण को व्यक्ति के अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए खतरनाक मानता था। राय की दृष्टि में राष्ट्रवादी समष्टिवाद भी उतना ही खतरनाक था। 'रैडिकलवाद न तो राष्ट्र के संदर्भ में सोचता है और न ही वर्ग के संदर्भ में, उसका सरोकार मानव से है। यह आजादी की संकल्पना व्यक्ति की स्वतंत्रता के रूप में करता है। राय ने आगे कहा, 'व्यवहार में राष्ट्र राज्य कम्युनिस्टों अथवा सोशलिस्टों के वर्ग राज्य की तुलना में व्यक्तिगत स्वाधीनता की अवधारणा को अधिक सम्मान नहीं देता एवं कोई आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य भी राष्ट्रीय समष्टिवाद की परिधि से आगे नहीं निकल सका है।

राय अठारहवीं सदी के विवेकवाद का प्रशंसक बन गया जिसने व्यक्ति की अवधारणा को विश्व में केंद्र बनाया था। राय ने मार्क्सवाद के वर्ग संघर्ष की आलोचना करते हुए कहा कि इसने व्यक्ति की चेतना को वर्ग की चेतना के अधीन कर दिया था। राय ने मार्क्सवाद की आलोचना इस बात के लिए भी कि उसने अपने चिंतन में मजदूर वर्ग को उच्चतम गौरव प्रदान किया था। इसके अतिरिक्त मार्क्स द्वारा संकल्पित दो वर्गों

का ध्रुवीकरण घटित नहीं हुआ और मध्यम वर्ग की स्थिति पहले से भी अधिक सुदृढ़ हो गई।

टिप्पणी

लेनिन ने मध्यम वर्ग के महत्व को स्वीकार किया था। राय के अनुसार उसने सर्वहारा वर्गीय क्रांति में पेशेवर मध्यम वर्गीय क्रांतिकारियों की भूमिका को सराहा था। राय को दु:ख था कि इसके बावजूद लेनिन ने मध्यम वर्ग के महत्व को स्वीकार नहीं किया। रैडिकल मानवतावादी के रूप में राय ने मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धांत को अमान्य घोषित कर दिया। कोई भी समाज सुदृढ़ बंधनकारी शक्ति के अभाव में जीवित नहीं रह सकता। इसलिए वह संघर्ष सामाजिक जीवन का एकमात्र यथार्थ नहीं हो सकता।

राय के चिंतन का केंद्र वर्ग न होकर व्यक्ति था। वर्गीय भूमिका की दृष्टि से सर्वोत्तम वर्ग मध्यम वर्ग था। अब राय की दृष्टि में सर्वहारा वर्ग अपने चरित्र की दृष्टि से 'समाज का सबसे ज्यादा पिछड़ा स्तर था।' रैडिकल विचारक के रूप में, राय ने वर्ग संघर्ष और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के सिद्धांतों की भर्त्सना की। राय के अनुसार आधुनिक युग का प्रमुख संघर्ष सर्वाधिकारवाद और लोकतंत्र की शक्तियों के बीच में लड़ा जा रहा था। सर्वाधिकारवाद राष्ट्र या वर्ग के समष्टिवादी अहंकार को प्रोत्साहन देता था और लोकतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा का एकमात्र उपाय था।

सर्वहारा वर्गीय अधिनायकत्व का सिद्धांत सर्वाधिकारवाद का जनक है। मार्क्सवादी विचारधारा के कुछ अन्य दोष हैं : (1) उसमें अन्य वर्गों के द्वारा क्रांति के लिए कोई प्रावधान नहीं है। (2) वह इतिहास की व्याख्या में केवल आर्थिक कारकों को महत्व देती है। (3) द्वंद्ववाद तर्क की प्रक्रिया और जांच की पद्धति में लागू किया जा सकता है परंतु प्रकृति या समाज पर उसे लागू करना सही नहीं है। (4) अधिशेष मूल्य का सिद्धांत अतिशयोक्तिपूर्ण है। (5) मार्क्स की क्रांति की धारणा का मूल हिंसा है, जो नैतिकता के विरुद्ध है। और (6) उत्पादन के साधनों को राज्य के स्वामित्व में हस्तांतरित करना अनुचित है क्योंकि यह राज्य को सर्वाधिकारी बना देगा।

नव मानवतावाद की आस्थाएं

नव मानवतावाद सामाजिक परिवर्तन में शिक्षा की भूमिका को विशेष महत्व देता है। उसके अनुसार सही शिक्षा प्रणाली सामाजिक क्रांति लाने का सर्वोत्तम साधन है। इस दृष्टि से अब राय की सोच नौरोजी, रानाडे, गोखले आदि उदारपंथियों की संवैधानिक और शैक्षणिक पद्धतियों के बहुत निकट पहुंच गई थी। यह एक ऐतिहासिक व्यंग्य है कि राय पहले उग्रपंथी राष्ट्रवादी था फिर मार्क्सवादी-लेनिनवादी क्रांतिकारी बना किंतु अंत में उदारपंथियों की क्रमिक, संवैधानिक पद्धति के द्वारा परिवर्तन करने का पक्षधर बन गया। राय ने अपने 'रैडिकल' चरण में कहा कि उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध आधुनिक भारतीय इतिहास का सर्वश्रेष्ठ युग था और इसी युग में उदारपंथी राष्ट्रवादी सर्वाधिक सक्रिय थे।

अपनी मृत्यु के कुछ समय राय ने लिखा, "मेरा विश्वास है कि यदि भारत के इतिहास में कोई स्वर्णिम युग था तो वह उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्ध ही था, इस ऐतिहासिक अतीत के बारे में और कोई राय नहीं हो सकती।" नव मानवतावाद की आस्था विवेकवाद के अतिरिक्त व्यक्तिवाद और व्यक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका में भी है।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में राय की आस्था राजनीतिक दलों में भी समाप्त हो गई। राजनीतिक दलों द्वारा संचालित और शासित लोकतंत्र भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का

हनन करता है। राय ने कहा कि लोकतंत्र का तृणमूल (एक दम आम जन के स्तर पर) के स्तर पर पुनः विकास होना चाहिए। प्रतिनिधियों का चुनाव योग्यता के आधार पर ही पहले स्थानीय और जनपदीय स्तरों पर किया जाना चाहिए। राजनीतिक दलों के उन्मूलन के बाद ही मतदाता अपने प्रतिनिधियों के गुणों पर उचित ध्यान दे सकते हैं।

टिप्पणी

वस्तुतः पार्टियों के विषय में मानवेंद्रनाथ का व्यक्तिगत अनुभव सुखकर नहीं रहा था। युवास्था में वह क्रांतिकारी आतंकवादियों के दल का सदस्य था लेकिन भारतीय क्रांति के लिए धन और हथियार जुटाने में असफल रहा था। कम्युनिस्ट बनने के बाद कोमिन्टर्न के कार्य में लेनिन ने उसे प्रोत्साहन दिया था। वह न तो चीन में कोमिंटर्न के मिशन को पूरा कर सका न भारत में सुदृढ़ कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और मार्गदर्शन कर सका। 1929 में उसे कोमिंटर्न से निष्कासित कर दिया गया। भारत आकर वह कांग्रेस पार्टी में शामिल हुआ लेकिन कांग्रेस में भी वह उन्नति न कर सका। अंत में, उसने स्वयं अपनी अध्यक्षता में रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी का गठन किया, जिसे न जनाधार प्राप्त हुआ और न ही सक्रिय कार्यकर्ता मिल सके। अतः पार्टी संगठनों से मोहभंग होना राय के लिए स्वाभाविक ही था।

नव मानवतावाद मध्यम वर्ग को आधुनिक समाज का अधिकतम अग्रगामी वर्ग मानता है। उसी के द्वारा वर्तमान परिस्थितियों में प्रगतिशील सुधार किए जा सकते हैं। राय का मत है कि मध्यम वर्ग ही वैज्ञानिक भौतिकवाद के सिद्धांत के आधार पर क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए प्रभावी नीति बना सकता है। राय का मत है मध्यम वर्ग ही वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि के द्वारा सामाजिक चिंतन से धर्म, आध्यात्मिकता, अंधविश्वास और मताग्रहों को दूर कर सकता है तथा विज्ञान और विवेक के आधार पर वैज्ञानिक भौतिकवाद सोच को प्रोत्साहन दे सकता है। वैज्ञानिक राजनीति के लिए ऐसा कार्यक्रम होना चाहिए, जो समाज के सभी वर्गों के विकास के लिए सही आर्थिक नीतियों को निर्धारित और क्रियान्वित कर सके।

राय का मत है कि पूंजी के संचय के बिना कोई समाज प्रगति नहीं कर सकता। इसलिए अधिशेष मूल्य का पूंजीपतियों द्वारा अधिग्रहण पूर्णतः अनुचित नहीं है। राय का कथन है, "अधिशेष मूल्य के सृजन के बिना पूंजी का संचय नहीं हो सकता और पूंजी के संचय के बिना आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती। इसलिए पूंजीवादी समाज में पूंजी के संचय के कारण उस समाज की भर्त्सना नहीं की जा सकती।"

सामंती समाज की तुलना में पूंजीवादी समाज अधिक प्रगतिशील है। राय कहता है, "पूंजीवाद श्रम के शोषण के द्वारा विकसित होता है परंतु इसी के साथ-साथ पूंजीवाद संपूर्ण समाज को उच्चतर स्तर पर उठाता है। जहां तक श्रमिक वर्ग की बात है, वह भी इसी समाज का एक हिस्सा है, प्रारंभ में सभी प्रकार की शत्रुता और शोषण के बावजूद, इसका हित भी पूंजीपतियों के हित से समन्वित हो जाता है।"

अतः राय पूंजीवाद और पूंजीवादी संस्कृति के पूर्वाग्रह के सिद्धांत से पूर्णतः सहमत नहीं है। न केवल पूंजीवादी संस्कृति में बल्कि सामंती संस्कृति में भी कुछ शाश्वत मूल्य थे और हैं। इन उच्चतर मानवीय मूल्यों की रक्षा करना प्रत्येक नव मानवतावादी का कर्तव्य है। शंकर घोष का कथन है, 'राय की क्रांति के सिद्धांत में आकस्मिक परिवर्तन का प्रावधान नहीं था। उसकी मौलिक मानवतावादी क्रांति की उपलब्धि हिंसा या सशस्त्र विद्रोह के द्वारा नहीं बल्कि शिक्षा की विलंबित प्रक्रिया के द्वारा ही संभव हो सकती थी।'

टिप्पणी

राय के विकेंद्रीकृत, पार्टीविहीन लोकतांत्रिक नव मानवतावादी समाज में उत्पादन के साधनों पर सहकारी संस्थाओं के स्वामित्व और नियंत्रण का प्रावधान था। नव मानवतावादी समाज में आर्थिक नियोजन स्वैच्छिक सहकारिता पर आधारित था। नव मानवतावाद की विश्व दृष्टि पूर्णतः संशोधनवादी, व्यक्तिवादी और विवेकवादी है। उसका दर्शन वैज्ञानिक भौतिकवाद है, जो मनुष्य को मूल रूप से एक भौतिक-जैविक प्राणी मानता है। वह चाहता था कि स्वतंत्र स्त्रियों और पुरुषों का विश्व स्तर पर एक सार्वभौम राष्ट्रमंडल स्थापित किया जाए।

उसकी अंतिम आस्था की घोषणा इन शब्दों में की गई, "मनुष्य पृथ्वी पर शून्य से प्रकट नहीं हुआ। वह भौतिक विश्व में जैविक विकास की लंबी प्रक्रिया के द्वारा आगे बढ़ा। मनुष्य, उसका चित्त, बुद्धि भौतिक विश्व के अभिन्न अंग रहेंगे। अतः मनुष्य की जन्मजात विवेकशीलता समरस व्यवस्था की एकमात्र गारंटी है, जो एक नैतिक व्यवस्था भी है। सभी सामाजिक प्रयासों का ध्येय मनुष्य को अपनी मौलिक विवेकशीलता के प्रति सचेत रखना है।'

अपनी प्रगति जांचिए

1. "हर एक से अपनी क्षमता के अनुसार, हर एक को अपनी आवश्यकता के अनुसार"– यह नियम किसके अंतर्गत है?

   (क) समाजवाद के (ख) साम्यवाद के

   (ग) पूंजीवाद के (घ) विवाद के

2. 'साम्यवाद' की विचारधारा को आगे बढ़ाने वाले विचारक कौन हैं?

   (क) लेनिन (ख) अरस्तू

   (ग) प्लेटो (घ) मार्क्स

4.3 समाजवाद

विभिन्न विचारकों द्वारा समाजवाद को कई मानों में परिभाषित किया गया है। जहां तक समाजवाद की प्रकृति का सवाल है, समाजवाद के प्रसिद्ध विचारक, सी.ई.एम. जोड का कहना है– "समाजवाद एक ऐसी टोपी है जिसने सबके पहनने से अपना आकार खो दिया है।'' ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार, "समाजवाद एक ऐसा सिद्धांत या नीति है जिसका उद्देश्य है उत्पादन, भूमि, संपत्ति आदि के साधनों पर पूरे समुदाय का स्वामित्व या नियंत्रण और सबके हित में इनका प्रशासन। सामान्य रूप से, समाजवाद को एक ऐसी आर्थिक प्रणाली समझा जा सकता है जिसका उभार निजी स्वामित्व एवं लाभ पर आधारित अर्थव्यवस्था के पूंजीवादी तरीके की समस्याओं से निबटने के लिए हुआ।" पूरी अर्थव्यवस्था कुछ लोगों द्वारा नियंत्रित की जाती थी जिन्हें पूंजीपति कहा जाता था और वे बाकी बची आबादी का शोषण करते थे जो श्रमिकों के रूप में उत्पादन का काम करते थे। पूंजीवादी प्रणाली श्रमिकों के शोषण पर आधारित थी, क्योंकि अर्थव्यवस्था में काम करने की परिस्थितियां कुछ खास अच्छी नहीं थीं और इस तरह समाज के शोषित वर्ग के पास अपनी दशा सुधारने के अलावा और कोई रास्ता नहीं

था क्योंकि उन्हें बाजार में अपनी मजदूरी बेचने और दयनीय हालत में जीवन व्यतीत करने के लिए मजबूर किया जाता था।

टिप्पणी

उस परिदृश्य में, श्रमिक वर्ग के लिए समाजवाद एक वरदान के रूप में उभरा जिसने इसके हितों पर ध्यान देने के अलावा सामाजिक उत्पादन (यानी, व्यापक समाज द्वारा उत्पादन) और सामुदायिक स्वामित्व पर भी जोर दिया ताकि इनका सार्वजनिक हित में पर्याप्त रूप से उपयोग किया जा सके। इसके साथ–साथ, एक आर्थिक प्रणाली के रूप में यह योजना प्रणाली सुनिश्चित करता है और उसे कल्याण, पुनर्वितरण और आर्थिक प्रबंधन के रूप में ढालता है। समाजवाद "जरूरत के सिद्धांत" में भी विश्वास रखता है जिसका मतलब है, "प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी जरूरत के अनुसार"। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि समाजवाद श्रेय या खूबी की जगह समानता पर जोर देता है।

शूमपीटर एक अन्य विचारक हैं जिन्होंने समाजवाद पर अपने ढंग से खोज की है। कैपिटलिज्म, सोशलिज्म एंड डेमोक्रेसी नामक अपनी किताब में इन्होंने समाजवाद की एक विस्तृत परिभाषा दी है। शूमपीटर के अनुसार, "समाजवाद, समाज का एक ऐसा संगठन है जिसमें उत्पादन के साधन और उससे संबंधित कब, कैसे और क्या के जवाब तथा इस बात का निर्णय कि किसको कितना मिलना चाहिए, निजी स्वामित्व, निजी निर्माण और निजी लाभ के जगह सार्वजनिक प्राधिकरण द्वारा किया जाता है"।

समाजवाद एक व्यापक विचारधारा है। ऊपर दी गई विभिन्न परिभाषाओं और विद्वानों द्वारा समाजवाद के सिद्धांत की व्याख्या के आधार पर, समाजवाद की कुछ मूलभूत विशषताएं निकल कर आती हैं, जो इस प्रकार हैं– समाज के संसाधनों का सामूहिक स्वामित्व, विकास की केंद्रीय योजना प्रणाली, आर्थिक समानता, सामाजिक न्याय, सामाजिक समावेश और समानतावाद। सन्ड्रूय हेवुड द्वारा समाजवाद के मौलिक सिद्धांतों की इस प्रकार व्यवस्थित व्याख्या की गई है–

सार्वजनिक स्वामित्व : सार्वजनिक स्वामित्व, समाजवाद का मूलभूत सिद्धांत है। पूंजीवाद के विपरीत समाजवाद, समाज कल्याण, सामुदायिक उत्पादन और लोगों की जरूरतों के अनुसार संसाधनों के पुनर्वितरण में विश्वास रखता है। दरअसल, समाजवाद में सार्वजनिक स्वामित्व (राष्ट्रीयकरण या सार्वजनिक प्राधिकरण द्वारा नियंत्रित) का मतलब है कि यह भौतिक संसाधनों को नियंत्रित करने का एक साधन है जबकि निजी सम्पत्ति को स्वार्थ, अधिग्रहण और सामाजिक विभाजन को बढ़ावा देने का साधन समझा जाता है। खैर, आधुनिक समाजवाद स्वामित्व की राजनीति की इस संकीर्ण चिंता से परे हो गया है। पूंजीवाद के विपरीत, समाजवाद संसार को व्यक्तिवाद की जगह सामुदाय के नजरिए से परिभाषित करता है। इसलिए, उस अर्थ में यह संकीर्ण दृष्टिकोण और व्यक्तिगत कल्याण के बजाय सार्वजनिक मानवता, सामाजिक समूहों और सामुदायिक कल्याण में विश्वास रखता है।

सामाजिक समानता : समाजवाद सामाजिक समानता के सिद्धांत का पालन करता है, इसका मतलब है यह समतावादी समाज को स्थापित करना चाहता है, जहां अवसर की समानता की जगह परिणाम की समानता का बोलबाला होगा। समाजवादियों का यह भी मानना है कि सामाजिक समानता, सामाजिक स्थिरता और एकता के लिए

आवश्यक है जो लोगों को दूसरे मनुष्यों की भावनाएं महसूस करना सिखाती है। यह कानूनी और राजनीतिक अधिकारों की मांग का आधार भी प्रदान करती है।

टिप्पणी

सामाजिक वर्ग : समाजवाद, समाज का विश्लेषण वर्ग राजनीति के आधार पर करता है। इसके अनुसार, आय अथवा धन सम्पत्ति के आधार पर समाज दो वर्गों में बंटा है, विशेषाधिकार प्राप्त और वंचित वर्ग या पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग। समाजवादी, सामाजिक अनुभेदन के आधार के रूप में वर्गों को बंटा मानते हैं और इस संघर्षपूर्ण परिस्थिति में, समाजवाद को दलित या वंचित वर्ग से जोड़ा गया है और यह श्रमिक वर्ग के रास्ते में आने वाली रुकावटें दूर करके श्रमिकों की सामाजिक एवं आर्थिक दशा में सुधार लाना चाहता है।

आवश्यकता : समाजवाद, आवश्यकता के सिद्धांत पर आधारित है। धन–सम्पत्ति के वितरण के लिए यह 'योग्यता' को बढ़ावा नहीं देता। 'आवश्यकता के सिद्धांत' पर विश्वास रखते हुए, यानी, 'प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी जरूरत के अनुसार' समाजवाद यह विश्वास प्रतिबिंबित करता है कि मौलिक जरूरतों (भूख, आश्रय, प्यास, स्वास्थ्य, व्यक्तिगत सुरक्षा आदि) का पूरा किया जाना एक सार्थक मानव अस्तित्व और सामाजिक जीवन का आधार है।

4.3.1 समाजवाद के उद्‌भव की ऐतिहासिक खोज

समाजवाद की शुरुआत सत्रहवीं सदी की है जब टॉमस मूर द्वारा युटोपिया नामक किताब प्रकाशित की गई थी। लेकिन एक विचारधारा के रूप में समाजवाद, उन्नीसवीं सदी के शुरुआती हिस्से तक नहीं उभर पाया था। अपने विकास के शुरुआती चरण में, समाजवाद एक आदर्शवादी विचारधारा के रूप में माना जाता था। जब इसने पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और मार्किट विनिमय को खत्म करने की और उसकी जगह, सार्वजनिक स्वामित्व के सिद्धांत पर आधारित, गुणात्मक तौर पर अलग सामाजवादी समाज स्थापित करने की कोशिश की तो इसे एक क्रांतिकारी ताकत की पहचान भी प्रदान की गई। उन्नीसवीं सदी में, सुधारवादी समाजवादी परंपरा सामने आई जिसने सामाजिक सुधार के विचार को बढ़ावा दिया ताकि श्रमिकों के जीवन में सुधार लाया जा सके। ऐसी विचारधारा वाले लोगों को सुधारवादी समाजवादी कहा जाता था। असल में सुधारवादी दो श्रेणियों में बंटे हुए थे। पहली श्रेणी रॉबर्ट ओवेन, चार्ल्स फूरियर, और विलियम मॉरिस द्वारा प्रेरित थी, जिसे नैतिक समाजवाद की मानवतावादी परंपरा कहा गया है। जबकि दूसरी श्रेणी थी संशोधनवादी मार्क्सवाद की जिसका विकास एडुअर्ड बर्नस्टाइन द्वारा किया गया था।

इसके अतिरिक्त, बीसवीं सदी में समाजवाद का अन्य दो तरीकों से विकास हुआ। समाजवादी प्रवृत्ति दो विरोधी खेमों में बंट गई थी– क्रांतिकारी समाजवाद और सुधारवादी समाजवाद। क्रांतिकारी समाजवाद कार्ल मार्क्स द्वारा प्रेरित था जिसे व्यावहारिक उन्मुखीकरण लेनिन और साम्यवादी कहे जाने वाले अन्य बोल्शेविक्स से प्राप्त हुआ, जबकि सुधारवादी समाजवाद ने संवैधानिक राजनीति का रास्ता अपनाया जिसे 'सामाजिक लोकतंत्र' कहा जाता था। इस लोकतंत्र में, लोकतंत्र के साथ समाजवाद की विशेषताएं भी शामिल थीं। समाजवादी लोकतंत्र की मुख्य विशेषताएं हैं सार्वजनिक स्वामित्व और योजना, कल्याण, पुनर्वितरण एवं आर्थिक प्रबंधन।

समाजवाद के प्रकार

समाजवाद का अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है–

विकासवादी और क्रांतिकारी समाजवाद

टिप्पणी

आमतौर पर समाजवाद को विकासशील समाजवाद निरूपित करने के लिए संदर्भित किया गया है। इस प्रकार का समाजवाद, शांतिपूर्वक ढंग से पूंजीवादी समाज से समाजवादी समाज में परिवर्तित होने में विश्वास रखता है। यह विकासवादी समाजवाद का आधार प्रदान करता है। इसे क्रांतिकारी समाजवाद से अलग बताया गया है। दूसरे शब्दों में, विकासवादी समाजवाद पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की जगह समाजवादी अर्थव्यवस्था लाकर, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रणाली को बदलना चाहता है। वास्तव में यह प्रणाली को स्थिर और मापे हुए तरीके से परिवर्तित करके बदलाव लाने की कोशिश करता है। यह समाज के बड़े हिस्से (वंचित अनुभाग और निचले वर्ग) की भौतिक स्थिति को सुधारने में विश्वास रखता है। यह विशेषाधिकार प्राप्त (पूंजीवादी वर्ग) और वंचित (श्रमिक वर्ग) श्रेणी के बीच आपसी समझौते में भी विश्वास रखता है। एक विचारधारा के रूप में, समाजवाद वंचित वर्ग को रियायत भी प्रदान करता है ताकि वे अपने जीवन स्तर और आर्थिक स्थिति में सुधार ला सकें। यह समाज के दोनों वर्गों के बीच की दूरी भी कम करता है। इसके अलावा, इस प्रकार के समाजवाद में उल्लेखनीय महत्वपूर्ण कारक यह है कि ये सुधार उच्च श्रेणी वर्ग की सहमति के बाद लाए जाते हैं। इसके साथ, विकासवादी समाजवाद द्वारा भी, इन सुधारों के लिए लोकतांत्रिक या संसदीय तरीका अपनाया जाता है, जिससे न केवल श्रमिक वर्ग के हितों की पूर्ति हो बल्कि उन्हें अपने हित सुरक्षित करने हेतु प्रतिनिधित्व भी प्राप्त हो सके। इसके विपरीत, क्रांतिकारी समाजवाद, बदलाव लाने के लिए क्रांति का रास्ता अपनाने को बढ़ावा देता है। यह सीधा–सीधा समाज के प्रचलित ढंग पर वार करता है जो प्रमुख वर्ग द्वारा संचालित है। यह समाज के पूर्ण परिवर्तन को आवश्यक मानता है। इसीलिए यह मार्क्सवादी परंपरा से संबंधित है। क्रांतिकारी समाजवाद, श्रमिक वर्ग को व्यवस्थित करने पर भी जोर देता है ताकि वह पूंजीवादी वर्ग के विरुद्ध लड़ कर उत्पादन के पूंजीवादी तरीके को बाहर फेंक सके और क्रांति के जरिए उत्पादन और वितरण का समाजवादी तरीका स्थापित कर सके।

जर्मन सामाजिक लोकतंत्र

जर्मन सामाजिक लोकतंत्र एक ऐसे प्रकार का समाजवाद है जो विकासवादी समाजवाद के काफी करीब है। यह जर्मनी में प्रचलित है। जर्मनी विकासवादी और क्रांतिकारी, दोनों प्रकार के समाजवाद का जन्म–गृह रहा है। यहां इस बात पर विचार करना महत्वपूर्ण है कि क्रांतिकारी समाजवाद के स्थापक कार्ल मार्क्स, जर्मनी के रहने वाले थे। इसके अलावा, विकासवादी समाजवाद के एक पहलू के रूप में जर्मन सामाजिक लोकतंत्र, जर्मनी से संशोधनवाद के रूप में भी जुड़ा है। हालांकि, जहां तक जर्मन सामाजिक लोकतंत्र का सवाल है, इसकी स्थापना फ्रडिनैंड लैसेल द्वारा की गई थी। मार्क्स के परिवर्तन के सिद्धांत में तो विश्वास रखते थे लेकिन पूंजीवाद प्रणाली को हिंसक तरीके से उखाड़ फेंकने के समर्थक नहीं थे। बल्कि, उनके नजरिए के अनुसार समाज के श्रमिक वर्ग को अपने आप को एक राजनीतिक पार्टी के रूप में व्यवस्थित करने के बाद पूंजीवाद वर्ग के खिलाफ लड़ाई लड़नी चाहिए। इनके विचार प्राथमिक

टिप्पणी

तौर पर समाज के पूंजीवाद से समाजवाद तक शांतिपूर्वक परिवर्तन के समर्थक थे और इस परिदृश्य में श्रमिक वर्ग अपने हितों का व्यवस्थित रूप से प्रदर्शन कर सकते हैं। लैसेल द्वारा समान एवं प्रत्यक्ष मताधिकारों का भी अनुरोध किया गया था जिससे उनकी शक्ति भी समान रूप से प्रभावी बन सके। लैसेल द्वारा, श्रमिक वर्ग के लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व की भी वकालत की गई है ताकि वे बहुसंख्या में सत्ता में आ सकें और समतावादी समाज की स्थापना के साथ अपने हितों की रक्षा कर सकें। इसके परिणामस्वरूप, जर्मनी में सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी की स्थापना की गई थी। इसने सार्वभौमिक प्रत्यक्ष और समान मताधिकारों, आबादी के अनुसार प्रतिनिधित्व, पहल और जनमत के अधिकार के माध्यम से लोगों द्वारा प्रत्यक्ष कानून, युद्ध के मुद्दे पर लोकप्रिय जनमत संग्रह, लोकप्रिय नागरिक सेना, स्कूलों के धर्मनिरपेक्षीकरण, मृत्युदंड का उन्मूलन, मुफ्त चिकित्सा सहायता, प्रगतिशील आयकर, आठ घंटे का काम और रात के काम और बाल श्रम पर रोक और सामाजिक बीमा की व्यवस्था की मांग की।

पहले विश्वयुद्ध के बाद, कार्ल कॉत्सकी एक मुख्य समर्थक के रूप में उभरे या दूसरी तरह कहा जाए तो, जर्मन सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी के वक्ता के रूप में। लैसेल के विपरीत, इनके अनुसार क्रांति, सामाजिक प्रणाली स्थापित करने का अंतिम लक्ष्य था। लेकिन इसमें हिंसा का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए। कॉत्सकी द्वारा दिए गए उदाहरणों की व्याख्या करते हुए हैलोवेल ने कहा है, "श्रमिकों की स्थिति में सुधार लाने के लिए कॉत्सकी व्यापार संघ आंदोलन, सहकारी समितियों के विस्तार, संसदीय प्रतिनिधित्व और कानून के समर्थक थे। वे इन कार्यक्रमों को समाजवाद नहीं बल्कि समाजवाद की ओर ले जाने वाला रास्ता मानते थे।

संशोधनवाद

विकासवादी समाजवाद का एक और प्रकार है संशोधनवाद। इसका विकास भी जर्मनी में किया गया था। ऐसा माना जाता है कि समाजवाद के संशोधनवादी धागे को, विकासशील प्रक्रियाओं के जरिये, धीरे–धीरे समाविष्ट किया गया है। हालांकि कॉत्सकी ने कभी यह बात नहीं मानी कि वे संशोधनवादी हैं लेकिन उनकी दार्शनिक मजबूती और कार्यक्रम संबंधी योजना को देखते हुए उन्हें संशोधनवाद के करीब माना गया है। एडुअर्ड बर्नस्टाइन (1850–1932) को संशोधनवादी विचारधारा का मुख्य प्रतिपादक माना जाता है। उन्होंने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। बर्नस्टाइन ने समाजवाद को एक ऐसी प्रगतिशील अवधारणा के रूप में देखा, जिसे लोकतांत्रिक तरीके से लागू करने की आवश्यकता है और इसी से उन्हें एक प्रसिद्ध संशोधनवादी की पहचान प्राप्त हुई। उन्होंने वर्ग संघर्ष की अनिवार्यता की मार्क्सवादी अवधारणा को अस्वीकार किया। वर्ग संघर्ष के बजाय, बर्नस्टाइन को लोकतांत्रिक सरकार लागू करने के माध्यम से दोनों वर्गों की ऐसी साझेदारी में विश्वास था जहां दोनों वर्गों को प्रतिधिनित्व प्राप्त होगा। दरअसल, उन्होंने उदार लोकतंत्र की हिमायत की। इसके अलावा, संशोधनवादी विचारधारा ने सबसे पहले, इस प्रकार मार्क्सवादी सिद्धांत का संशोधन किया था– "वर्ग संघर्ष अनिवार्य नहीं है, क्योंकि श्रमिक वर्ग की परिस्थितियों में धीरे–धीरे सुधार हो रहा है और ये अब पहले की तुलना में अधिक संतुष्ट हैं। दूसरा, हितों की विभिन्नता के कारण, ये वर्ग न केवल दो हिस्सों में बंटे हुए हैं बल्कि ज्यादा लोग समाज के प्रमुख एजेंट के रूप में दिखाई देते हैं। मध्य वर्ग के

रूप में यह एक नई घटना बन कर उभरी है। इस वर्ग प्रभाव को सामाजिक परिवर्तन में झुठलाया नहीं जा सकता।

4.3.2 फेबियन समाजवाद

टिप्पणी

फेबियन समाजवाद को भी विकासवादी समाजवाद के रूप में वर्गीकृत किया गया है। यह, मार्क्सवादी समाजवाद के विकल्प के रूप में उभरा था। फेबियन समाजवाद, 'फेबियन' शब्द से उत्पन्न हुआ है जो असल में 'फेबियस' नामक महान रोमन जनरल के नाम से प्रेरित है।

फेबियन समाजवाद का विकास इंग्लैंड में, अठारहवीं सदी के दूसरे हिस्से में हुआ था। वास्तव में फेबियनवाद ग्रेट ब्रिटेन में लोकतंत्र की स्थापना के लिए एक आंदोलन के रूप में 1865 में उभरा था। इन वर्षों के दौरान, बहुत छोटे बुद्धिजीवियों के समूह को इस बात का एहसास हुआ कि श्रमिकों की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियां धीरे–धीरे सुधर रही थीं, क्योंकि उन्हें न केवल मताधिकार मिले बल्कि वे ट्रेड यूनियन के सदस्य भी बनने लगे थे। इस परिस्थिति में श्रमिकों के हितों की सुरक्षा होती। इसके बाद किसी तरह की क्रांति करने का कोई मतलब नहीं बनता था। केवल एक बात की आवश्यकता थी कि आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में समाज को लोकतांत्रिक तरीकों से परिवर्तित किया जाए। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी वेब, बीट्राइस वेब, सिडनी ओलिवियर, जीडीएचएच कोल और ग्राहम वॉलस, फेबियन समाजवाद के मुख्य प्रतिपादकों में से थे।

फेबियन समर्थक भी संसदीय सुधारों में विश्वास रखते थे। ये अक्सर शांतिपूर्वक क्रांति के हक में रहे हैं। ये निजी सम्पत्ति और भूमि को राज्य के नियंत्रण में लाना चाहते थे। फेबियन समाजवाद के अनुसार पूंजीवाद से समाजवाद का परिवर्तन धीमी गति में होना चाहिए। इसमें, मौजूदा शांतिपूर्वक आर्थिक एवं राजनीतिक एजेंसियों द्वारा उद्योग के समाजीकरण की भी हिमायत की गई है। इसमें यह भी देखा गया कि समाजवादी आदर्शों के हित में समुदाय की सामाजिक चेतना उजागर करके, समाजवाद लाया जा सकता है। इसने मध्यवर्ग को एक ऐसे समूह के रूप में देखा है जिसे नई सामाजिक व्यवस्था की ओर से प्रशासन की तकनीकें विकसित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

श्रमिक संघवाद

फेबियन समाजवाद के विपरीत, श्रमिक संघवाद मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धांत में विश्वास रखने वाली विचारधारा है। मूल रूप से यह एक फ्रेंच विचारधारा है जिसका विकास फ्रांस और लैटिन अमेरिकी देशों में हुआ था। समाजवाद की इस प्रकार की व्यवस्था, व्यापार और श्रम संघ आंदोलन के रूप में की गई थी। श्रमिक संघवाद का मुख्य उद्देश्य था व्यापार संघों को राजनीतिक दलों से पूरी तरह मुक्त करवाना। सी.ई.एम. जोड के शब्दों में– "श्रमिक संघवाद, सामाजिक सिद्धांत का एक ऐसा प्रकार है जो व्यापार संघ संगठनों को उस नए समाज का आधार मानता है जिससे उसे उत्पन्न करना है।" श्रमिक संघवाद के एक महत्वपूर्ण समर्थक हैं जॉर्ज सोरेल, जो हिंसा के क्रांतिकारी सिद्धांत में विश्वास रखते थे। इस विचारधारा को फ्रांस में 1899 और 1937 के बीच प्रसिद्धि मिली। अपने शुरुआती दौर में इस आंदोलन द्वारा उद्योग के नियंत्रण हेतु, श्रमिकों के असीमित अधिकारों पर जोर दिया गया। लेकिन बाद में, विशेष तौर पर

टिप्पणी

पहले विश्वयुद्ध के बाद, इसने अपने संचालन में उपभोक्ता भी शामिल कर लिए। इसने एक राज्यहीन समाज की भी कल्पना की। इसने बिना राज्य के समाजीकरण के सिद्धांत का समर्थन किया। यह राज्य/देश के खिलाफ रहा है क्योंकि यह इसे पूंजीवादी शोषण का एक जरिया समझता है और दूसरा, जब तक श्रमिक राज्य की सत्ता भंग न कर दें, तब तक वे अपने मिशन में सफल नहीं हो सकते। इनका काम करने का तरीका मार्क्सवाद के तरीकों से अलग था। श्रमिक संघवादी प्रत्यक्ष कार्य में विश्वास रखते थे। मार्क्सवाद के विपरीत, श्रमिक संघवादियों द्वारा हमले, तोड़फोड़, मशीनरी के विनाश और बहिष्कार आदि की विधि अपनाई गई। हालांकि ये परिवर्तन लाने के लिए हिंसक तरीकों के इस्तेमाल में विश्वास रखते थे लेकिन ये सदा सफल नहीं हो सकते। प्रहार, सामाजिक परिवर्तन का मुख्य यंत्र है। श्रमिक संघवाद के मूलभूत सिद्धांतों को इस प्रकार सारांशित किया जा सकता है– पहला, श्रमिक संघवाद ने वर्ग संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धांत को स्वीकार किया; दूसरी बात, इसके विचार के अनुसार राजनीतिक राज्य समाप्त कर दिया जाना चाहिए; तीसरा, यह औद्योगिक कार्रवाई को समाज में परिवर्तन लाने के लिए एक उपकरण के रूप में देखता है; चौथा, इसके समर्थकों का मानना था कि श्रमिकों के हित प्राप्त करने के लिए सामान्य प्रहार एक अच्छा साधन है; पांचवा, इसमें ऐसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना की गई, जिसमें उत्पादक, व्यापार और औद्योगिक संघों को पूर्ण शक्ति प्रदान की जाएगी।

खैर, श्रमिक संघवाद का सिद्धांत प्रतिवादों से घिरा है। हैलोवेल का कहना है कि यह अपनी रणनीतियों को बढ़ा–चढ़ा कर बयान करता है और जानबूझ कर अपने उद्देश्यों का स्पष्ट प्रकटीकरण नहीं करता। यह जरूरत से ज्यादा सिद्धांतवादी और अतिवादी है। इसने उत्पादकों के अधिकारों पर जरूरत से ज्यादा ध्यान दिया है और उपभोक्ता को अनदेखा किया है। राज्य के विरुद्ध अपने विचार रख कर और उसका अंत करने की अपनी इच्छा प्रकट करके, इसने कहीं न कहीं अराजकता का समर्थन किया है। हैलोवेल द्वारा श्रम संघवाद के विषय में यह टिप्पणी की गई है कि यह फासीवाद के बहुत करीब है और इस बात पर खास हैरानी नहीं होती कि मुसोलिनी सोरेल द्वारा लिखी गई कृतियों में रुचि लेता था।

संघ समाजवाद

बीसवीं सदी में इंग्लैंड में संघ–समाजवाद का सामाजिक सिद्धांत से मिश्रण हुआ। समाजवाद के इस प्रकार को ब्रिटिश फेबियनवाद और फ्रेंच संघ समाजवाद की बुद्धिमान संतान माना गया। कई विचारक इसे संघ समाजवाद और संग्रहवाद के बीच आधे रास्ते पर बना घर मानते हैं। मौलिक रूप से, संघ समाजवाद का मुख्य उद्देश्य था राज्य के ढांचे के भीतर उत्पादकों और उपभोक्ताओं के संघ स्थापित करना। जी.डी.एच. कोल को संघ समाजवाद का मुख्य प्रतिपादक माना जाता है।

संघ समाजवाद का जन्म ब्रिटिश श्रमिक आंदोलन से हुआ जो 1916 और 1926 के दशक में बहुत सफल साबित हुआ था। संघ समाजवाद की मौलिक विशेषताओं को इस प्रकार सारांशित किया जा सकता है– पहली, यह वर्ग संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धांत द्वारा प्रभावित है; दूसरी, इसके द्वारा वेतन प्रणाली की समाप्ति का प्रस्ताव रखा गया और औद्योगिक व्यवस्था में श्रमिकों के प्रतिनिधित्व के परिचय का प्रयास किया गया; तीसरी, श्रमिक के साथ साथ उपभोक्ता को महत्व देकर इसने संघ समाजवाद को

टिप्पणी

सुधारने की कोशिश की; चौथी, अपने शोषक चरित्र के कारण पुरानी राज्य प्रणाली को समाप्त करना चाहता था। संघ समाजवाद कार्यकारी प्रतिनिधित्व पर आधारित था। इसका मानना था कि उद्योग पर बौद्धिक एवं श्रमिक, दोनों, कर्मियों का नियंत्रण हो। लोकतंत्र को संघ समाजवाद के मुख्य सिद्धांतों में से एक माना जाता है। संघ समाजवाद द्वारा यह पुष्टि की गई है कि लोकतंत्र को पहले आर्थिक क्षेत्र में और फिर राजनीतिक क्षेत्र में विस्तारित किया जाना चाहिए और जहां तक इसके तरीकों का सवाल है, संघ समाजवाद द्वारा विकासवादी समाजवाद के तरीके अपनाए गए हैं, कुछ हद तक यह संसदीय कार्यों में भी विश्वास रखता है। यह व्यापार संघों पर भी विश्वास रखता है। संघ समाजवाद के अनुसार– "आज के व्यापार यूनियन कल संघ बन जाएंगे"।

फेबियन समाजवाद

फेबियन समाजवाद का विकास इंग्लैंड में, अठारहवीं सदी के दूसरे हिस्से में हुआ था और इसने, मार्क्स के दर्शन के प्रतिनिधित्व वाले क्रांतिकारी समाजवाद का विकल्प प्रस्तुत किया। फेबियन समाजवाद क्रमिक, विकासवादी एवं लोकतांत्रिक तरीकों से समाज के कल्याण और बढ़ावे का उद्देश्य रखता है। 1884 में इंग्लैंड में स्थापित हुआ फेबियन समाज, फेबियन स्वर दर्शाता है। जी.बी. शॉ, ग्राहम वॉलस, हेबर ब्लैंड, सिडनी और बीट्राइस वेब और एनी बेसेंट, फेबियन समाजवाद के मुख्य प्रतिपादक हैं। दरअसल, फेबियन समाजवाद इंग्लैंड में लोकतंत्र लाने के लिए वचनबद्ध था। क्रांतिकारी समाजवाद के विपरीत, फेबियन समाज के सुधार हेतु संसदीय रास्ता अपनाने में विश्वास रखते थे। इन्होंने हमेशा शांतिपूर्वक क्रांति का प्रचार किया है। जहां, क्रांतिकारी समाजवाद पूंजीवाद से समाजवाद में बदलाव लाने के लिए क्रांति को अनिवार्य मानता था, वहीं फेबियन समाजवाद पूंजीवाद से समाजवाद के बदलाव को एक सुधारात्मक प्रक्रिया के रूप में देखता था। इसमें सम्पूर्ण समाज को सुधारने के लिए मौजूदा शांतिपूर्वक आर्थिक एवं राजनीतिक एजेंसियों द्वारा उद्योग के समाजीकरण की भी हिमायत की गई थी। फेबियनवादियों का नारा था– "फेबियन की तरह सदा सही समय का इंतजार करो, लेकिन उसके आते ही फेबियन की तरह उस पर भारी वार करो, नहीं तो इंतजार बेकार है"। 1889 में, फेबियन समाज द्वारा अनुबंधों का संग्रह प्रकाशित किया गया, जिसका नाम था, फेबियन एसेस इन सोशलिज्म, जिसका संपादन जॉर्ज बर्नार्ड शॉ द्वारा किया गया था। इस प्रकाशन के पीछे मकसद था यूरोपीय समाज को एक तर्कसंगत तरीके से अपने विचारों से रूबरू करवाना।

फेबियन समाजवाद और मार्क्सवाद

जैसा कि ऊपर कहा गया है, फेबियन समाजवाद, विकासवादी समाजवाद माना जाता है। मार्क्सवादियों की तरह फेबियन भी समाज की प्रकृति पूंजीवादी से बदल कर समाजवादी बनाना चाहते थे लेकिन उनके विपरीत फेबियनवादी इस बदलाव को एक धीमी प्रक्रिया के रूप में देखते थे। फेबियनवादी, वर्ग संघर्ष और बदलाव के मार्क्सवादी सिद्धांत में विश्वास नहीं रखते थे लेकिन इनकी विचारधारा व्यापक तौर पर किराए के सिद्धांत और राष्ट्र की सामाजिक चेतना की वृद्धि पर आधारित थी। इन्होंने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि समाजवाद का मतलब, सरकार में पूर्ण बदलाव लाने के लिए

टिप्पणी

हिंसापूर्वक क्रांति करना नहीं था। फेबियन समाजवाद को, मार्क्स से ज्यादा मिल के विचारों द्वारा आकार प्राप्त हुआ था। मिल ने अपनी आत्मकथा में लिखा है– "भविष्य की सामाजिक समस्या यह हो सकती है कि कार्य की सबसे महान व्यक्तिगत स्वतंत्रता को पृथ्वी की कच्ची सामग्री के सामान्य स्वामित्व और मिश्रित श्रम के लाभों में सबकी भागीदारी से कैसे जोड़ा जाए"।

फेबियनवाद का मार्क्सवाद से अलग रास्ता अपनाने का एक मुख्य कारण इंग्लैंड की धरती पर उभार और विकास भी था। इस समय काल के दौरान, श्रमिकों की काम करने की परिस्थितियों में सुधार आया था और 1867 के अधिनियम के अंतर्गत उन्हें मताधिकार और प्रत्यक्ष कानून में प्रभाव की स्थिति भी प्राप्त हुई थी। 1865 से लेकर 1885 का दौर ग्रेट ब्रिटेन के लिए बड़े परिवर्तनों का दौर था। इस अवधि में, कामगारों द्वारा न केवल देश की बढ़ती समृद्धि साझा की गई बल्कि ये अधिक व्यवस्थित भी नजर आए। इसके साथ, व्यापार संघों को भी कानूनी मान्यता प्राप्त हुई। मूल रूप से फेबियन समाजवाद, जो ब्रिटिश बुद्धिजीवियों से बेहद प्रभावित था, मार्क्सवाद से बहुत अलग था। इसके पीछे कारण यह था श्रमिकों के हित में बदलती आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के जमीनी स्तर की वास्तविकताएं। इसलिए, समाज का कामगार वर्ग क्रांति के माध्यम से बदलाव लाने के हक में नहीं था, बल्कि यह हाशियों के हित पाने के लिए सामाजिक सुधार एवं समाज सेवाओं का रास्ता अपनाना चहता था। ऐसा भी देखने को मिला कि लोकतांत्रिक युग में वैध दिखाई देने वाली मार्क्स की व्याख्या, पुरानी होती जा रही थी। ऐसा भी लग रहा था कि मार्क्स का समाजवादी सिद्धांत वहां लागू नहीं किया जा सकता था, क्योंकि राज्य सामाजिक सुधारों की शुरुआत करने को तैयार था। उस परिस्थिति में, फेबियन समाजवाद पूंजीवाद से समाजवाद के शांतिपूर्वक परिवर्तन का प्रस्ताव लेकर आया। समाज के सुधार के लिए, फेबियनवादी मुख्य रूप से लोकतांत्रिक साधनों के प्रयोग के हक में थे।

इसके अलावा, इंग्लैंड में मार्क्सवाद की असफलता और फेबियनवाद के विकास का एक अन्य कारण था ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की विशेष संरचना। ब्रिटिश अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण था इसकी ग्रामीण संरचना जो महाद्वीपीय यूरोपी देशों की अर्थव्यवस्था और जीवन से काफी भिन्न थी। ब्रिटेन की व्यवस्था कुछ इस प्रकार की थी जिसमें क्षेत्र के बड़े भाग पर कुछ एक जमींदारों का नियंत्रण था। ये बड़े जमींदार, ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में बड़े राज्यों के मालिक थे।

फेबियन समाजवाद : उद्‌भव और प्रकृति

फेबियन समाज की शुरुआत और उसका विकास 1882 और 1884 में अमेरिकी प्रोफेसर थॉमस डेविडसन की देखरेख में हुआ। डेविडसन का यह मानना था कि– "सारे सुधार अंततः आत्म–सुधार पर निर्भर होते हैं और आत्म–सुधार केवल सबसे उच्च नैतिकता वाले सिद्धांतों के अनुदेशों द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं।" कुछ समय बाद यह महसूस किया गया कि आत्म–सुधार और नैतिक कार्य करने में काफी समय लग सकता है और इस दौरान इस बात पर भी विचार किया गया कि कानून के जरिए सामाजिक सुधार पर चिंतन किया जाना चाहिए। और अंत में, 1884 में, फेबियन समाज का गठन किया गया। 'फेबियन' शब्द, असल में 'कुइंटस फेबियस' नामक महान रोमन जनरल के नाम से प्रेरित है, हैंनिबल के विरुद्ध जिसकी युद्ध रणनीतियों से समाज को

दिशानिर्देश मिला। इसलिए इसका नारा कहता है, "फेबियस की तरह सदा सही समय का इंतजार करो, (संभवतः हैनिबल के साथ युद्ध के दौरान) लेकिन उसके आते ही फेबियस की तरह उस पर भारी वार करो, नहीं तो इंतजार बेकार है"।

टिप्पणी

यह नारा, सचमुच इस ओर इशारा करता है कि फेबियन समाजवाद, समाज के पूंजीवाद से समाजवादी परिवर्तन को एक धीमी प्रक्रिया के रूप में देखता था और मौजूदा आर्थिक एवं राजनीतिक एजेंसियों द्वारा शांतिपूर्वक उद्योग के समाजीकरण का इच्छुक था। इसके नजरिए से समाजवादी आदर्शों के हित में समुदाय की सामाजिक चेतना उजागर करके, समाजवाद लाया जा सकता था। इसने मध्यवर्ग को एक ऐसे समूह के रूप में देखा है जिसे नई सामाजिक व्यवस्था की ओर से प्रशासन की तकनीकें विकसित करने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। वास्तव में, फेबियन सामाजिक आंदोलन एक ऐसा मध्यवर्गी आंदोलन था जिसमें, इन बुद्धिजीवियों का श्रमिक वर्ग से कोई सम्पर्क नहीं था लेकिन ये श्रमिकों के लिए बेहद चिंतित थे और उनकी आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार लाना चाहते थे।

फेबियन समाजवाद के अनुसार, समाजवाद स्तरों में प्राप्त किया जाना चाहिए। बल्कि, इसे पाने के लिए क्रांतिकारी तरीके अपनाए जाने चाहिए। फेबियन समाजवादी भाषणों और प्रकाशित निबंधों के माध्यम से अपना तर्क प्रस्तुत कर, राष्ट्रीय एवं स्थानीय प्राधिकारियों एवं सामूहिक कानून को अपने गुण समझाने में विश्वास रखते थे। फेबियन समाजवाद की सुधारात्मक प्रकृति इंग्लैंड में केवल मध्य वर्ग का विश्वास जीतने के लिए प्रसारित की गई थी ताकि, सभी प्रकार की शंकाएं दूर हो सकें और सामूहिक आकर्षण बनाया जा सके। इसके साथ, फेबियनवाद संसदीय सुधार का रास्ता भी अपनाना चाहता था। फेबियन समाज के विकास में सिडनी वेब, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी ओलिवियर और ग्राहम वॉलस, चार प्रसिद्ध बुद्धिजीवियों द्वारा मुख्य समर्थन दिया गया था। इन विचारकों के अलावा एच.जी. वेल्स, बीट्राइस वेब, रैमसे मैकडोनाल्ड, पेथिक–लॉरेंस, जी.डी.एच. कोल कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने बाद में इस क्षेत्र में अपना योगदान दिया।

फेबियन समाजवाद के स्रोत और व्याख्या

फेबियन समाजवाद अपने समय के कई समाजवादी बुद्धिजीवियों से बहुत प्रभावित था उदाहरण के तौर पर– मार्क्स प्रुडहन, ओवेन और इसके अलावा अंग्रेजी अर्थशास्त्री स्मिथ, रिकार्डो, मिल, लेस्ली और केर्न्स आदि। कुछ हद तक ये मार्क्स के अनुयायी थे लेकिन इनके निष्कर्ष मार्क्स से बिल्कुल अलग थे। जहां तक सार्वजनिक स्वामित्व, उत्पादन के साधनों और सामाजिक कल्याण के सिद्धांत का सवाल है, इन्होंने मार्क्स का रास्ता अपनाया लेकिन मार्क्स के अन्य विचारों, जैसेकि अतिरिक्त मूल्य, वर्ग संघर्ष और क्रांति के सिद्धांत आदि को खारिज कर दिया।

मार्क्सवादी विचारों को स्वीकार करने की जगह, फेबियनसमाजवादी रिकार्डो और मिल के विचारों के ज्यादा करीब थे। इनके अनुसार फेबियन समर्थकों ने रिकार्डो द्वारा दिए गए किराए के सिद्धांत का प्रयोग करके अपने भूमि की 'अनर्जित वृद्धि' के सिद्धांत का विकास किया था। इस संबंध में इन्होंने मिल द्वारा प्रस्तावित निजी सम्पत्ति खारिज करने के विचार का भी पालन किया और समुदाय द्वारा रचित मूल्यों की विचारधारा को आगे बढ़ाया।

टिप्पणी

फेबियन ने मार्क्स के विचारों का अन्य तरीकों से भी पालन किया। मार्क्स की तरह, फेबियन समर्थकों ने समाजवाद की व्याख्या का ऐतिहासिक और आर्थिक आधार स्थापित किया था लेकिन उनके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष मार्क्स से काफी अलग थे। जहां तक आर्थिक आधार का सवाल है, दरअसअल इसकी व्याख्या बर्नार्ड शॉ द्वारा की गई है और ऐतिहासिक व्याख्या सिडनी वेब द्वारा। लेकिन दोनों विचारकों की व्याख्या का तरीका और इस्तेमाल की गई विषय सामग्री, मार्क्स की सामग्री और उनके तरीके से बिल्कुल अलग है।

ऐतिहासिक व्याख्या

ऐतिहासिक और आर्थिक व्याख्या के इस्तेमाल द्वारा, मार्क्स ने पूंजीपति और श्रमिक वर्ग के बीच का संघर्ष परिभाषित किया और यह देखा कि उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग का शोषण करते हैं और अपने हितों की पूर्ति हेतु हर संभव तरीका इस्तेमाल करते हैं। अंत में वे इस नतीजे पर पहुंचे कि इस वर्ग संघर्ष के अंतिम परिणाम में जीत निम्न वर्ग की ही होगी। जीतने के बाद वे सर्वहारा की तानाशाही स्थापित करेंगे। जबकि दूसरी ओर, समान आर्थिक तरीका अपनाकर सिडनी वेब ने यह निष्कर्ष निकाला कि– "पिछले 100 वर्षों में जिस मुख्यधारा ने यूरोपीय समुदाय को समाजवाद की ओर धकेला है, वह लोकतंत्र की अनिवार्य प्रगति है"। वेब ने इतिहास से बहुत कुछ सीखा, जैसे कि समाज को केवल लोकतांत्रिक तरीकों से परिवर्तित किया जा सकता है। दूसरा, परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी गति में होनी चाहिए। तीसरा, ये बदलाव अनैतिक नहीं होने चाहिए बल्कि ये संवैधानिक और शांतिपूर्ण होने चाहिए। अंत में वेब का कहना था, पिछले सौ वर्षों में इंग्लैंड में प्रगति देखी गई है। यह प्रगति समाजवाद की स्थापना और औद्योगिक क्षेत्र में विशेष रूप से मजदूरों की स्थिति में सुधार लाने के लिए की गई। इस प्रकार, वेब के अनुसार धीरे–धीरे पूंजीवाद की जगह समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। लेकिन यहां एक बात की ओर ध्यान देना जरूरी है कि फेबियन समाजवाद, क्रांति के माध्यम से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का खात्मा नहीं करना चाहता था, बल्कि इसने सदा संवैधानिक सुधार और लोकतांत्रिक सरकार का रास्ता अपनाते हुए सुधार लाने का समर्थन किया है।

आर्थिक व्याख्या

फेबियन समाजवाद के साथ सिर्फ ऐतिहासिक व्याख्या ही नहीं जुड़ी बल्कि इसके विचार आर्थिक व्याख्या पर भी काफी निर्भर हैं। जहां तक आर्थिक आधार का संबंध है, फेबियन समर्थकों ने रिकार्डो के विचारों का पालन किया है, जबकि दूसरी ओर कुछ अवधारणाओं जैसे कि उद्योग का स्वामित्व, विधायी और कार्यकारी कार्यालयों में श्रम की शक्ति में वृद्धि, व्यापार संघों की वृद्धि और शैक्षिक आंदोलनों और सामाजिक चेतना के विकास ने भी फेबियन समाजवाद को आर्थिक आधार प्रदान किया।

मूल रूप से फेबियन समाजवाद में, ज्यादातर आर्थिक आधार "समुदाय द्वारा रचित मूल्यों" की अवधारणा में बसता है। इस संदर्भ में, रिकार्डो के किराए के सिद्धांत का विश्लेषण किया जाना चाहिए। रिकार्डो के विचारों का विश्लेषण करने के बाद, मिल ने भूमि के किराए को इस प्रकार परिभाषित किया– "लाभ का अतिरिक्त, खेती के दौरान सबसे खराब जमीन से मिले लाभ से अधिक"। वॉकर द्वारा इस प्रकार परिभाषा दी गई

है और उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि– "जमीन के टुकड़े का किराया, उसकी पशु उपज और सबसे कम उपजाऊ भूमि की उपज के बीच अंतर द्वारा निर्धारित किया जाता है, इसमें यह माना जाता है कि बतौर एक निर्माता एजेंट भूमि की गुणवत्ता को खेती से न कोई हानि होगी और न कोई नुकसान"।

टिप्पणी

इन विचारों के आधार पर, कुछ अनुमान लगाए जा सकते हैं– "पहला, भूमि की उपलब्धता सीमित है, इसका मतलब है कि यह मांग की तुलना में कम है। भूमि की बहुलता और सप्लाई अधिक और मांग कम होने की स्थिति में आर्थिक किराया नहीं लगाया जा सकता। दूसरा, कई बार पूरी जमीन उपयोगी नहीं होती, वह उपजाऊ नहीं होती, जमीन के उपजाऊ होने पर किराया ले लिया जाता है और न होने पर नहीं लिया जाता। तीसरा, समाज में लोगों का जीवन निजी स्वामित्व और मुक्त प्रतिस्पर्धा के सिद्धांत पर आधारित है। इन तीन परिस्थितियों में जमीन के किराए का प्रावधान लागू किया जा सकता है।

फेबियन समाजवाद द्वारा एक नई अवधारणा का आविष्कार किया गया था जिसका नाम था "अनर्जित वृद्धि"। अनर्जित वृद्धि को इस प्रकार समझा जा सकता है– अनर्जित वृद्धि को लोगों के कल्याण हेतु काम में लाया जाना चाहिए। फेबियनवादियों का यह सोचना था कि अनर्जित वृद्धि केवल जमीन तक सीमित नहीं बल्कि यह उद्योग में भी मौजूद है, उदाहरण के लिए यातायात, निर्माण और यहां तक कि बैंकिंग में भी, इन क्षेत्रों में भी इसके लाभ उतने ही विभिन्न हैं जितने ये कृषि के क्षेत्र में दिखाई देते हैं और इन लाभों, से अंतर लाभ उत्पन्न होते हैं। अधिक प्रतिष्ठित संस्थानों के ये अंतर फायदे, औद्योगिक किराए का निर्माण करते हैं। जैसे कि जमीन का किराया, यह लाभ योग्यता या क्षमता के कारण नहीं बल्कि सामाजिक परिस्थितियों से प्राप्त होते हैं। फेबियनवादियों के अनुसार, इस अनर्जित वृद्धि पर समाज का हक है इसलिए इसे सबके कल्याण हेतु खर्च किया जाना चाहिए। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि, समाजवाद का उद्देश्य है इस अनर्जित किराए या विभिन्न लाभ को समुदाय के हाथों में सौंपना ताकि इसका पूरे समाज के कल्याण में उपयोग किया जा सके।

किराए के सिद्धांत पर चर्चा करने के बाद, काफी हद तक यह स्पष्ट हो जाता है कि फेबियनवादी यह सिद्धांत यातायात, निर्माण आदि पर लागू करना चाहते थे। फेबियनवादियों का यह मानना था कि– "जमीन और पूंजी के मालिकों से समाज तक, विभिन्न लाभ हस्तांतरित करने का सबसे अच्छा तरीका है उत्पादन के भौतिक साधनों का समाजीकरण करना। यह समाजवाद भूमि की मुक्ति, निजी पूंजी के खात्मे और इसे निजी हाथों की बजाय समुदाय को सौंपने की भी बात करता है। यह समान अवसरों के भी हक में है।" फेबियन समाजवाद का लक्ष्य था सामाजिक विचारों का प्रसार, खासतौर पर आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक पहलुओं सहित पुरुषों और महिलाओं में समान नागरिकता स्थापित करने को लेकर व्यक्ति और समाज को तैयार करना।

समाजवाद की पद्धतियां और कार्ययोजनाएं

फेबियन संवैधानिक सुधारों और लोकतांत्रिक प्रशासन की प्रस्तावना द्वारा शांतिपूर्वक ढंग से अपने उद्देश्य प्राप्त करने में विश्वास रखते हैं। जमीनी, आर्थिक और औद्योगिक संस्थाओं का निजी स्वामित्व, शांतिपूर्वक ढंग से राज्य को सौंप दिया जाना चाहिए।

टिप्पणी

हैलोवेल के शब्दों में, फेबियन समाजवाद का लक्ष्य है– "सार्वजनिक लाभ के लिए, भूमि औद्योगिक पूंजी का व्यक्तिगत और वर्ग स्वामित्व खत्म करके उसे समुदाय को सौंप कर समाज का पुनः संगठन करना"। भूमि में कोई निजी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए और कोई किराया भी नहीं होना चाहिए। औद्योगिक पूंजी को सुविधाजनक ढंग से समाज को सौंप दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार के समाजवाद में समाज, स्थापित अपेक्षाओं के न्यायसंगत विचार सहित जमीनी निजी सम्पत्ति खत्म करने और घर एवं जमीन के प्रावधान, संवैधानिक तरीकों से समुदाय को उद्योग हस्तांतरित करने और निजी लाभ के बदले सार्वजनिक भलाई के लिए निर्माण, वितरण और सेवाओं के विनियमन हेतु काम करता है। प्रचार, भाषणों के आयोजन और पुस्तिकाएं बांटने के माध्यम द्वारा ये तरीके लागू किए गए थे। 1888–89 में, फेबियन समाज के सदस्यों द्वारा सात सौ से अधिक भाषण दिए गए थे। अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए बर्नार्ड शॉ, सिडनी वेब, विलियम क्लार्क, ग्राहम वालस और हर्बर्ट ब्लांड द्वारा फेबियन पर निबंध भी लिखे गए थे। फेबियन समाज और उसका खोज विभाग भी स्थापित किया गया। 'फेबियन एसेज' में सामाजिक विचारों के प्रसार के लिए अनेक नारे और लेख लिखे गए। फेबियन कभी भी प्रचुर संख्या में नहीं पाए गए। इसके केवल छत्तीस सौ सदस्य थे। बाद में, इसके अनेक सदस्य इस संगठन की सदस्यता छोड़कर संघ समाजवाद से जुड़ गए। बीट्राइस और सिडनी वेब का झुकाव भी रूसी प्रयोगों की तरफ बढ़ गया और इन्होंने एक विशाल साहित्यिक कार्य रचा जिसका नाम था– सोवियत कम्युनिजम ए न्यू सिविलाइजेशन। इसके बाद जी.डी. एच कोल ने 1942 में, फेबियनवाद को दोबारा बयान किया और देखा कि, "फेबियन समाज विचार और चर्चा के लिए व्यवस्थित है लेकिन चुनावी कार्यवाई के लिए नहीं, जो काम यह दूसरी संस्थाओं पर छोड़ देता है.... फेबियन समर्थकों को अपने द्वारा चुने गए लेखन और खोज के कार्यों में विशेषज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। लेकिन अब जब कोई भी यह व्यापक कार्य नहीं कर रहा (पार्टी के भीतर विशेषज्ञ प्रचार), तो फेबियन समर्थक पूरी पार्टी पर सम्पूर्ण रूप से अपना प्रभाव डालने में असमर्थ हैं। अगर कोई और यह काम नहीं करता तो फेबियन समर्थकों को स्वयं दूर दराज जाकर समाजवाद का प्रचार करना होगा"।

4.3.3 लेनिन और मार्क्सवाद

व्लादिमीर इलीच लेनिन (1870–1924), जो ज्यादातर विश्वभर में लेनिन के नाम से जाने जाते हैं, रूसी वामपंथी क्रांतिकारी थे। ये 1917 की अक्टूबर रूसी बोल्शेविक क्रांति के मुख्य नेता थे और अपने स्वतंत्र बौद्धिक जोश के साथ मार्क्सवादी तत्वज्ञान के उत्साही विशेषज्ञ थे। इन्हें आधुनिक रूसी राष्ट्र का स्थापक माना जाता है। बतौर एक राजनीतिक विचारक, जिसने न केवल मार्क्स की राजनीतिक सोच को परिवर्तित तथा समृद्ध किया बल्कि इसे रूसी परिस्थितियों में कार्यान्वित भी किया। ये एक महान नेता और 1917 की रूसी क्रांति के वास्तुकार थे। बतौर एक मार्क्सवादी राजनीतिक विचारक, इन्होंने केवल अपने विचार ही नहीं व्यक्त किए बल्कि मार्क्सवाद को बदल कर उसे, बर्नस्टाइन जैसे जर्मन सुधारकों द्वारा अभिव्यक्त की गई आलोचना से भी बचाया। इंपीरियलिज्म द हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म, नामक अपनी प्रसिद्ध किताब में

टिप्पणी

इन्होंने मार्क्स के विचारों के महत्व का विश्लेषण करने के अलावा, इस परिदृश्य के अंतर्गत कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद का आखिरी चरण है, उनमें संशोधन भी किया है। इस पर स्टैलिन का कहना है कि, "लेनिनवाद साम्राज्यवाद और श्रमिक वर्ग की क्रांति के दौर का मार्क्सवाद है।" इसके साथ, लेनिन द्वारा मार्क्सवाद में कुछ नए विचार भी जोड़े गए, जैसे कि लोकतांत्रिक केंद्रवाद का सिद्धांत, हरावल पार्टी और क्रांति एवं आत्म–निर्धारण का सिद्धांत।

लेनिन, रूसी क्रांति के साथ–साथ रूसी राष्ट्र के भी पिता माने जाते थे। सबसे पहले इन्होंने मार्क्स और एंगेल्स के विचारों का विस्तृत अध्ययन किया और रूस में क्रांतिकारी पार्टी का हिस्सा बने और वहां जार शासन के विरुद्ध संघर्ष की शुरुआत की। 1890 में वे क्रांतिकारी पार्टी का हिस्सा बने जिसके बाद उन्हें पहले विश्व युद्ध के दौरान जर्मनों द्वारा रूस वापस लाया गया। खैर, 1887 में, अपने भाई की फांसी के बाद वे राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय हुए और 1889 में मार्क्सवादी बने। वे बोल्शेविक पार्टी के संस्थापक थे और 1917 की अक्टूबर क्रांति इन्हीं के दिमाग की उपज थी। उस क्रांति के बाद इन्हें सोवियत संघ के प्रमुख नेताओं में पहचाना जाने लगा और 1924 में उनके मरने तक उनकी यह पहचान कायम रही।

दरअसल, लेनिन बीसवीं सदी के महान मार्क्सवादियों में से एक थे। इनके विद्वतापूर्ण कार्यों के जरिए, मार्क्सवाद के विकास के प्रति इनके मुख्य योगदान रेखांकित किए जा सकते हैं। 'इंपीरियलिज्म : द हाइएस्ट स्टेज ऑफ कैपिटलिज्म' के अलावा इन्होंने और दो प्रसिद्ध किताबें लिखीं– 'वॉट इज टू बी डन' और 'स्टेट एंड रेवोल्यूशन'। 'वॉट इज टू बी डन' में लेनिन ने 'हरावल' के सिद्धांत का परिचय दिया और श्रमिक वर्ग के दिशा निर्देशन हेतु इसके महत्व पर जोर दिया, जबकि 'स्टेट एंड रेवोल्यूशन' में इन्होंने स्पष्टतः साम्यवाद उपलब्ध करने के रास्ते का वर्णन किया है, खासकर अल्पविकसित देशों के लिए जैसा कि रूस 1917 में था।

लेनिन, रूढ़िवादी मार्क्सवाद के अनुयाई थे। हालांकि उन्होंने मार्क्सवाद के सम्पूर्ण विचार को नहीं अपनाया लेकिन अपने द्वारा स्वीकृत विचारों को उन्होंने परिवर्तित करके भिन्न परिस्थिति में फिर से बताया, लेकिन उन्होंने ऐसा इसलिए नहीं किया क्योंकि वे उसे ठीक करना चाहते थे, बल्कि बीसवीं सदी की परिस्थितियों ने उन्हें इसे पुनः परिभाषित करने के लिए मजबूर कर दिया और इन्होंने मार्क्सवाद को जमीनी स्तर की सच्चाई पर लागू किया। जैसा कि सैबीन द्वारा बताया गया है, इनका क्रांति का सिद्धांत संगठन, पार्टी और नेता– मार्क्सवाद के क्षेत्र के इनके मुख्य योगदान रहे हैं और इनके अन्य योगदानों को सैद्धांतिक नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप से मान्यता दी जा सकती है। इनके सभी योगदान इतने व्यापक थे कि मार्क्सवाद की पुर्नव्याख्या की सम्पूर्ण विचार प्रक्रिया लेनिनवाद के नाम से मशहूर हो गई। स्टैलिन ने लेनिनवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है– "साम्राज्यवाद और श्रमिक वर्ग क्रांति के दौर का मार्क्सवाद"।

जहां तक मार्क्स और लेनिन के विचारों का सवाल है, यहां इस बात का वर्णन उल्लेखनीय है कि लेनिन ने अपने सम्पूर्ण तत्वज्ञान का विकास मार्क्स के मौलिक नियमों को केंद्रित रख कर किया था। इसमें लेनिन का मूल विचार, मार्क्सवाद से काफी मिलता जुलता था, उदाहरण के लिए, लेनिन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की भौतिक व्याख्या तथा आर्थिक नियतिवाद की मार्क्सवादी धारणा पर विश्वास रखते थे। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि मार्क्स और एंगेल्स की तरह इन्होंने आदर्शवाद को अस्वीकार

टिप्पणी

किया और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का समर्थन किया, क्योंकि यह तरीका एक ऐसा वैज्ञानिक तरीका है जिसे संसार में कहीं भी लागू किया जा सकता है। लेनिन के अनुसार– सम्पूर्ण सामाजिक घटनाओं और विकास को इस तरीके की सहायता से समझा जा सकता है। दूसरा, मार्क्स की तरह, लेनिन भी आर्थिक नियतिवाद पर विश्वास रखते थे और इन्होंने सम्पूर्ण ऐतिहासिक विकास को भौतिक व्याख्या के आधार पर व्याख्यायित किया था। इतना ही नहीं, ये धर्म को भी एक व्यक्ति का निजी मामला मानते थे और इनके विचार से धर्म का समाज के विकास में कोई हाथ नहीं था। अंत में, इन्होंने वर्ग संघर्ष का समर्थन किया और वर्ग संघर्ष की जीत में अपना विश्वास भी व्यक्त किया।

लेकिन लेनिनवाद और मार्क्सवाद में कुछ अंतर हैं जिन्हें लेनिन द्वारा मार्क्सवाद की पुर्नव्याख्या कहा जा सकता है। यह पुर्नव्याख्या दो उद्देश्य पूरा करने का लक्ष्य रखती है, पहला, सुधारवादी समाजवादियों द्वारा व्यक्त आलोचना से मार्क्सवादी विचारधारा को बचाना और दूसरा, मार्क्सवादी विचारधारा को रूसी परिस्थितियों में लागू करना। और लेनिन द्वारा दोनों उद्देश्यों की पूर्ति की गई थी। सबसे पहले, आमतौर पर लेनिन को मार्क्सवाद का हिस्सा समझा जाता है लेकिन यहां एक बात पर ध्यान देना जरूरी है कि लेनिन का मुख्य उद्देश्य किसी प्रकार का तत्वज्ञान उत्पन्न करना नहीं था बल्कि वे रूस में श्रमिक वर्ग की क्रांति लाना चाहते थे ताकि जार शासन का तख्ता पलटा जा सके। वे ऐसे समाज में साम्यवाद लेकर आए जहां विकास अपने चरम पर नहीं पहुंचा था और अर्थव्यवस्था को पूरी तरह पूंजीकृत नहीं किया गया था, जैसा कि मार्क्स द्वारा देखे गए उस दौर के अन्य यूरोपीय देशों में किया गया था। इसलिए, लेनिन पूरी तरह से अलग परिस्थितियों में साम्यवाद लाए जो मार्क्स द्वारा प्रोजेक्ट नहीं की गई थीं। दूसरा, रूस में मार्क्सवाद लागू करते हुए, लेनिन रूढ़िवादी मार्क्सवादी विचारों से भटक गए और उसका भाव खो बैठे। तीसरा, लेनिनवाद की कई बार क्रांतिकारी मार्क्सवाद के पुनर्जीवन की तरह व्याख्या की जाती है, लेकिन इनमें अंतर यह है कि जहां मार्क्स समाज में बदलाव लाने के लिए क्रांतिकारी और विकासकारी पहलुओं की ओर देखते थे वहीं लेनिन ने केवल मार्क्सवाद के क्रांतिकारी पहलू पर जोर दिया। चौथा, श्रमिक वर्ग में चेतना उजागर करने के लिए, लेनिन ने बौद्धिक वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका का वर्णन किया है, जिसे उन्होंने 'हरावल पार्टी' का नाम दिया जबकि श्रमिक वर्ग में चेतना उत्पन्न करने हेतु, मार्क्स द्वारा किसी राजनीतिक पार्टी की भूमिका स्वीकार नहीं की गई। पांचवां, मार्क्स के विपरीत, लेनिन द्वारा विचारों की अनिवार्य भूमिका पर बलपूर्वक तरीके से जोर दिया गया है, दूसरे शब्दों में उन्होंने समाजवादी विचारधारा के महत्व की न केवल श्रमिक वर्ग में क्रांति लाने में व्याख्या की है बल्कि उनकी (सर्वहारा) तानाशाही स्थापित करने की भी बात की है।

माओ का साम्यवाद और नव लोकतंत्र

माओ ने अपनी प्रसिद्ध किताब न्यू डेमोक्रेसी में लोकतंत्र को एक अलग दृष्टिकोण के माध्यम द्वारा परिभाषित किया है। उन्हें साम्यवाद से पहले लोकतंत्र नजर आया। उनके अनुसार साम्यवादी क्रांति के बाद एक संक्रमणात्मक चरण आएगा जिसमें लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्थापना की जाएगी। हालांकि इस चरण में भी समाज को साम्यवादी ही समझा जाएगा और यह चीन की साम्यवादी पार्टी (सीपीसी) के अंतर्गत काम करेगा। केवल इतना ही नहीं, बल्कि समाजवाद के निर्माण में लोगों का योगदान भी सम्मिलित

टिप्पणी

था। इस प्रकार, माओ के विचार लोकतंत्र चीन की साम्यवादी प्रणाली में अंतर्निहित थे। माओ का यह भी कहना था कि इस प्रणाली में, पूंजीवाद की कुछ विशेषताएं भी शामिल होंगी जैसेकि मार्किट अर्थव्यवस्था। यहां माओ के शब्दों में विशिष्ट रूप से समाजवादी बाजार आधारित अर्थव्यवस्था की बात की जा रही है।

माओ का समाजवाद, मूलरूप से दो–स्तरीय सिद्धांत है, जिसमें पहला चरण है लोकतांत्रिक स्तर और दूसरा है सर्वहारा की तानाशाही। माओ ने मौलिक तौर पर सत्तावादी और लोकतांत्रिक प्रणालियों में अंतर करते हुए कहा था कि– "सत्तावादी (युद्ध की संस्कृति) उपाय, समाजवाद के विरोधियों के लिए उपयोगी होते हैं जबकि लोकतंत्र (शांति की संस्कृति) ज्यादातर लोगों के लिए उपयोगी होता है।" माओ स्वंय यह दावा करते थे कि–

लोगों की लोकतांत्रिक तानाशाही द्वारा दो तरीके इस्तेमाल किए जाते हैं। दुश्मन की ओर यह तानाशाही का प्रयोग करती है, यानी उतने समय तक जब तक इसकी आवश्यकता हो, जैसे कि जब तक लोगों को राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेने की अनुमति न दी जाए और उन्हें लोगों की सरकार के कानून मानने के लिए मजबूर किया जाए और उनसे जबरदस्ती मजदूरी करवाई जाए और उस मजदूरी के जरिए उनके व्यक्तित्व को नया रूप दिया जाए।

इसके विपरीत, दूसरी ओर, लोगों के प्रति यह मजबूरी नहीं बल्कि लोकतंत्र का तरीका इस्तेमाल करती है, इसे लोगों को राजनीतिक गतिविधियों में हिस्सा लेने के लिए प्रेरित करना चाहिए और उन्हें यहां–वहां की चीजें करने के लिए मजबूर नहीं करना चाहिए। बल्कि लोकतांत्रिक तरीकों के इस्तेमाल से लोगों को शिक्षित एवं सहमत करें। खैर, एक कदम और आगे बढ़ते हुए माओ ऐसा कहते हैं कि साम्यवाद आखिरी स्तर है।

माओवाद का आलोचनात्मक मूल्यांकन

माओ द्वारा प्रस्तुत किए गए विचारों की कई तरीकों से तथा स्तरों पर जांच की गई है– सबसे पहले, माओ द्वारा विरोधाभास का सिद्धांत विकसित किया गया जो, उनके अनुसार चिरकालिक और स्थाई था। जबकि, दूसरी ओर, उनका यह मानना था कि साम्यवाद क्रांति का मुख्य उद्देश्य था समाज में न्याय और शांति स्थापित करना। असल में यह असत्य सा विचार माओ के विचारों में काफी विसंगतियां उत्पन्न करता है।

दूसरी बात, जिस तरह का लोकतंत्र माओ स्थापित करना चाहते थे, वह असल में आजीवन आखिर उनकी तानाशाही ही बना रहा और उनके बाद वह चीन की एक साम्यवादी पार्टी (सीपीसी) की तानाशाही में परिवर्तित हो गया। तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि माओ का पूर्ण विचार बल, हिंसा और युद्ध पर आधारित था।

असल में तो माओ हिंसक क्रांति के समर्थक थे और उनका कहना था कि– "युद्ध राजनीति की निरंतरता है" और "राजनीतिक बल बंदूक की नली से निकलता है।"

4.3.4 भारतीय समाजवादी विचारक : राममनोहर लोहिया

राम मनोहर लोहिया का जन्म उत्तर प्रदेश के अंबेडकर नगर जिले के गांव अकबरपुर में हुआ था। उन पर अपने पिता हीरा लाल का प्रभाव था जिन्होंने उन्हें स्वतंत्रता संग्राम

टिप्पणी

में भाग लेने की प्रेरणा दी, जिनके साथ लोहिया ने अपने रचनात्मक वर्षों के दौरान विरोध की अनेकानेक सभाओं में भाग लिया। दस वर्ष की आयु में, लोहिया ने अपने ही तरीके से स्वतंत्रता संग्राम में योगदान दिया – लोकमान्य तिलक के निधन पर उन्होंने अपने स्कूल के सहपाठियों को लेकर एक हड़ताल का आयोजन और नेतृत्व किया।

सन् 1928 में, एक छात्र नेता के रूप में लोहिया ने साइमन आयोग के विरुद्ध एक विरोध का आयोजन किया, जिसे नागरिकों के मत पर विचार किये बिना भारत को अधिराज्य का दर्जा देने पर एक रिपोर्ट तैयार करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भेजा था। लोहिया ने जर्मनी के बर्लिन में अपनी पीएच. डी. की शिक्षा प्राप्त की। यूरोप में एक बार लोहिया ने जेनेवा में राष्ट्र संघ की सभा में भाग लिया, जिसमें भारत का प्रतिनिधित्व बीकानेर के महाराजा और ब्रिटिश राज के मित्र ने किया था। लोहिया ने इस पर आपत्ति की और दर्शक दीर्घा से तत्काल एक विरोध जताया। परिणामस्वरूप, लोहिया भारत में रातोरात लोकप्रिय हो गए। बर्लिन में उन्होंने यूरोपीय भारतीय संघ के गठन में सहायता की और इस मंच के मंत्री बन गए। इस संगठन का लक्ष्य विदेश में भारत की राष्ट्रीयता को बचाए रखने के साथ–साथ उसका विस्तार करना था।

डॉक्टर की उपाधि प्राप्त करने के बाद, लोहिया भारत वापस आए और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में शामिल हो गए। लोहिया का झुकाव समाजवाद की ओर था और सन् 1934 में कांग्रेस समाजवादी पार्टी के गठन में उन्होंने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। पार्टी की पत्रिका कांग्रेस सोशलिस्ट में उन्होंने एक समाजवादी भारत की संभावना पर जमकर लिखा। सन् 1936 में, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के लिए चुने जाने पर, उन्होंने पार्टी के विदेशी मामलों के समाप्तप्राय विभाग को पुनर्जीवित किया। नेहरू ने स्वयं लोहिया को इस विभाग का मंत्री बनाया। अपने दो वर्षों के कार्यकाल में, लोहिया ने भारत की विदेश नीति को ठोस बनाने में सहायता की।

दूसरे विश्व युद्ध में, लोहिया को भारत में ब्रिटिश शासन को गिराने का एक अवसर दिखाई दिया। उन्होंने देश भर का दौरा करते हुए नागिरिकों को सरकार की सभी संस्थाओं का बहिष्कार करने को प्रेरित किया। परिणामस्वरूप, 24 मई, 1939 को लोहिया को गिरफ्तार कर लिया गया। किंतु, ब्रिटिश शासकों को भय था कि उनकी गिरफ्तारी से युवाओं में आक्रोश उत्पन्न हो जाएगा, इसलिए उन्हें अगले ही दिन छोड़ दिया गया।

फिर लोहिया ने 1 जून, 1940 को गांधीजी के समाचारपत्र 'हरिजन' में 'सत्याग्रह नाउ' शीर्षक से एक आलेख लिखा। छह दिनों के बाद, उन्हें फिर गिरफ्तार कर दो वर्षों के लिए कारागार में डाल दिया गया। कारागार में, जेलरों ने लोहिया को घोर यातना दी और तंग किया। देश में, जहां स्वतंत्रता की मांग बढ़ रही थीं, शांति बनाने के लिए दिसंबर, 1941 में, लोहिया समेत कांग्रेस के सभी नेताओं को न चाहते हुए भी छोड़ दिया गया। सन् 1942 में, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने महात्मा गांधी के नेतृत्व में, भारत छोड़ो आंदोलन शुरू किया। राष्ट्रवादी आवाजों को दबाने के लिए के लिए गांधी, सरदार वल्लभभाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू और मौलाना आज़ाद समेत जानेमाने नेताओं को सलाखों के पीछे डाल दिया गया। स्वतंत्रता के प्रति देश के संघर्ष का मार्गदर्शन और नेतृत्व करने का दायित्व समाजवादी कार्यकर्ताओं के कंधों पर आ गया, जिनमें लोहिया जैसे वरिष्ठ नेता शामिल थे। गिरफ्तारी से बचने के लिए वह भूमिगत

हो गए और वहां से लोगों की 'करो या मरो' की भावना को जाग्रत करने हेतु पोस्टरों और दस्तावेजों का प्रकाशन किया।

टिप्पणी

लोगों को क्रांति के लिए प्रेरित करने हेतु लोहिया ने स्वतंत्रता सेनानी उषा मेहता के साथ मिलकर बंबई (मुंबई) से कांग्रेस रेडियो नामक एक गुप्त रेडियो स्टेशन का संचालन शुरू किया। उन्होंने कांग्रेस की एक मासिक पत्रिका इन्कलाब का संपादन भी किया।

भारत की स्वतंत्रता ज्यों–ज्यों समीप आने लगी, त्यों–त्यों हिंदुओं और मुसलमानों के बीच विरोध और संघर्ष बढ़ने लगा। लोहिया ने विभाजन का घोर विरोध किया और इसके विरुद्ध व्यापक स्तर पर कलम चलाई। दंगाग्रस्त क्षेत्रों में उन्होंने दो समुदायों से एका बनाए रखने और विभाजनकारी ताकतों की उपेक्षा करने के साथ–साथ गांधी के अहिंसा के सिद्धांतों का अनुसरण करने का आह्वान किया। 15 अगस्त, 1947 को, जब राजनीतिक नेतागण देश की बागडोर संभालने के लिए दिल्ली आए, तब लोहिया गांधी के साथ थे, जो विभाजन के कारण हुए खून–खराबे को लेकर शोकाकुल थे।

गोवा और नेपाल

सन् 1946 में, ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा जेल से छोड़े जाने के तत्काल बाद, लोहिया आराम के लिए गोवा गए। उनके कैथॉलिक विरोधी साम्यवादी मित्र पुर्तगाली विरोधी पुस्तक 'कॉण्ट्रा रोमा ए अलेम डे बनारस' (एगेंस्ट रोम एंड रिटर्निंग टु बनारस) के लेखक जूलियो मेनेजिस भी उनके साथ थे। आगे चलकर मेनेजिस ने इस बात का खुलासा किया कि राज्य में, जो पुर्तगाल के अधीन था, शांति भंग करने और क्रांति को बढ़ावा देने के लिए उन्होंने लोहिया को आमंत्रित किया था। उधर, नेहरू ने सार्वजनिक रूप से घोषणा कर दी थी कि गोवा एक विदेशी क्षेत्र है और उसके आंतरिक मामलों में भारतीय राजनीतिज्ञ हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

इस प्रकार, जहां तक कांग्रेस के नेतृत्व का प्रश्न था, एक पर्यटक और स्पष्टतः एक बाहरी व्यक्ति होते हुए भी, लोहिया ने संघर्ष को हवा दी और गोवा में सत्याग्रह के बीज बोए। उन्होंने स्थानीय राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया, गोवा कम्युनिस्ट पार्टी के लघु आंदोलन और विद्रोह को प्रोत्साहित किया।

अपने प्रति बढ़ते समर्थन को देखते हुए, 28 सितंबर, 1946 को लोहिया ने गोवा में पुनः प्रवेश करने का प्रयास किया, किंतु कोलेम रेलवे स्टेशन पर उन्हें गिरफ्तार कर कालकोठरी में डाल दिया गया। अगले पांच वर्ष तक के लिए उनके गोवा जाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। गांधी और नेहरू की सलाह पर लोहिया ने तीसरी बार गोवा जाने का विचार छोड़ दिया।

नेपाल को भारत के क्षेत्र में शामिल कर राजतंत्र के शिकंजे से मुक्त कराने के ध्येय से लोहिया ने इस देश के अपने समाजवादी और साम्यवादी मित्रों के समर्थन से एक संघर्ष शुरू किया। किंतु, उनके प्रयासों को विरोधियों ने विफल कर दिया। कोइराला कुल ने उनका समर्थन किया, पर नेपाल के नागरिक भारत के साथ विलय नहीं चाहते थे।

लोहिया समाजवाद से केवल प्रभावित ही नहीं थे, बल्कि उन्होंने इसे अपने जीवन में भी उतार लिया था। वह भारत की राजभाषा के रूप में हिंदी के उपयोग के प्रबल

टिप्पणी

समर्थक थे। लोहिया का मानना था कि अंग्रेजी के उपयोग से लोगों के विचार खुलकर सामने नहीं आ पाते हैं, 'यह हीन भावनाओं का जनक है और शिक्षित व शिक्षा वंचित लोगों के बीच खाई को और गहरा करती है।' लोगों का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा : 'आईए, हम हिंदी को उसकी मूल गरिमा वापस दिलाने के लिए एकजुट हों।' वह एक देश की आर्थिक क्षमता के महत्व को भी समझते थे और उन्होंने लोगों को स्वतंत्रता के बाद के पुनर्निर्माण कार्यों में भाग लेने की प्रेरणा दी। लोहिया ने लोगों से स्वेच्छापूर्वक अपने आसपास नहरों, कुओं और सड़कों का निर्माण करने की अपील की। उन्होंने स्वेच्छा से पनियारी नदी पर एक बांध बनाया, जो आज भी मजबूती से खड़ा है और 'लोहियासागर बांध' के रूप में जाना जाता है। लोहिया कहते थे : 'रचनात्मक कार्य के बिना सत्याग्रह एक क्रियाहीन वाक्य की तरह है।' वह महसूस करते थे कि लोक निर्माण कार्य से समाज में एकजुटता और जागरूकता की भावना आ सकती है। लोहिया मानते थे कि एक लोकतंत्र के रूप में, संसद का यह दायित्व है कि वह उन नागरिकों की आवाज सुने, जिन्होंने सांसदों को चुना। इस प्रकार, उन्होंने 'जनवाणी दिवस' नामक एक दिवस शुरू करने में सहायता की, जिस दिन समस्त देश के लोग संसद सदस्यों के समक्ष एकत्र होकर अपनी शिकायतें व्यक्त कर सकते थे। परंपरा अभी भी बनी हुई है।

वर्ष 1963 में, जब लोहिया पहली बार संसद पहुंचे। उन्होंने प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू की दैनिक गतिविधियों पर खर्च की जाने वाली राशि पर '25000 रुपीज ए डे' शीर्षक से एक पुस्तिका लिखी। लोहिया मानते थे कि जिस देश की बहुसंख्यक आबादी दिन में 3 आने (एक रुपये की एक–चौथाई से भी कम) पर गुजारा करती हो, उसके किसी नेता पर खर्च की जाने वाली यह राशि बेहिसाब है। लोहिया ने इसे एक गंभीर मुद्दा बताया, एक ऐसा मुद्दा जिस पर संसद में विशेष बहस की जानी चाहिए। यह विवाद आज भी 'तीन आना पंद्रह आना' विवाद के रूप में प्रचलित है।

लोहिया के अनुसार जहां जाति व्यवस्था प्रचलित है, वहां अवसर और क्षमता लोगों के सदा सिकुड़ते–सिमटते दायरों तक सीमित रह जाती है। लोहिया ने अपनी ही पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी में निम्न जाति के उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने के लिए टिकट देकर और पार्टी के वरिष्ठ पदों पर नियुक्त कर उन्हें प्रोत्साहित किया। ऐसा करते हुए लोहिया यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि उनकी पार्टी के उम्मीदवार चाहे जिस किसी भी जाति के हों, लोग उन्हें स्वीकार करें और वोट दें।

पूँजीवाद और मार्क्सवाद पर लोहिया के विचार

आरंभ में लोहिया मानते थे कि जहाँ तक औद्योगीकरण पर मार्क्सवाद और पूँजीवाद के विचारों का संबंध है, दोनों समान हैं। उनका कहना था कि उद्योग तीसरी दुनिया के लिए कोई समाधान नहीं है। वस्तुतः, वर्ष 1951 में, लोहिया ने अमेरिका के लोगों को चेतावनी दी थी कि बड़े उद्योग जल्द ही उनके जीवन पर हावी हो जाएँगे। मार्क्सवाद को उन्होंने 'एशिया के विरुद्ध अंतिम अस्त्र' बताया और मार्क्सवाद व पूँजीवाद दोनों को नकारते हुए 'समान अप्रासंगिकता के सिद्धांत' का प्रतिपादन किया। पूँजीवाद को वह 'भूमध्य रेखा के उत्तर 40 अंश के ऊपर रह रहे लोगों' के सिद्धांत के रूप में देखते थे। लोहिया चाहते थे कि एक उपयुक्त तकनीकी की खोज हो, जिससे लोगों को श्रम कम करना पड़े और मशीनों पर निर्भर भी न करना पड़े। वह पूँजीवाद को 'व्यक्ति मुक्त

उद्यम, वृहत् उत्पादन और शांति आधारित शक्ति संतुलन' का सिद्धांत मानते थे। लोहिया पूँजीवाद को अस्वीकार करते हैं और मानते हैं कि यह केवल गरीबी और युद्ध को प्रोत्साहित करता है।

टिप्पणी

लोहिया का मानना है कि पूंजीवाद देश की स्वतंत्रता को धूल में मिला सकता है। वह साम्यवाद को भी पूँजीवाद का हिस्सा ही मानते हैं और कहते हैं कि 'यह केवल पूँजीवाद से उत्पादन के संबंधों को नष्ट भर करता प्रतीत होता है।' वह मानते हैं कि पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों 'एक ही सभ्यता का हिस्सा हैं, क्योंकि दोनों अर्थव्यवस्था में विज्ञान के सतत उपयोग और जीवन के बढ़ते स्तर से प्रेरित हैं।'

क्रांतिकारी चिंतक

लोहिया जनता के कल्याण को लेकर सतत चिंतित रहते थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान अपने क्रांतिकारी कार्यों के अतिरिक्त, लोहिया अमीर और गरीब के बीच की खाई को पाटने और जाति तथा असंगत उद्योग का उन्मूलन करने के साथ–साथ स्त्री–पुरुष समानता को बढ़ावा देने, रंग आधारित भेदभाव को दूर करने और व्यक्तिगत निजता का बचाव करने का समर्थन करते थे। लोहिया मिलकर कार्य करने में विश्वास रखते थे। उनका मानना था कि यदि कोई सरकार सत्ता का दुरुपयोग करे तो उसे उसका कार्यकाल पूरा होने से पहले ही उखाड़ फेंकना चाहिए। लोहिया जो कहते थे वही करते भी थे। नेहरू सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाने वाले वह पहले सांसद थे, जो उस समय तक 16 वर्षों से सत्ता में थी।

लोहिया को आम तौर पर स्वच्छंद समाजवादी के रूप में जाना जाता है। अपनी बातों और कार्यों से वह अकसर अपने समर्थकों व विरोधियों को चकित कर दिया करते थे। वर्ष 1962 में भारत–चीन युद्ध के बाद सरकार से बम बनाने का आह्वान कर उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को चकित कर दिया था।

लोहिया का अंग्रेजी विरोधी दृष्टिकोण

लोहिया निजी स्कूलों को बंद कर बेहतर नगरपालिका (सरकारी) स्कूलों की स्थापना के पक्षधर थे, जहाँ सभी जातियों के छात्र पढ़ सकें। वह इस पद्धति को जाति प्रथा के उन्मूलन का एक साधन मानते थे।

समाजवादी पार्टी के वार्षिक सम्मेलन में, लोहिया ने सरकार की सत्ता का विकेंद्रीकरण करने और लोगों को अधिक से अधिक शक्तियाँ सौंपने की एक योजना प्रस्तुत की। किसानों की समस्याओं को सुनने के ध्येय से उन्होंने हिंद किसान पंचायत का गठन भी किया।

एक समाजवादी के रूप में, लोहिया समस्त विश्व के समाजवादियों को एकजुट करना चाहते थे, ताकि एक शक्तिशाली वैश्विक मंच तैयार किया जा सके। 12 अक्तूबर, 1967 को दिल्ली में उनका देहावसान हो गया, और उनके पीछे उनकी न तो कोई संपत्ति थी और न ही किसी बैंक में कोई राशि।

लोहिया की सप्तक्रांति की अवधारणा

स्वतंत्रता और समानता को इतिहास की विकासशील प्रक्रिया के आधारभूत मूल्य मानते हुए राम मनोहर लोहिया तर्क देते हैं कि इन मूल्यों की व्यावहारिक प्रतिष्ठा इतिहास की

टिप्पणी

किसी अंधी प्रक्रिया द्वारा नहीं बल्कि मानवीय इच्छा के माध्यम अर्थात इन मूल्यों के लिए निरंतर प्रयत्नरत होने से ही हो सकती है। राम मनोहर लोहिया अपनी 'सप्तक्रांति' की अवधारणा में अन्याय या हिंसा के उन रूपों की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं जो विषमता या गैर–बराबरी को बढ़ावा देते हैं और इस तरह प्रकारांतर से स्वतंत्रता को भी बाधित करते या उसे औपचारिक मात्र बना देते हैं। किन्तु वे इस अन्याय से निवारण हेतु मार्क्स की तरह किसी हिंसक क्रांति अथवा वर्ग संघर्ष का आह्वान नहीं करते बल्कि एक त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तावित करते हैं– वोट (लोकतान्त्रिक उपाय), फावड़ा (रचनात्मक कार्य) और जेल (सिविल नाफरमानी अर्थात सत्याग्रह)।

लोहिया के अनुसार अन्याय कई प्रकार का होता है, और एक ऐसी क्रांति की आवश्यकता है जो कि अन्याय के इन सभी रूपों को समग्र रूप से समाप्त कर सके। अन्याय के प्रकारों के जिक्र में वह गरीबी और अमीरी के फर्क से जो अन्याय निकलते हैं उनको व्याख्यायित करते हुए बताते हैं कि पुराने जमाने की लड़ाई से अब की बार की लड़ाई में भिन्नता यह है कि बराबरी की भावना बहुत जोरों के साथ आई है। इसी तरह वह आर्थिक मामलों में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय गैर–बराबरी की व्याख्या करते हुए बताते हैं इस आर्थिक असमानता की वजह से दोनों देशों के नागरिकों में दिमागी फर्क भी आ जाता है और, साथ ही, दाम की गैर–बराबरी तथा अधिकारों की गैर–बराबरी प्रभुत्वशाली देश और जो देश कमजोर हैं, उनमें पाते हैं। इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए अंतर्राष्ट्रीय श्रम–विभाजन के सिद्धांत की आलोचना करते हुए डॉ. लोहिया ने सिद्ध किया कि संसार के लिए अंतर्राष्ट्रीय व्यापार तभी लाभदायक होता है, जबकि सभी देशों में संपूर्ण रोजगारी हो और कोई भी बेरोजगार न हो। इसी के साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि आज संसार में जितना भी व्यापार हो रहा है, उसमें जबर्दस्त लूट है क्योंकि चाहे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की राशि बराबर हो, लेकिन वास्तव में एक घंटे की मेहनत का विनिमय 10 घंटे की मेहनत से होता है और मेहनत भी ज्यादा होती है। इसी तरह उन्होंने रंग अथवा नस्ल और जाति के आधार पर व्याप्त असमानता की ओर भी ध्यान आकर्षित किया और सभी अन्यायग्रस्त वर्गों को विशेष अवसर एवं सुविधाएं मुहैया करवाने की भी मांग की। लोहिया यह भी रेखांकित करते हैं कि राज्य या समाज द्वारा निजी जीवन में अधिकाधिक बढ़ता जा रहा दखल भी एक प्रकार का अन्याय है, जिसके खिलाफ हो रहे संघर्ष को और बढ़ाया जाना चाहिए।

इस प्रकार डॉ. लोहिया द्वारा प्रस्तावित सप्तक्रांति के जो रूप बनते हैं वे हैं–

(1) नर–नारी समता के लिए;

(2) त्वचा के रंग के आधार पर सभी तरह की विषमताओं के खिलाफ;

(3) जातियों में गैर–बराबरी के खिलाफ;

(4) विदेशी दासता के विरुद्ध एवं लोकतांत्रिक तरीके से विश्व–सरकार की स्थापना के लिए;

(5) आर्थिक समता एवं नियोजित उत्पादन के लिए;

(6) शस्त्रों के विरुद्ध सत्याग्रह के लिए; और

(7) निजी जीवन में अन्यायपूर्ण हस्तक्षेप के विरुद्ध एवं लोकतांत्रिक उपायों के लिए।

4.3.5 पं. दीनदयाल उपाध्याय

टिप्पणी

पंडित दीनदयाल उपाध्याय का जन्म 25 सितंबर को हुआ था। वह एक जाने–माने दार्शनिक, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, इतिहासकार, पत्रकार और राजनीति विज्ञानी थे। उन्होंने आज की भारतीय जनता पार्टी के पूर्व रूप भारतीय जनसंघ का नेतृत्व किया। वह अभिन्न मानववाद सिद्धांत के सूत्रधार भी हैं। उनकी सोच विशिष्ट है और उनका सिद्धांत राजनीति व शासन के लिए एक वैकल्पिक ढाँचे के रूप में कार्य करता है। उनका जन्म उत्तर प्रदेश के एक छोटे से गाँव चंद्रभान में हुआ था। यह मथुरा शहर से लगभग 25 किलोमीटर दूर है। चंद्रभान का नाम बदल कर अब दीनदयाल धाम कर दिया गया है। उनके पिता भगवती प्रसाद अपने समय के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे और श्रीमती रामप्यारी उनकी माता थीं और वह भी एक धर्मपरायण महिला थीं। किंतु, दीनदयाल की बाल्यावस्था में ही उनके माता–पिता दोनों का स्वर्गवास हो गया और उनका लालन–पालन उनके मामा तथा उनकी पत्नी ने किया। वह एक विशिष्ट छात्र थे और सीकर स्थित अपने स्कूल में मैट्रिक्युलेशन की परीक्षा के अपने बैच में प्रथम रहे थे। सीकर के महाराजा कल्याण सिंह ने इसके लिए उन्हें 10 रुपये की मासिक छात्रवृत्ति तथा किताबों के लिए अलग से 250 रुपये की राशि के अतिरिक्त एक स्वर्ण पदक प्रदान किया। इंटरमीडिएट की शिक्षा उन्होंने पिलानी स्थित बिरला कॉलेज से प्राप्त की, जो आज बिरला प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान संस्थान के रूप में प्रसिद्ध है। सन् 1939 में, कानपुर के सनातन धर्म कॉलेज से उन्होंने अपनी स्नातक की शिक्षा प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। वह अपनी शिक्षा जारी रखना और अंग्रेजी साहित्य में स्नातकोत्तर की डिग्री प्राप्त करना चाहते थे और इस ध्येय से उन्होंने आगरा के सेंट जॉन कॉलेज में दाखिला लिया। किंतु, उनके ममेरे भाई के गंभीर रूप से बीमार हो जाने के कारण वह प्रथम वर्ष की अंतिम परीक्षा नहीं दे सके। बाद में, अपने मामा की सलाह पर उन्होंने प्रांतीय सेवा परीक्षा में भाग लिया। वह उत्तीर्ण रहे किंतु उन्होंने सेवा में जाने से मना कर दिया क्योंकि वह जन साधारण के साथ मिलकर कार्य करना चाहते थे। इस हेतु, उन्होंने बी. टी. की डिग्री प्राप्त की और लोक सेवा में प्रवेश किया।

जब वह कानपुर के सनातन कॉलेज में पढ़ रहे थे, तब उनके एक सहपाठी थे बालूजी महाशब्दे, जिनसे उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की जानकारी मिली और अंततः वह इसके संस्थापक के. बी. हेडगेवार से मिले। शाखा में, जहाँ उनकी भेंट हेडगेवार से हुई, वह उसके नेता से बौद्धिक चर्चा किया करते जिसके फलस्वरूप उनके आसपास का प्रत्येक व्यक्ति उनके प्रभाव में आ जाता था। फलतः, गणमान्य व्यक्ति के रूप में उनकी ख्याति बहुत बढ़ गई और आरएसएस ने उनकी लोक सेवा की आकांक्षा पूरी करने के लिए एक माध्यम उपलब्ध कराया। और सन् 1942 में नागपुर में आयोजित एक 40 दिवसीय शिविर में प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने के बाद से वह आरएसएस के एक पूर्ण–कालिक स्थायी सदस्य बन गए। वह वहीं नहीं रुके, बल्कि उन्होंने आरएसएस का एक द्वितीय वर्षीय प्रशिक्षण भी प्राप्त किया, और इस प्रकार आरएसएस के एक आजीवन प्रचारक बने। उन्होंने लखीमपुर में एक प्रचारक के रूप में कार्य करना शुरू किया और आगे चल कर सन् 1955 में उत्तर प्रदेश के संयुक्त प्रांत प्रचारक बने।

सन् 1940 के दशक में, लखनऊ से उन्होंने एक मासिक पत्रिका 'राष्ट्र धर्म' का प्रकाशन शुरू किया, जिसका लक्ष्य राष्ट्रवाद की विचारधारा का प्रसार करना था। इस

टिप्पणी

पत्रिका के प्रधान संपादक के रूप में उन्होंने अपना नाम कभी नहीं आने दिया किंतु प्रत्येक अंक में उनका लिखा एक दीर्घ, गंभीर और विचारोत्तेजक लेख होता था, जो उनके पाठकों के मन पर एक अमिट छाप छोड़ जाता था। आगे चल कर, उन्होंने एक साप्ताहिक पत्रिका 'पांचजन्य' और एक दैनिक पत्र 'स्वदेश' का प्रकाशन भी शुरू किया।

सन् 1951 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी द्वारा भारतीय जन संघ की स्थापना के बाद, आरएसएस के नेताओं को लगा कि दीनदयाल जन संघ के आरएसएस में सहज विलय के लिए तैयार हैं। उन्हें इसकी उत्तर प्रदेश शाखा का महामंत्री तथा आगे चलकर अखिल भारतीय महा मंत्री बनाया गया। कार्य के प्रति उनके मनोयोग और कौशल से श्यामा प्रसाद मुखर्जी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा :

'यदि मेरे पास दो दीनदयाल होते, तो मैं भारत का राजनीतिक चेहरा बदल सकता था।'

वर्ष 1953 में जब मुखर्जी का अकस्मात स्वर्गवास हो गया, तब दीनदयाल को इस अनाथ संगठन के गठन करने और इसे एक देशव्यापी आंदोलन का रूप देने का समस्त दायित्व अपने कंधे पर लेना पड़ा। अगले डेढ़ दशकों तक वह संगठन के महामंत्री रहे और उन्होंने अपने ही ढंग से धीरे–धीरे किंतु दृढ़तापूर्वक संगठन को मजबूत किया। उन्होंने समर्पित, युवा, निष्ठावान कार्यकर्ताओं की एक टोली बनाई और उनमें उस आदर्श को आरोपित कर दिया जिसे वह स्वयं महसूस करते थे और इन युवा कार्यकर्ताओं ने अंततः संगठन आधार तैयार किया। किंतु, जब वह लोक सभा के लिए उत्तर प्रदेश से मैदान में उतरे, तो उन्हें विजय नहीं मिल सकी।

उपाध्याय उस राजनीतिक दर्शन के प्रतिपादक थे, जो अभिन्न मानववाद के रूप में जाना जाता है। यह दर्शन शरीर, मन और बुद्धि तथा आत्मा की समक्रमित व सम्मिलित उन्नति की अनुशंसा करता है। उपाध्याय के अनुसार, भारत में एक ऐसे विशिष्ट आर्थिक मॉडेल पर ध्यान दिया जाना चाहिए जो मानव जाति को केंद्र में रखे।

यह सिद्धांत पश्चिम के पूँजीवादी व्यष्टिवाद और मार्क्सवादी समाजवाद के विपरीत है। किंतु, यह पश्चिमी विज्ञान के औचित्य को मान्यता देता है। यह वस्तुतः पूँजीवाद और समाजवाद के गुणों को मान्यता देते तथा दोनों के अतिरेकों की आलोचना करते हुए उनमें बीच का एक मार्ग निकालने की अवधारणा देता है।

मानव जाति के चार उद्देश्य

उपाध्याय के अनुसार, मानव जाति के वंशानुक्रमिक ढंग से चार संगठित पक्ष हैं – शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा – जो हमारे सार्वजनीन उद्देश्यों के अनुरूप हैं, काम (इच्छा अथवा संतुष्टि), अर्थ (संपत्ति), धर्म (नैतिक कर्तव्य) और मोक्ष (संपूर्ण मुक्ति अथवा 'मोक्ष')। इनमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता, न ही उसकी अनदेखी की जा सकती है, फिर भी धर्म प्रत्येक के लिए सर्वाधिक प्रमुख है और अंतिम उद्देश्य मोक्ष है। वह मानते थे कि सामाजिक और पूँजीवादी विचारधाराएँ केवल शरीर और मन की आवश्यकताओं पर केंद्रित हैं और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की अनदेखी करती हैं, इस तरह अपूर्ण हैं। ये सिद्धांत केवल मनुष्य की संपत्ति और भौतिक सुख–सुविधाओं की कामना पर आधारित हैं।

व्यक्तिवाद (व्यष्टिवाद) का अस्वीकरण

टिप्पणी

उपाध्याय उन सामाजिक प्रथाओं के घोर विरोधी थे, जिनमें व्यक्तिवाद को 'शीर्ष स्थान' दिया जाता है। वह साम्यवाद में भी विश्वास नहीं रखते थे, जिसमें व्यक्तिवाद की एक 'विशाल हृदयहीन यंत्र' के रूप में भर्त्सना की जाती है। उपाध्याय के अनुसार, समाज लोगों के बीच सामाजिक समझौते के परिणाम की बजाय एक संपूर्ण, प्राकृतिक जीवंत प्राणी है, जिसकी एक निरपेक्ष 'राष्ट्रीय आत्मा' अथवा चरित्र है और इसकी सामाजिक प्राणी की आवश्यकताएँ व्यक्तिगत (व्यष्टिगत) आवश्यकताओं के समान हैं।

दीनदयाल उपाध्याय स्वतंत्र भारत के भारतीयों से पश्चिमी अवधारणाओं जैसे व्यक्तिवाद (व्यष्टिवाद), लोकतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद आदि के प्रपंच में न आने की अपील करते थे। किंतु, उन्हें भय था कि स्वतंत्र भारत का राजनीतिक आधार प्राचीन भारतीय परंपरा में मौजूद शाश्वत अवधारणाओं से नहीं बल्कि इन सतही अवधारणाओं से ग्रस्त है। उनके अनुसार, भारत की मूल विचार प्रक्रिया को पश्चिमी सिद्धांत और विचारधाराएँ संदूषित कर रही थीं और इस प्रकार भारत की असली प्रगति का मार्गदर्शन कर रही थीं। उनका मानना था कि लोगों के उत्थान के लिए स्वच्छ ऊर्जा और उत्साह दोनों का मेल आवश्यक है। उनके विचार आधुनिक थे और वह प्रौद्योगिकी में प्रगतियों के मूल्य को समझते थे, किंतु वह नहीं चाहते थे कि भारत के लोग आँख मूँदकर अनुकरण करें। अधिकांश विषयों के प्रति दीनदयाल की सोच अत्यधिक रचनात्मक थी। इसलिए, वह अपने अनुयायियों से अपील करते थे कि यदि उन्हें लगे कि कहीं कोई त्रुटि है, तो वे सरकार के विरुद्ध आवाज उठाएँ और यदि उसके कार्य अच्छे हों तो उसका हृदय से समर्थन करें। स्वराज में उनका दृढ़ विश्वास था, सबसे पहले वह राष्ट्रवादी थे। वर्ष 1968 में 11 फरवरी को वह मुग़ल सराय रेलवे यार्ड में संदिग्ध अवस्था में मृत पाये गए। कालीकट सत्र में उनके संबोधन ने सभा में उपस्थित हजारों प्रतिनिधियों को प्रेरित किया। यहाँ इस संबोधन का एक अंश प्रस्तुत है :

'हम किसी समुदाय अथवा वर्ग की सेवा के प्रति नहीं बल्कि समस्त राष्ट्र की सेवा के प्रति वचनबद्ध हैं। प्रत्येक देशवासी हमारे रक्त का रक्त और मांस का मांस है। हम तब तक चैन से नहीं बैठेंगे जब तक उनमें से प्रत्येक के मन में इस गौरव की भावना का संचार न कर दें कि वह भारतमाता की संतान है। हम इन शब्दों के वास्तविक अर्थ में भारत माता को सुजला, सुफला (जल और फल से आप्यायित) बनाएंगे। दशप्रहारण धारिणी दुर्गा (अपने हाथों में दस अस्त्र धारण किए दुर्गा) की तरह वह दुष्ट का दलन करने; लक्ष्मी की तरह चहुँ ओर समृद्धि की वर्षा करने और सरस्वती की तरह चारों दिशाओं में अज्ञान के अंधकार को मिटाने तथा ज्ञान के प्रकाश का संचार करने में सफल होगी। अंतिम विजय में विश्वास रखते हुए, आइए हम स्वयं को इस कार्य के प्रति समर्पित करें।

4.3.6 जयप्रकाश नारायण

आधुनिक भारत के अग्रणी समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण का जन्म बिहार के एक मध्यवर्गीय परिवार में 1902 में हुआ था। परंपरागत राज्यभक्त कायस्थ परिवार के बाबू हरसूदयाल तथा फूल राम की वह चौथी संतान थे। उनकी शिक्षा भारत तथा अमेरिका में सम्पन्न हुई। उनकी प्राथमिक शिक्षा गांव के स्कूल में हुई तथा मैट्रिकुलेशन तक की शिक्षा

टिप्पणी

उन्होंने पटना में ग्रहण की। कुशाग्र बुद्धि के कारण उनका विद्यार्थी स्तर मध्यम श्रेणी से ऊपर का माना गया। सरस्वती भवन से अपने संबंध के कारण स्कूल काल से ही वह राष्ट्रीय गतिविधियों से जुड़ गये थे। इसके अतिरिक्त 18 वर्ष की आयु में प्रभा से विवाह हो जाने के उपरांत वह राष्ट्रीय नेताओं के और निकट आ गये क्योंकि उनके ससुर बाबू बृजकिशोर स्वयं पटना के एक सुप्रतिष्ठित नेता थे। राष्ट्रीय नेताओं के सम्पर्क में आने के पश्चात उन्हें राष्ट्रीय समस्याओं से परिचित होने का अवसर मिला। अपनी इंटर परीक्षा को बीच में छोड़कर वह 1921 में गांधीजी के असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हो गए। बी.जी. तिलक, जिन्होंने उन्हें निर्भीक होकर कार्य करने की प्रेरणा दी, के प्रति भी वह आकृष्ट हुए। सरकार द्वारा संचालित स्कूलों में अरुचि होने के कारण वह विदेश चले गए। विद्यार्थी काल में ही उन्होंने उत्कट राष्ट्रवाद से अपने को आप्लावित कर लिया। क्रांति के प्रति उनकी प्रबल प्रवृत्ति थी। अमेरिका में वह 1922 से 1929 तक एक विद्यार्थी रहे। वह कैलिफोर्निया, शिकागो, विस्कॉन्सिन तथा ओहियो विश्वविद्यालय में पढ़े। पूर्वी यूरोप के बुद्धिजीवियों के सम्पर्क में आए तथा आश्चर्य की बात है कि वह मार्क्सवादी बन गए। उनके अपने शब्दों में, ''यह मेडिसन विस्कॉन्सिन ही था जो ला फॉलेट प्रोग्रेसिविज्म का घर है, जहां यहूदी और यूरोप में उत्पन्न सहपाठियों के साथ बैठकर मैंने मार्क्सवादी प्याले से उसकी विचारधारा का भरपेट आस्वादन किया।'' एम. एन. राय की तीखी टिप्पणियों का भी उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्हें मार्क्सवादी बनाने में इनका भी बड़ा हाथ रहा।

मार्क्सवाद के सम्मोहन के वशीभूत जेपी क्रांति के मार्क्सवादी दर्शन से बड़े प्रभावित हुए। वह मार्क्सवादी क्रांति को भारतीय स्वतंत्रता के लिए शीघ्र परिणामदायी और प्रभावी उपाय मानते थे। रूस में लेनिन की रोमांचक सफलता और समानता तथा भाईचारे के प्रचार का उनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके अपने शब्दों में, ''वह कौन से आरंभिक अनुभव थे, जिन्होंने मेरे अवचेतन मन पर पीड़ितों के प्रति सहानुभूति की नींव डाल दी। सहानुभूति मेरे भीतर निहित थी, परंतु ऊपर के चेतना-स्तर पर निश्चय ही इसे मार्क्सवाद उभारकर लाया।''

यद्यपि वह एक मार्क्सवादी थे तथापि वह रूसी साम्यवाद के पक्ष समर्थक कभी नहीं बने। वास्तव में तो वह रूसी बोल्शेविक अत्याचारपूर्ण कार्रवाइयों से इतने दुखी हुए कि उन्हें रूसी साम्यवाद से घोर विरक्ति हो गई। 1940 में उन्होंने वैचारिक अनुशासन बलात अपने पक्ष में करने की रूसी प्रवृत्ति की घोर निंदा की। तिब्बत के विषय में विस्तारपूर्वक चीनी मनोरथ की कटु निंदा की। उन्होंने गांधी जी के नमक सत्याग्रह के प्रति साम्यवादियों के दृष्टिकोण के प्रति अपनी घृणा व्यक्त की। उनके द्वारा गांधी जी को भारतीय बुर्जुआवाद का पिट्ठू कहे जाने और राष्ट्रीय आंदोलन को बुर्जुआ आंदोलन कह कर उसकी भर्त्सना करने पर भी साम्यवादियों के प्रति अपना रोष प्रकट किया। उन्होंने अनुभव किया कि साम्यवादी मास्को के इशारों पर नाच रहे हैं और उनका उद्देश्य है एक अखंड साम्यवादी राज्य की स्थापना। इसके अतिरिक्त सभी औपनिवेशिक देशों में राष्ट्रीय आंदोलन से अपने को पृथक कर लेने की साम्यवादी नीति, जयप्रकाश नारायण की दृष्टि में मार्क्स विरोधी थी, साथ ही यह उस नीति के भी विपरीत थी, जिसे लेनिन ने प्रकट किया था। परिणामस्वरूप, विचारधारा की दृष्टि से वह अपने को रूस से विमुख अनुभव करने लगे। साम्यवादी विचारधारा से भी वह विरत हो चले। वह अनुभव करने लगे कि मार्क्सवाद हमारी अधिकांश समस्याओं का उपयुक्त समाधान नहीं है। धीरे-धीरे उन्हें यह भी अनुभव होने लगा कि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता भी प्रदान नहीं करता, जिसे सुनिश्चित

करने का यह दावा करता है। इस प्रकार उनके प्रजातांत्रिक समाजवाद का आरंभ हुआ। उन्हें मार्क्सवादी साम्यवादी और प्रजातांत्रिक समाजवाद में अंतर स्पष्ट होने लगा।

टिप्पणी

स्वतंत्रता के प्रति उत्कट प्रेम के कारण वह महात्मा गांधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता सेनानियों की पंक्ति में खड़े हो गए। परंतु कांग्रेसी विचारधारा को वह अपनी प्रतिबद्धता सर्वांश में नहीं दे सके। वास्तव में मार्क्सवाद की ओर उनका पहला झुकाव तथा क्रांति के प्रति उनका आकर्षण, इन दोनों के कारण वह गांधी तथा कांग्रेस का जहां तक संबंध है, उसे लेकर दोलायमान स्थिति में रहे। इनसे उनका मतभेद भी रहा। कुछ अन्य ऐसे कांग्रेसियों के साथ, जिनका संस्था से मोह भंग हो चुका था उन्होंने 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। उनके अनुसार कांग्रेस की नीति में सामाजिक तथा आर्थिक तत्व को समाविष्ट करने में इस नये दल ने प्रमुख भूमिका निभाई। निस्संदेह उन्होंने सोशलिस्ट पार्टी तथा उसके कार्यक्रम की प्रमुख विशेषताओं को ज्ञापित करने तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने में उल्लेखनीय प्रतिभा का परिचय दिया।

मातृभूमि की मुक्ति के एक आंदोलनकर्ता के रूप में 1942 के क्रांति आंदोलन में अपनी प्रशस्त भूमिका के कारण उन्होंने एक अग्रणी नायक की ख्याति पाई। हजारी बाग सेंट्रल जेल से भाग जाने में सफल होकर उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन को संगठित किया। अप्रैल 1946 में उन्हें रिहा कर दिया गया। एक उत्साही आंदोलनकर्ता के रूप में उनकी योग्यता से गांधी जी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उनका नाम कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में प्रस्तावित किया परंतु कार्यकारिणी ने इसे स्वीकार नहीं किया कि उनकी दृष्टि में इसके सदस्य जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। मार्च 1948 में कांग्रेस ने घोषणा की कि किसी अन्य दल का सदस्य कांग्रेस में नहीं रह सकता। इससे कांग्रेस से उनके संबंध विच्छेदन का क्रम आरंभ हुआ। जेपी ने लोहिया के साथ मिलकर 1948 से 50-51 के मध्य सोशलिस्ट पार्टी के पुनर्गठन का कार्य आरंभ किया। 1952 के निर्वाचनों में उनके दल का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा क्योंकि लोकसभा और विधानसभा चुनावों में उसे केवल 15% मत ही मिले। उनके प्रयत्नस्वरूप जून, 1952 में किसान मजदूर प्रजा पार्टी तथा समाजवादी पार्टी का गठजोड़ हुआ, जिसके कारण प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ।

1953 में जवाहर लाल नेहरू के प्रयत्नों से कांग्रेस तथा जेपी नारायण की प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को निकट लाने का कार्य आरंभ हुआ। किंतु यह बातचीत सफल नहीं हो सकी क्योंकि अधिकांश समाजवादी नेता किसी प्रकार के समझौते के विरुद्ध थे। 19 अप्रैल, 1954 को जेपी ने पी.एस.पी. की राष्ट्रीय कार्यकारिणी से त्यागपत्र दे दिया। इसका कारण इसके घटकों के मध्य पारस्परिक शत्रुता थी। इसके पश्चात उन्होंने दलगत राजनीति से विदा ली और दलीय प्रणाली का विरोध किया। उन्होंने सर्वोदय आंदोलन के अंतर्गत जीवनदानी से रूप में अपने लिए एक नई भूमिका चुनी। वास्तव में, 1953 में संपन्न बोध गया सम्मेलन का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें विश्वास हो गया कि समाजवाद का रूपांतरण सर्वोदय में नहीं हो सकेगा। विनोबा भावे के भूदान आंदोलन की विस्मयजनक सफलता ने उन्हें गांधीवादी अंत:शक्ति की प्रभावकारिता के प्रति आश्वस्त कर दिया। उनके अनुसार, ''पहले की भांति मैं आज भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि कभी राज्य की सत्ता लुप्त होगी अथवा नहीं। किंतु मैं इतना अवश्य कह सकता हूं राज्य सत्ता के अधिकार, कार्य तथा क्षेत्र को यथासंभव कम कर दिये जाने का लक्ष्य हमारे लिए सर्वोत्तम लक्ष्य है। पहले की भांति आज भी मैं गांधी जी की इस उक्ति में पक्का विश्वास रखता हूं कि सरकार वही सबसे अच्छी है, जो सबसे कम शासन करती है।''

टिप्पणी

इस प्रकार जेपी, जिन्होंने अपनी यात्रा मार्क्सवाद से आरंभ कर, सर्वोदय के बिंदु पर उसे विराम दिया, सर्वोदय को जनता का समाजवाद मानते थे। उनके मतानुसार मात्र सर्वोदय के द्वारा ही वास्तविक क्रांति संभव है। उनके शब्दों में, ''इससे आने वाली क्रांति कितनी सुंदर है, दूसरों से कितनी भिन्न है...।''

दूसरे देशों में अनेक प्रकार के उपायों से संपत्ति पर निजी स्वामित्व समाप्त किया गया परंतु इनके परिणामों के रूप में सर्वत्र समान रूप से अप्रसन्नता, कटुता, घृणा और कष्ट ही देखने को मिला। अत्याचार और उत्पीड़न के भी अनेक उदाहरण सामने आये। इससे कृत्रिम नौकरशाही को बढ़ावा मिला और स्वतंत्र कृषक अपने देश में मात्र दास बनकर रह गए। इससे तानाशाही सत्ता का केंद्रीकरण हो गया। इसके विपरीत ग्रामदान जैसे सुंदर आंदोलन के परिणामस्वरूप, स्वामित्व का हस्तांतरण किसी सफल प्रयोग द्वारा नहीं हुआ, वरन यह स्वामित्व स्वेच्छा से समाज को दिया गया। बाहरी सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ मानव के हृदय का आंतरिक परिवर्तन भी देखने को मिला। यह सामाजिक तनाव, संघर्ष के स्थान पर स्वतंत्रता और पारस्परिक सौहार्द एवं सद्भावना ही थी।

बाद में जय प्रकाश दलहीन प्रजातंत्र (Partyless democracy) और विकेंद्रीकरण के पक्षधर हो गए। उन्होंने ग्रामीण सभ्यता प्रधान एक सादे समाज पर बल दिया। उन्होंने अतिविकसित तकनीक प्रधान, आर्थिक केंद्रीकरण वाले भौतिक समाज की निंदा की। समाजवाद के प्रवक्ता के रूप में उन्होंने यह बलपूर्वक कहा कि केवल अहिंसात्मक उपायों से ही समाजवादी युग लाया जा सकता है। भ्रष्टाचार के वह प्रबल विरोधी थे और उन्होंने भ्रष्ट प्रशासन को अपने निंदापरक उपहास का केंद्र बनाया। उन्होंने समानता, प्रतिष्ठा एवं भ्रष्टाचार मुक्त युग लाने के लिए समग्र क्रांति की अवधारणा प्रचारित की कि विद्यार्थी इस क्रांति के ज्योतिर्वाहक बनेंगे। किंतु बीस वर्षों तक सर्वोदय के बंजर क्षेत्र में रहने के पश्चात जेपी 1974 में पुनः सक्रिय आंदोलनात्मक राजनीतिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। इसके फलस्वरूप उन्हें 1975 में गिरफ्तार कर लिया गया तथा 1976 में पेरोल पर रिहा कर दिया गया। 1977 के ऐतिहासिक चुनावों के समय उन्होंने इंदिरा गांधी विरोधी शक्तियों को एकजुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसके परिणामस्वरूप जनता पार्टी के रूप में एक संयुक्त मोर्चा सामने आया। इस प्रकार जेपी के प्रयत्नों ने कांग्रेस की लज्जास्पद पराजय को सुनिश्चित कर दिया। जब कभी जनता पार्टी संकट की स्थिति में आती और उसे अपना अस्तित्व खतरे में दिखता तो वह जेपी को अपने रक्षक के रूप में निहारती। ऐसा उनके अंतिम श्वांस लेने तक होता रहा। अतः वह अक्टूबर, 1979 में एक ऐसे निराश व्यक्ति के रूप में इस असार-संसार से प्रयाण कर गये, जिसका मित्रों से मोहभंग हो गया हो।

जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार

एक प्रजातंत्रवादी के रूप में मानवीय स्वाधीनता के प्रति अपने उत्कट प्रेम के कारण वह संसदीय प्रणाली का मूल्यांकन करने और उसकी दुर्बलताओं को प्रकट करने पर विवश हो गए।

गांधी तथा विनोबा की भांति उन्होंने भी प्रजातंत्र के नैतिक आधार पर बल दिया। उनके शब्दों में, ''प्रजातंत्र की समस्या मूलतः एक नैतिक समस्या है। जब तक लोगों के नैतिक और आध्यात्मिक गुण यथेष्ट रूपेण नहीं विकसित होते, तब तक सर्वोत्तम संविधान

और राजनीति पद्धति से कुछ नहीं होगा।'' अतः उन्होंने प्रजातंत्र को प्रभावी रूप से सक्षम बनाने के लिए इन बातों को आवश्यक माना। (1) अहिंसा के प्रति घृणा (2) स्वतंत्रता और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने के साहस के प्रति प्रेम का भाव (3) सहयोग की भावना (4) सत्य में प्रवृत्त (5) दूसरों की सम्मति के प्रति सहिष्णुता (6) कर्तव्य, उत्तरदायित्व का भाव (7) मानवीय समानता में आस्था और (8) सादा जीवन बिताने की योग्यता।

टिप्पणी

दूसरे, उन्होंने अनुभव किया कि बड़े स्तर पर राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में केंद्रीकरण होना व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए घातक है। प्रजातंत्र पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इससे उनके विचार में बड़े-बड़े औद्योगिक लाभ कमाने वाले घरानों में आर्थिक और राजनीतिक सत्ता केंद्रित हो जाती है।

वह यह भी अनुभव करते थे कि सरकारी गतिविधियों में वृद्धि के साथ-साथ प्रभाव बढ़ता जाता था। इस अफसरशाही तंत्र पर मंत्रीगणों की निर्भरता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। अफसर अपने कृत्यों के प्रति आज भी उत्तरदायी नहीं हैं। वह पहले की भांति आज भी रिश्वत लेते हैं।

तीसरे, जेपी का मत है कि निर्वाचन व्यवस्था में वयस्क मताधिकार सुनिश्चित कर देने मात्र से हमारे प्रजातंत्र को व्यापक आधार प्राप्त नहीं होता। हमारे प्रजातंत्र में संपन्न वर्गगत प्रजातंत्र को प्रश्रय मिलता है, जनता के सोत्साह सहभाग वाला प्रजातंत्र नहीं। सामान्य व्यक्ति का मोह भंग हो जाता है, उसे लगता है कि श्वेत व्यक्तियों के स्थान पर काले व्यक्ति सत्तारूढ़ हो गए हैं। इसीलिए उन्होंने जोरदार शब्दों में कहा कि सरकार को अधिक से अधिक प्रजातांत्रिक बनाने के लिए, सरकारी कार्यों को चलाने में जनता का सहयोग अधिक से अधिक होना चाहिए। भारत में जनता नीतियों को न तो बनाने में और न ही लागू करने में भाग लेती है, इसी कारण हमारे लोकतंत्र की नींव संकीर्ण रह जाती है। करोड़ों की संख्या में बिखरे हुए मतदाता हमारे लोकतांत्रिक ढांचे की नींव को ऐसे कमजोर कर रहे हैं, जैसे रेत के कण-कण एक भवन को। इसी प्रकार अलग-अलग नर-नारी को समुदाय के रूप में एकत्रित करना होगा ताकि वह लोकतंत्र की दृढ़ और स्थायी नींव बन सकें।

जेपी आगे कहते हैं- प्रजातंत्र के समक्ष समस्या है मनुष्य को मनुष्य के संपर्क में एक ऐसे संबंध के आधार पर रखने की, जो नियंत्रण में सार्थक और इस प्रकार प्रयोजनमूलक हो कि मानव समुदाय उससे पुनर्गठित हो सके। इसलिए उन्होंने राय दी कि ग्राम समुदाय को एक राजनीतिक इकाई बनाया जाए और अपने क्षेत्र में राज्य करने का उसे अधिकार दिया जाए। इसी ग्राम समुदाय को राज्यों की विधान सभाओं और देश की संसद बनाने का साधन बनाया जाए। केवल इसी प्रकार हमारे लोकतंत्र की नींव मजबूत होगी।

चौथी बात यह है कि वह विधान सभाओं के गठन की वर्तमान प्रणाली से संतुष्ट नहीं थे और उसे त्रुटिपूर्ण मानते थे। कांग्रेस केंद्र तथा राज्यों में मात्र 50% मत भी प्राप्त न करने पर भी सत्तारूढ़ होने में सफल हो गई। भुवनेश्वर में श्रीमती गांधी के कथन पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था, ''इस तथ्य से कि उत्तर प्रदेश विधान सभा निर्वाचनों (1974) में 32% मत प्राप्त करने वाला दल बहुसंख्यक बन गया, हमारी निर्वाचन पद्धति की दोष पूर्णता को प्रकट करता है।''

पांचवीं बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए वह कहते हैं कि बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों के आर्थिक संरक्षण पर निर्भर रहने वाले राजनीतिक दलों की भूमिका राष्ट्र के लिए हानिप्रद होती है।

टिप्पणी

दलगत प्रणाली के संबंध में छठी अशोभनीय बात यह है कि इससे जनोत्तेजन की प्रवृत्ति बढ़ती है। राजनीतिक दल मत प्राप्त करने के लिए अनेक अनैतिक उपायों का अवलंब लेते हैं। उनके मत में लोगों के अशिक्षित होने के कारण राजनीतिक दल लोगों को धोखा देते हैं। इस प्रकार लोगों की स्थिति उन भेड़ों की-सी हो जायेगी, जो समय-समय पर अपनी देखभाल करने वाले चरवाहों को चुनेंगी।

भारतीय लोकतंत्र को केवल दल प्रणाली कहते हैं। अहमदाबाद में 17 जनवरी, 1975 में संपन्न एक बड़ी जनसभा में उन्होंने कहा, ''भारतीय लोकतंत्र बड़े खतरे में है, विशेष कर 1975 में हुए लोकसभा के चुनाव के पश्चात निर्धनों और करोड़ों की संख्या में दूसरे लोगों की समस्या का समाधान नहीं हो पाया। देश के शासक लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे। गरीबी हटाओ का स्थान गरीबी बढ़ाओ ने ले लिया है। उन्होंने एक बार अपने भाषण में विद्यार्थियों को लोकतांत्रिक नियमों पर आधारित सरकार चलाने की सलाह दी क्योंकि प्रचलित लोकतंत्र गल-सड़ चुका है और इसमें जन सहायक सरकार बनाने के लिए मौलिक परिवर्तन आवश्यक है। उन्होंने गुजरात की भ्रष्ट सरकार के विरुद्ध विद्यार्थियों की सराहना की और कल्पना की कि विद्यार्थियों में से ही नये नेता उत्पन्न होंगे।

स्पष्ट है कि भारतीय संसदीय प्रणाली के जनता के शासन की वाहिका होने की बात को वह साग्रह अस्वीकार करते हैं। उन्होंने विद्यार्थियों को प्रेरणा दी कि वह भ्रष्ट सरकारों को च्युत करने के उद्देश्य से राष्ट्रव्यापी अभियान चलाएं। ''मात्र एक ही सरकार के पतन से ही छात्रों को संतुष्ट नहीं रहना चाहिए। उन्हें लंबा मार्ग तय करना है।''

बाद में उन्होंने पुलिस तथा सेना को भी इस प्रकार सरकार विरोधी आंदोलन चलाने को कहा। ऐसा कहने पर सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया।

लोकतांत्रिक राज्य में सुधार कैसे?

संसदीय प्रणाली की त्रुटियां बताने के पश्चात हमारे राजनीतिक ढांचे को पतन से बचाने के लिए उन्होंने कुछ सुझाव दिए ताकि जनता लोकतंत्र का लाभ उठा सके। (1) विकेंद्रीकरण, (2) ग्राम पंचायतों में सर्वसम्मति के नियमों का पालन (3) राज्य विधान सभाओं और संसद के चुनाव अप्रत्यक्ष हों (Indirect) (4) दल प्रणाली की भूमिका को कम से कम करना। जयप्रकाश इस प्रकार के लोकतंत्र को आंगीक (Organic) या सह भाग (Participating) लोकतंत्र कहते हैं। वह इसे दलविहीन (Partyless) लोकतंत्र भी कहते हैं, जिसका ढांचा ग्राम पंचायत से लोकसभा तक ऊपर उठता है। संक्षेप में इसका वर्णन निम्नलिखित है।

राज्यतंत्र को सुधारने के लिए गांधी तथा विनोबा के विचारों का अनुसरण करते हुए वह चाहते हैं कि ग्राम अपनी प्राचीन गरिमा जिसके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, वह है–

विकेंद्रीकरण- पंचायती राज प्रणाली के वर्तमान स्वरूप से वह असंतोष व्यक्त करते हैं। उनके मत में सच्चे प्रजातंत्र का आधार होने के साथ-साथ ग्राम पंचायतों को स्वायत्त शासन के प्रसार में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभानी चाहिए। ''उन्होंने ग्राम समुदायों को मूलभूत (Organic) लोकतंत्र की नींव बताया है। उनका कहना है कि परिवार को

टिप्पणी

भी प्रथम इकाई बताया जा सकता है परंतु वह अधिक छोटी इकाई होती। कारणवश कुछ परिवार सम्मिलित होकर एक गांव का रूप धारण करेंगे और एक-दूसरे को सहयोग देंगे। इस समुदाय का नाम ग्राम समुदाय या स्थानीय समुदाय होगा। स्वराज्य करोड़ों लोगों के लिए वास्तविकता बन सकता है यदि सरकार उनके निकट लाई जाए। जयप्रकाश ऐसे पंचायती राज्य की प्रशंसा करते हैं, जिनमें तीन सीढ़ियां हों– (1) ग्राम पंचायत (2) ब्लाक पंचायत समिति (3) जिला परिषद। जयप्रकाश इसी को लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण का आधार मानते हैं। पंचायती राज्य जिसकी स्थापना भारत के कई राज्यों में हो चुकी है। जयप्रकाश के विचारानुसार त्रुटियों से भरपूर हैं। इस पंचायती राज्य प्रणाली को शक्ति ऊपर से मिलती है न कि जनता से। इसलिए यह प्रणाली ऊपर से ठोस प्रतीत होती है और इसलिए इसे एक नौकरशाही के राज्य का स्वरूप कहा जाता है। जयप्रकाश का कहना है कि असली लोकतंत्र का आधार ग्राम पंचायत होना चाहिए और इसी के द्वारा गांव में सरकार चलनी चाहिए। वह उसे गांव की कार्यपालिका कहते हैं या ग्राम पंचायत कहते हैं। ग्राम सभा को प्रजातंत्र के भव्य भवन का सबसे नीचे का श्रेणी स्तर होना चाहिए। इसका आधार सुदृढ़तम और स्थायी होना चाहिए।''

ग्राम सभा, जिसे जेपी सामुदायिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग मानते थे, वह उनके द्वारा सुझाई राजनीतिक संरचना का आधार होना चाहिए। ग्रामीणस्थ सभी वयस्क स्त्री-पुरुष इसमें सम्मिलित होंगे। ग्राम पंचायत इसके कार्यकारिणी अंग के रूप में कार्य करेंगे। यह निर्दलीय आधार पर कार्य करेगी। उनके मतानुसार, ''लोगों की स्वायत्तशासी संस्थाओं को नीचे से ऊपर उठना चाहिए और लोगों के विचारों, उनकी इच्छाओं और आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील होकर सीधे उनके नियंत्रण में होना चाहिए।'' जेपी ने कहा है कि पंचायती राज्य प्रणाली में कुछ त्रिटियां होते हुए भी सफलता प्राप्त हो सकती है अगर निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाए। (1) ग्राम सभा न कि ग्राम पंचायत लोकतंत्र के ढांचे की पहली मंजिल हो। (2) जनता को शिक्षा निष्पक्ष भावना और निष्पक्ष संस्थाओं द्वारा दी जानी चाहिए। सरकार को स्कूलों और लाइब्रेरियों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। (3) राजनीतिक दल पंचायत के चुनाव में हस्तक्षेप न करें और सर्वसम्मति का नियम अपनाया जाए। अगर सर्वसम्मति न हो सके तो चुनाव पर्चियां डालकर होना चाहिए। (4) ऊपर के स्तर पर असली शक्तियां ग्राम सभा और पंचायत को देनी चाहिए। जिलाधीश को जिला परिषद में राज्य सरकार के एक प्रतिनिधि के रूप में होना चाहिए। दूसरे शब्दों में वह इन संस्थाओं का चालक नहीं होना चाहिए। (5) हर स्थानीय संस्था के पास काफी मात्रा में धन हो ताकि वह शक्तियों का प्रयोग ठीक ढंग से कर सके। (6) पंचायतों का कर्मचारियों पर पूरा नियंत्रण होना चाहिए। कर्मचारियों की नौकरी सुरक्षित हो। (7) पंचायतें भिन्न स्तर पर शक्ति का प्रयोग जनता के द्वारा करे न कि राज्य सरकार के हाथ में कठपुतली बनें (8) पंचायती राज्य की स्थापना और उनके कार्यों में सहायता और ऊपरी देखभाल का कार्य एक स्वतंत्र संस्था को सौंपा जाए और उनके कार्यों में सहायता कर्मचारी द्वारा न हो और जो पंचायती राज के कर्मचारियों के साथ पक्षपात न कर सके।

स्थानीय समुदाय का आदर्शोन्मुखी चित्रण करते हुए जेपी कहते हैं, ''सच्चे समुदाय में ऐसा साम्यवाद है, जो अनुभूतियों का मिलकर आस्वाद ग्रहण करता है। जिनके हितों में समानता होती है और एक स्वीकृत सामाजिक दायित्व की परिधि में स्वतंत्रता का और

टिप्पणी

विभिन्नता में भी एकता का अनुभव करते हैं। इसमें कृषि, श्रमिक वर्गस्थ, बुद्धिवादी संघर्ष से दूर रहते हुए, समुदाय की सेवा में लगे रहकर परस्पर हित साधन करते हैं।''

स्थानीय समुदाय एकत्रित होकर लोगों की समस्याओं का समाधान करेगी, क्षेत्रीय समुदाय बनाएगी और क्षेत्रीय समुदाय मिलकर जिला स्तर का समुदाय बनाएगी। जिला समुदाय, प्रांतीय और राष्ट्रीय समुदाय बनाएगी परंतु अधिकतर शक्तियां क्षेत्रीय समुदाय के पास रहेंगी।

ऊपर के स्तर पर परिवर्तन

जेपी ने सरकार के ऊपर के ढांचे में अनेक परिवर्तन बताए। (1) बहुमत से प्रत्यक्ष चुनाव का स्थान अप्रत्यक्ष (Indirect) (2) ग्राम समुदायों की स्वायत्तता (autonomy) वास्तविक बनाने के लिए केंद्रीकरण समाप्त होना चाहिए। (3) राज्य विधान सभा और लोकसभा का चुनाव निर्णायक मंडल (Electrol College) के द्वारा हर ग्राम की ग्रामसभा दो प्रतिनिधि निर्वाचक मंडल के लिए चुनेगी। यह सब प्रतिनिधि मिलकर विधान सभा और लोक सभा के सदस्यों को चुनेंगे। अगर दो से ज्यादा नाम चुनाव के लिए आएंगे तो ये नाम बोर्ड पर लिख दिए जाएंगे और चुनाव होते रहेंगे, जब तक केवल दो नाम नहीं रह जाएंगे। हर चुनाव में सबसे कम मत लेने वाले को चुनाव से निकाल दिया जायेगा। चुनाव हाथ खड़ा करके नहीं होंगे और किसी प्रकार का प्रचार नहीं होगा। इसके पश्चात निर्वाचक मंडल के सदस्य राज्य विधान सभा के सदस्यों को चुनेंगे। चुनाव जीतने वालों के मतों की संख्या निर्वाचित कर दी जायेगी। इस प्रकार के चुनाव से राजनीतिक दलों की महत्ता चुनाव में कम होगी और चुनाव के तरीके से लोगों में फूट नहीं पड़ेगी। इस तरह से शक्ति का प्रयोग नीचे से ऊपर न कि ऊपर से नीचे होगा। दलों के नेताओं की भूमिका कम होगी। चुनाव में खर्च कम होंगे। चुनाव के दिनों में भावनाओं को भड़काना और हानिकारक प्रचार बंद होंगे। लोकतंत्र वास्तव में सहभागी लोकतंत्र बन जायेगा क्योंकि ग्राम सभाएं विधान सभा और लोकसभा को अपने चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा प्रभावित करती रहेगी।

1972 के चुनाव भ्रष्टाचार और चुनाव क्षेत्रों पर कब्जा और गड़बड़ी के कारण बदनाम हुए थे। उन पर टिप्पणी करते हुए जेपी ने कहा कि ''अगर लोकतंत्र को जीवित रखना है तो चुनाव प्रणाली में पूरे तौर पर परिवर्तन लाना होगा। हम इस प्रकार की सरकार स्थापना करना चाहते हैं, जो बिना दलों के चल सके। शक्ति ना ही केवल केंद्रीय सदस्यों में बल्कि एक व्यक्ति के हाथ में आ चुकी है। समाजवाद के नाम पर निरंकुश राज्य बन चुका है और जिसमें पूरी आर्थिक शक्ति केंद्र के पास है। इसके सब फैसले प्रधानमंत्री पर निर्भर हैं।'' जेपी इस प्रकार की घटना से परेशान थे और उन्होंने ऐसे राज्य की कल्पना की कि जिसमें दलविहीन पंचायतों का राज्य ग्राम स्तर पर हो और जिसमें राष्ट्रीय स्तर भी दलविहीन राजनीति अपनाई जाये।

उन्होंने इस नये राजनीतिक ढांचे में अर्थव्यवस्था का विकेंद्रीकरण पर जोर डाला। बड़े -बड़े उद्योगों का स्थान लघु उद्योगों को दिया जाएगा, जिससे मजदूरों का शोषण समाप्त होगा। सहयोग की भावना बढ़ेगी और मजदूर स्वयं स्वामी होगा। श्रेणी संघर्ष समाप्त होंगे। इस प्रकार नई अर्थव्यवस्था का ढांचे शोषण मुक्त और आत्मनिर्भर होगा।

जेपी के सपनों के स्वशासी और आत्मनिर्भर ग्राम में कृषि-उद्योग और नगर-ग्राम का मिश्रण होगा। रेडियो तथा विद्युत उपकरणों का गांव में निर्माण का स्वप्न भी जयप्रकाश नारायण देखते हैं। उनके शब्दों में, जहां कहीं भी संभव हो, उपलब्धि सुगम हो, विद्युत शक्ति

का प्रयोग, अर्थव्यवस्था की समग्रता तथा संगठित रूप में मूल्यांकन करने के उपरांत किया जाए ताकि उत्पादन व्यय, खपत तथा रोजगार संबंधी विषमताओं को प्रश्रय न मिल सके।

जेपी ने आत्मनिर्भर ग्राम के आदर्श को अपनाया है परंतु उनका यह भी कहना है कि एक ही क्षेत्र के गांव आपस में और भारत के संघीय सरकार के राज्य भी आपस में व्यापार कर सकते हैं। उन्होंने क्षेत्रीय राज्य और भारतीय स्तर पर उद्योग स्थापित करने की भी राय दी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का भी वर्णन किया है।

जेपी मानते थे कि ''एक विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था का उद्देश्य मानवीय और पदार्थ रूप में उपलब्ध सभी स्थानीय और प्रादेशिक साधनों का पूर्ण उपयोग होना चाहिए, जिससे स्थानीय और प्रादेशिक मांगों की आपूर्ति हो सके। तथापि इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि एक क्षेत्र का इन वस्तुओं अधिशेष अन्य क्षेत्र के अधिशेष के बदले में प्राप्त नहीं किया जाएगा। किंतु इसका यह अभिप्राय अवश्य है कि प्रत्येक औद्योगिक क्षेत्र के कार्य करने का एक निर्धारित भौगोलिक क्षेत्र अवश्य होगा।'' जेपी के ऊपर के लिखे कथन से स्पष्ट होता है कि उन्होंने न केवल खादी अर्थव्यवस्था की कल्पना की बल्कि एक ऐसी आधुनिक अर्थव्यवस्था के बारे में सोचा, जिसे अपनाने के लिए नई मशीन और नई आर्थिक तकनीक की आवश्कता होगी। दूसरे शब्दों में इस नई अर्थव्यवस्था में ऐसी योजना की आवश्यकता होगी। जो भारत सरकार की योजनाओं से भिन्न होगी, क्योंकि जेपी की योजना की कल्पना नीचे स्तर से है न कि ऊपर से।

जेपी द्वारा प्रस्तावित श्रेणी क्रमानुगत संरचना के परीक्षण से प्रतीत होता है कि वह विनोबा द्वारा प्रस्तुत संरचना सदृश ही है किंतु एक मौलिक अंतर स्पष्टत: सामने आता है। विनोबा, जहां उच्च अधिकारी वर्ग के मात्र परामर्श देने तक अपने पास मात्र ऐसा नैतिक अधिकार रखने की बात करते हैं कि जो भविष्य में स्वत: ही समाप्त हो जाएगा, वहां जेपी कहते हैं, ''जिस प्रकार प्राथमिक समुदाय आंतरिक प्रशासन में स्वशासी है, उसी प्रकार जिन क्षेत्रों में प्राथमिक समुदाय ने प्राथमिक समुदाय को अपने अधिकार के प्रति निर्धारित किए हैं, वहां प्रादेशिक समुदाय को स्वशासी होना चाहिए।''

यह कहना उचित होगा कि जेपी की पहले की विचारधारा, जिसके अनुसार उत्पादन, वितरण और अदला-बदली के साधन और उनकी योजना राज्य सरकार के हाथ में होने से समाजवाद स्थापित किया जा सकता है, झुठला दी गई इसलिए उन्होंने नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा, समानता तथा शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए सर्वोदय को अपनाया।

राज्य को अनावश्यक अधिकार दिए जाने की बात की निंदा करते हुए वह कहते हैं, ''प्रजातंत्र के लिए यह आवश्यक है कि राज्य पर लोगों की निर्भरता उत्तरोत्तर न्यून होती जाए। मार्क्स तथा महात्मा गांधी दोनों मानते थे कि प्रजातंत्र के चरमोत्कर्ष की अवस्था वही है, जब राज्य पूर्णत: स्वतंत्र हो जाए।'' विनोबा वस्तुत: एक दार्शनिक अराजकतावादी हैं किंतु जेपी थोड़े संकोची हैं परंतु उनकी तुलना में यथार्थवादी अराजकतावादी हैं। उन्होंने कहा, ''यह राजनीति जितना अधिक बढ़ती है, पुरानी सिकुड़ जाती है। यही राज्य के धीरे-धीरे लुप्त होने की सही प्रक्रिया है।''

दलविहीन लोकतंत्र

यद्यपि संसदीय लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की बुराइयों पर संक्षिप्त रूप में विचार किया गया है फिर भी इसके विश्लेषण को देखने की जरूरत है, जो कि जयप्रकाश नारायण ने

टिप्पणी

किया है। यह विषय बहुत विवादग्रस्त रहा है और जवाहर लाल नेहरू जैसे नेताओं को इस विषय के बारे में अपनी उलट राय देनी पड़ी थी।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार, राजनीतिक दलों की स्पष्ट त्रुटि यह है कि वे लोकतंत्र को, लोगों द्वारा सरकार को ही असंभव बना देते हैं। लोकतंत्र उस समय लोगों की सरकार नहीं रहता, जब राजनीति दल जनता तथा सरकार के बीच में आ जाते हैं। इसलिए जनता का सरकार से सीधा संपर्क स्थापित नहीं हो पाता। उम्मीदवार, जो कि बनने वाले प्रतिनिधि होते हैं, उनका चुनाव राजनीति दल करते हैं, लोगों द्वारा उनका चुनाव नहीं होता। प्रतिनिधि चुनाव जीतने के पश्चात राजनीतिक दलों में अपनी श्रद्धा बनाए रखते हैं और आम लोगों के प्रति उनमें कोई श्रद्धा नहीं होती । अत: प्रतिनिधि लोगों का प्रतिनिधि नहीं रहता, चाहे वह ऐसा दावा भले ही करता है। उनके शब्दों में, ''दलीय प्रणाली लोगों को पिछलग्गू बना देती है, जिनकी प्रभुसत्ता का केवल एक ही काम, समय-समय पर मुखियाओं का चुनाव करना होता है, जो उनके कल्याण का ध्यान रख सकें।''

दूसरे, दल शक्ति की नीतियों को प्रोत्साहन देते हैं और चुनाव के दिनों में अनुचित तथा निर्लज्ज तरीकों का प्रयोग करते हैं। अत: वे राजनीति को भ्रष्ट कर देते हैं और लोकतंत्र को स्वार्थी राजनीतिज्ञों की सरकार का रूप दे देते हैं, जो कि वोट बटोरने की कला से भली-भांति परिचित होते हैं। इन्होंने लोकतंत्र को 'गुंडों के लिए अंतिम आश्रय' में परिवर्तित कर दिया है।

तीसरे, राजनीतिक दलों ने ही पड़ोसियों में घृणा फैलाने का कार्य किया है। इन्होंने एकता लाने की अपेक्षा घृणा का बीज बोया है। अत: इनका योगदान एकता लाने की अपेक्षा शत्रुता फैलाने वाला है।

अत: इनका सुझाव है कि भारत अपने प्रजातांत्रिक तंत्र में सुधार कर एक ऐसे प्रजातंत्र को विकसित करें, जिसमें जनता का सहयोग प्राप्त किया जाए तथा इसमें ऐसी व्यवस्था समाविष्ट हो, जो सरकार तथा जनता के मध्य तात्कालिक संपर्क सुनिश्चित कर सके। ऐसा दलहीन प्रजातंत्र में अधिकारों के विकेंद्रीकरण से ही संभव है। वस्तुत: इंग्लैंड, फ्रांस, स्वीट्जरलैंड, हॉलैंड, डेनमार्क, बेल्जियम, स्वीडन, ऑस्ट्रिया, इटली, यूनान, पोलैंड तथा यूगोस्लाविया आदि देशों की यात्रा के उपरांत उन्हें विश्वास हो गया कि दलीय प्रणाली निष्प्रयोजन है। यूगोस्लोविया में जन-समितियों के आकलन के पश्चात 1959 में उन्हें विश्वास हो गया कि भारतीय राजनीति का शोधजन्य पुनर्गठन किया जाए। इसी से उन्हें निर्दलीय पद्धति की अवधारणा प्राप्त हुई।

अत: जयप्रकाश नारायण ने ग्राम-सभा के गठन की राय दी है, जो कि राजनीति दल-प्रणाली से मुक्त होगी क्योंकि प्रत्येक वयस्क इस प्रकार की सभा का अपने आप ही सदस्य बन जाएगा। राजनीतिक दलों के प्रभाव को कम करने के लिए उन्होंने ग्राम-पंचायत के सदस्यों के चुनाव के सर्वसम्मति के आधार पर चुनने की राय दी। राजनीति दलों के अस्वस्थ प्रभाव से बचने के लिए राज्य विधान मंडलों तथा लोकसभा के चुनावों के लिए भी निर्वाचक-मंडल की विधि को प्रयुक्त करने की राय दी गई है। उन्होंने दलीय आधार पर मंत्रियों के चुनाव को भी ठीक नहीं समझा। वे चाहते हैं कि मंत्रीमंडल में केवल बुद्धिमान व्यक्ति ही लिए जाएं न कि दलीय आधार पर उन्हें लिया जाए।

इस प्रकार दलहीन प्रजातंत्र को चार प्रकार से लागू किया जा सकता है। (1) गांवों में लोग आम सहमति के आधार पर अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत करेंगे। इनसे एक

टिप्पणी

पंचायत अथवा ग्राम मंडल का गठन होगा। सामान्यत: इस मंडल में प्रत्येक परिवार का प्रतिनिधित्व उसका एक सदस्य करेगा। उसकी मासिक बैठक में मंडल सभी ग्रामीण समस्याओं पर निर्णय करेगा। यह पंचायतें अथवा मंडल थाना पंचायतों का निर्वाचन करेंगे जिनके द्वारा जिला पंचायतों का चुनाव होगा। जिला पंचायतें अपने प्रतिनिध प्रांतीय पंचायतों में भेजेंगे और यह पंचायतें केंद्रीय पंचायतों का निर्वाचन करेंगी। वह इसे दलहीन प्रजातंत्र को मूर्त करने की एक संगठित युक्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार का प्रजातंत्र सामुदायिक सहमति तथा एकमत के सिद्धांतों पर काम करेगा। इस प्रकार यह दलगत रानीतिक तथा निर्वाचन प्रक्रिया का स्थान लेगा। (2) दलगत राजनीति से मुक्त एक सर्वोदय समाज की स्थापना होगी। (3) वर्तमान सभी दलों को सर्वादय के कार्य में सम्मिलित रूप से सहयोग करने के लिए आमंत्रित किया जायेगा। यदि इस प्रकार अथक सम्मिलित प्रयास से सर्वपक्षीय क्रांति पूर्ण होगी तो सर्वोदय का स्वप्न साकार होगा और यह सभी दल समाप्त हो जायेंगे। (4) दलहीन राजनीति के लक्ष की प्राप्ति से पूर्व दलों के निष्प्रभ करने का कार्य पूरा होगा। लोग दलीय आधार पर चुनाव लड़ सकते हैं। ज्योंही विधानमंडल अस्तित्व में आए, सदस्यों का दलों से संबंध नहीं रहेगा। दलों का कार्य नहीं करने दिया जाए। सदस्यों को अपनी सुविधा और चेतना के आधार पर मत देने की अनुमति होगी। मंत्रियों का चयन दलीय आधार पर नहीं होगा। प्रत्येक प्रतिनिधि अपनी पसन्द के वरीयत क्रमानुसार एक सूची प्रस्तुत करेगा, वह व्यक्ति जिनकी वरीयत पक्षीय सहमति सर्वाधिक हो, वही मंत्री पद पर आसीन होंगे।

भारतीय जनतंत्र के सुधार के लिए जयप्रकाश नारायण के सुझाव

निकट भविष्य में देश में दलीय प्रजातंत्र की संभावनाओं के अभाव का अनुभव करते हुए जयप्रकाश ने देश में एक सशक्त एवं व्यवहार्य विरोधी दल के आवश्यकता पर बल दिया। उनकी सहमति में यदि विरोधी दल अपने लघु खंडों के होते हुए, विचारधाराओं की विभिन्नता और व्यक्तिक महत्वाकांक्षाओं को विस्मृत कर यह समझ ले कि उनके नेताओं का हित एक दूसरे में सक्षम रूपेण जुड़ा है, तो देश में एक प्रभावी विरोधी दल का प्रतीक्षित उदय हो सकता है। एक रचनात्मक भूमिका निभाने वाले ऐसे विरोधी दल की बड़ी आवश्यकता है।

द्वितीयत: उन्होंने 'आया राम' 'गया राम' की राजनीति को समाप्त करने के लिए मतदाताओं का अपने प्रतिनिधियों को 'वापिस बुलाने' का अधिकार देने की बात कही। इस प्रकार का उपाय, यद्यपि प्रत्यक्षत: प्रशंसनीय है, तथापि इससे एक विकासोन्मुखी जनतंत्र में स्थानीय, राज्यीय और केंद्रीय राजनीति में अस्थिरता आने की आशंका है, जो भारतीय लोकतंत्र के हित में नहीं है।

तीसरी बात, जो उन्होंने कही है, वह यह कि निर्वाचन आयोग एक बहुसदस्यीय संस्था होनी चाहिए, जिसमें सदस्य रूप में ऐसे व्यक्ति लिए जायें जिनकी प्रतिष्ठा उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के समान अनभियोज्य (unimpeachable) हो। उनका चयन एक ऐसा बोर्ड करे जिसमें उच्चतम न्यायलय के मुख्य न्यायाधीश, प्रधानमंत्री तथा विरोधी दल के नेता अथवा विरोधी पक्ष का कोई सर्वमान्य व्यक्ति सम्मिलित हो। इस प्रकार का सुझाव अवश्य विचारणीय है।

उनकी चौथी बात यह है कि मतदाता की न्यूनतम आयु 18 वर्ष की जाए।

टिप्पणी

इस प्रकार प्रजातंत्र को एक व्यापक आधार दिया जाएगा और युवा वर्ग को प्रजातंत्र से सम्बद्ध किया जा सकेगा। 'ब्लिट्ज' पत्रिका को दिए एक साक्षात्कार में इस बात पर बल दिय कि प्रजातंत्र को सुद्धढ़ करने के लिए यह आवश्यक है कि देश के नागरिक स्वतंत्र, प्रबुद्ध हों। अधिकारों को प्राप्त करने का जहां उनमें उत्साह हो, वहीं कर्तव्यों के प्रति भी वह जागरूक हों। सुदृढ़ प्रजातंत्र की अन्य आवश्यकताएं हैं- स्वतंत्र न्याय पालिका, सजग विधान मंडल, स्वतंत्र पत्रकारिता, संतुलित दलीय प्रणाली, जागरूक तथा प्रभावी जनमत एवं स्वतंत्र व प्रबुद्ध विद्या समुदाय, सशक्त श्रमिक संगठन और विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों का प्रभावी संगठन। हम एक दलहीन पद्धति पर सरकार की स्थापना चाहते हैं। जिस उपाय से केंद्र अधिकारों को अपने में निहित करता जा रहा है, यह हमारे लिए चिंता का विषय है। केवल इतना ही नहीं है कि सत्ता केंद्रीय संस्थाओं में स्पष्टता से उभरी है। वह तो मात्र एक व्यक्ति के हाथों में आ गई है। सभी निर्णय प्रधानमंत्री की आज्ञा पर होते हैं। जेपी इन घटनाओं से स्तब्ध रह गए। वस्तुत: एक नई नीति संबंधी उनके विचार ग्रामीण स्तर पर दलहीन पंचायत और तत्पश्चात राष्ट्रीय स्तर पर दलहीन राजनीति के रूप में ठोस आकार लेने लगे।

समाजवादी

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जयप्रकाश नारायण शुरू में मार्क्सवादी थे। वह भारतीय समस्याओं के समाधान के लिए मार्क्सवाद की ओर देखते थे। यह समस्याएं राष्ट्रीय आत्मनिर्णय तथा सामाजिक, राजनीति प्रगति से संबद्ध थीं। भूतपूर्व रूस में लेनिन की सफलता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, ''लेनिन की रोमांचकारी सफलता, जिसका विवरण प्राप्त करने की हमारी आतुरता इतनी प्रबल थी कि वह कभी शमित नहीं होती थी। उससे ऐसा लगता था कि मार्क्सवादी उपायों ने अपनी प्रभावशीलता निश्चित रूप से प्रतिष्ठित कर दी है।'' परंतु धीरे-धीरे उन्होंने रूस में इसकी कार्यविधि को देखते हुए तथा भारतीय साम्यवादी दल द्वारा गांधीजी तथा उनके कांग्रेस दल की कटु आलोचना करने के कारण मार्क्सवाद का त्याग कर दिया। इसके फलस्वरूप जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में कांग्रेस समाजवादी दल का निर्माण हुआ। जयप्रकाश को सदैव यह आशा लगी रही कि यह दोनों दल एक न एक दिन अवश्य ही एक-दूसरे में मिल जाएंगे। भारत के प्रति रूस के रवैये में परिवर्तन के कारण भारतीय साम्यवादी दल कांग्रेस समाजवादी दल के निकट आ गया। जयप्रकाश के कहने पर साम्यवादियों को कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल होने की आज्ञा दी गई थी। परंतु यह एक अस्थाई मामला था। भारतीय साम्यवादी दल का पर्दा शीघ्र ही खुल गया। जयप्रकाश ने इस दल को शांति की स्थापना तथा सामाजिक संतुलन के लिए उचित साधन नहीं समझा। अत: उन्होंने मार्क्सवाद का परित्याग करके लोकतांत्रिक समाजवाद में विश्वास व्यक्त किया। गांधीजी की विचारधारा की शंका ने भी उन्हें बहुत अधिक आकृष्ट किया। गांधीजी के स्वतंत्र भारत की सरकार से अपने को अलग रखने के कारण उनके आत्मत्याग का जयप्रकाश नारायण पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। विनोबा के भूदान आंदोलन ने भी उनके सामने गांधी की पद्धति को प्रस्तुत किया। अत: वे सर्वोदय आंदोलन में शामिल हुए और जीवनदानी बन गए। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, उन्होंने सर्वोदय को जनता का समाजवाद कहा है।

समाजवाद जेपी की दृष्टि में सामाजिक पुनर्निमाण की पद्धति है। आरंभ में, जनतांत्रिक समाजवाद के प्रवक्ता के रूप में वह समाजवादी समाज की स्थापना और उसे

टिप्पणी

सशक्त करने के लिए राज्य की सत्ता का प्रयोग चाहते हैं। इस प्रकार के समाज का उद्देश्य पदवी, संस्कृति, अवसर आदि की असमानताओं को दूर करना होगा। राज्य के प्रति उनका मोह उनके इस कथन से प्रकट है, ''संसार में कोई दल ऐसा नहीं है, जो बिना राज्यतंत्र के समाजवाद की स्थापना कर सके।'' उन्होंने स्वतंत्रता के आदर्श पर आधारित एक जनतांत्रिक अहिंसात्मक समाज व्यवस्था की योजना तैयार की। उन्होंने कहा, ''भारत की समाजवादी सरकार पूर्णत: प्रजातांत्रिक होनी चाहिए। प्रजातंत्र के बिना समाजवाद अचिंत्य है।''

उनके लिए समाजवाद जीवन की एक पद्धति है। यह ऐसे मूल्यों की एक माला है जिनके प्रति उनकी प्रतिबद्धता इतनी प्रगाढ़ थी कि उन्होंने अपने जीवन में इन पर आचरण करने का प्रयास किया।

समाजवादी होने के नाते उन्होंने देश की आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए अधिक बल दिया है। उन्होंने अवसर की समानता के सिद्धांत के महत्व पर भी बल दिया। उन्होंने राय दी है कि मौलिक आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना सांस्कृतिक सर्जनशीलता कदाचित संभव नहीं है। उनके शब्दों में, ''संस्कृति का फल लेने के लिए आर्थिक नियोजन पहली शर्त है।''

समाजवादी होने के नाते उन्होंने सबसे अधिक महत्व देश की आर्थिक समस्याओं को दिया और इन समस्याओं के सुझाव पर जोर डाला। उन्होंने कहा कि हर व्यक्ति को समान अवसर प्रदान होने चाहिए। उनके शब्दों में धन की असमानता का कारण पूंजी जो प्रकृति का एक उपहार है और उत्पादन के साधन कुछ व्यक्तियों के हाथ में आ जाते हैं और जिनका प्रयोग उन्हीं के लाभ के लिए किया जाता है। उससे श्रमिकों का आर्थिक शोषण होता है और उन्हें केवल उतनी ही मजदूरी मिलती है, जिससे वह जिंदा रह सकें।

उन्होंने निजी संपत्ति निजी मालकियत को समाप्त करने के लिए कहा। उन्होंने राय दी कि उत्पादन के साधन राज्य या समाज के पास होने चाहिए। उन्होंने बैंको, व्यापार और यातायात के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया। उन्होंने समाजवाद को पूंजीवाद के उत्पादन और मालकियत की प्रतिक्रिया कहा है।

उनके लिए समाजवाद जीवन का एक मार्ग है। ''यह ऐसी धारणाओं का प्रतिनिधित्व करता है, जिनके प्रति उनकी श्रद्धा ऐतिहासिक है और जिन्हें उन्होंने जीवन में वास्तविक रूप देने का प्रयत्न किया है।'' वे यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि समाजवाद पश्चिम से आयात किया गया है, क्योंकि बंटाई तो भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख आदर्श बना रहा है।

यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादियों के विपरीत, सर्वोदय की विचारधारा में दीक्षित होने से पूर्व, जेपी राज्य को रखे जाने के पक्षधर थे। यहां तक कि वह राज्य को एक ऐसा तंत्र मानते थे जो समाजवादी संरचना के लिए उपयोगी हो। उनके अपने शब्दों में, ''जो समाजवादी समाज का गठन चाहते हैं, उनके पास इसके लिए आवश्यक अधिकार तथा स्वीकृति होनी चाहिए। यदि राज्य आपके हाथ में है तो आप उस सारे भव्य प्रचार और शिक्षा के उपकरण तंत्र का प्रयोग कर सकते हैं जो आधुनिक विज्ञान ने आपको उपलब्ध कराया है। आप विधायन ही कर सकते हैं। विधायन की प्रत्येक क्रिया के पीछे राज्य की समझाने-बुझाने और अंतत: विवश करने की शक्ति होती है।''

टिप्पणी

इसके अतिरिक्त एक सच्चे भारतीय समाजवादी के नाते, वह कठोर परिश्रम करने, खून-पसीना बहाने वाले श्रमिकों की दयनीय दशा मात्र मूल दर्शक बनकर नहीं देख सकते थे। अत: वह ग्रामीण स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन के पक्षधर थे। वह ग्रामीणों को, जो मात्र कुछ घरों का समूह थे, से संसार से अलग पड़े, शेष संसार से पुन: जोड़ देना चाहते थे, उन्हें बिजली चालित रेल, टेलीफोन, रेडियो, सड़कें, बसें आदि आधुनिक सुविधाएं देकर। अपने समाजवादी राज्य के प्रत्येक गांव को वह एक ऐसी औद्योगिक इकाई बना देना चाहते थे, जो उत्पादन में सक्षम हो। वह इन्हें आत्मतुष्ट एवं स्वावलंबी बनाना चाहते थे। अत: उन्होंने भूमि कानूनों में मौलिक परिवर्तनों का सुझाव दिया।

उनके मतानुसार समाजवाद भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही है हमारी प्राचीन परंपराओं में भी अच्छी बातों को दूसरों के साथ बांटने की बात कही गई है। इसके समर्थन में उन्होंने जाति प्रथा, संयुक्त परिवार और ग्रामीण जीवन का उदाहरण दिया है। उन्होंने यहां तक कहा है- यद्यपि सुगठित समाजवादी सिद्धांत एक पाश्चात्य निर्धारण है तथापि इसका मूल आदर्श भारतीय संस्कृति का अंग है। किंतु यह एक विरोधाभास ही लगता है कि जेपी अधिकार छीनने के लिए वर्ग संघर्ष का समर्थन करते हैं जबकि ऐसे विचार को कहीं भी भारतीय संस्कृति में प्रश्रय नहीं है।

गांधी जी के प्रभाव के अधीन उन्होंने समाजवाद को प्राप्त करने के साधनों के महत्व पर बल दिया है। मार्क्सवादियों द्वारा हिंसा के पक्ष में प्रचार उन्हें अच्छा नहीं लगा। 19 से 21 मार्च तक हुए 1948 के नासिक सम्मेलन में इन्होंने गांधी जी की भूरी-भूरी प्रशंसा की तथा उनके द्वारा सुझाई तकनीक के प्रयोग को समाजवाद प्राप्त करने के लिए उचित ठहराया। उन्होंने कहा, ''गांधी जी ने हमें बहुत-सी बातें सिखाई हैं। उन्होंने जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात हमें सिखाई है, वह यह है कि बुरे साधनों से अच्छे उपाय प्राप्त नहीं किए जा सकते। एक अच्छे उद्देश्य द्वारा ही हम अपने समाजवादी समाज के उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। इस सम्मेलन में उन्होंने मार्क्स द्वारा प्रचारित श्रेणी संघर्ष की भर्त्सना की और इस प्रकार वह उपायों की शुद्धता को वरीयत प्रदान करने वाली गांधीवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट हुए। सत्याग्रह की तकनीक तथा विकेंद्रीकरण के दर्शन का उनपर गहन प्रभाव पड़ा। 1951 में उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि समाजवाद उसी स्थिति में गांधीवाद की उपेक्षा कर सकता है, यदि वह अपने को विपदस्थ करना चाहता हो।''

उनके शब्दों में, ''प्रत्येक वैज्ञानिक समाजवादी का यह कर्तव्य है कि वह गांधीवाद को समझे और उसके सार को ग्रहण करे।''

इसके अलावा, मार्क्सवाद के विपरीत, जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय के सिद्धांत को अपनाने से पहले राज्य के बनाए रखने के सिद्धांत में विश्वास व्यक्त किया। उन्होंने समाजवादी समाज की परिभाषा देते हुए कहा, ''यह जीवन की एक सरणी है, मानसिक दृष्टिकोण है और नैतिक आचरण है। इसमें व्यक्ति स्वेच्छा से समाज के व्यापक हितों के लिए अपने हितों को छोड़ देता है।''

दिसंबर, 1957 में उन्होंने, ''राजनीति अब मेरे लिए निष्प्रयोजन हो गई है, यह मानते हुए समाजवादी पार्टी से त्यागपत्र दे दिया।''

उन्होंने समाजवादी ढांचे का निर्माण करने तथा समाज के पुनर्निर्माण के लिए राज्य का अनिवार्य समझा। उनके शब्दों में, ''जो लोग समाजवादी समाज का निर्माण करना

टिप्पणी

चाहते हैं, ऐसा करने के लिए उनके पास शक्ति तथा पर्याप्त स्वीकृति होनी चाहिए। जब राज्य आपके हाथों में होगा, आप कानून बना सकेंगे, आप प्रचार तथा शिक्षा के सारे उपकरण प्रयोग में ला सकते हैं, जो कि आधुनिक समाजवाद द्वारा उपलब्ध हो सकते हैं। पृत्येक कानून के पीछे प्रेरित करने तथा दमन करने की राज्य अंतिम शक्ति होती है। आज के विश्व में कोई भी पार्टी तब तक समाजवाद का निर्माण नहीं कर सकती, जब तक उसके हाथों में राज्य की मशीनरी नहीं होती।''

एक समाजवादी के रूप में वे ग्रामीणों के जीवन के ढंगों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के पक्ष में हैं। वे गांवों को, जो कि केवल कुछ एक मकानों के समूह हैं और जो दुनिया से टूटे हुए हैं, प्रगतिवादी समुदायों में परिवर्तित करने के समर्थक हैं, जो कि बिजली की रेलों, टेलीफोनों, रेडियो, सड़कों तथा बसों द्वारा शेष संसार से संबंधित हों। वे चाहते हैं कि उनके समाजवादी राज्य में शहर की भांति, गांव भी उत्पादन की एक औद्योगिक इकाई बनें।

उन्होंने सरकारी खेती की भी राय दी है। उन्होंने कहा है कि, ''भारतीय जीवन को समाजवादी आधार पर ढालने के लिए कोई भी प्रयत्न कृषि में समाजवाद अर्थात सहकारी तथा सम्मिलित खेती–अत्यंत आवश्यक है। लाखों किसान छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों पर अपने ही लाभ के लिए खेती करते रहे, तो वे स्वार्थी तथा तंगदिल किसान समाजवाद कभी भी नहीं ला सकते।''

उन्होंने सरकारी खेती के बाद का अगला कदम सम्मिलित खेती बताया है। सांझी खेती में ''किसी के पास भूमि की व्यक्तिगत मालिकी नहीं होती और वितरण का आधार केवल उसमें लगाई गई मजदूरी होती है और कुछ एक असाधारण स्थितियों में असाधारण आवश्यकताओं का आधार भी वितरणपरक होता है। परंतु सांझे गांव में उपकरणों में भी व्यक्तिगत स्वामित्व बना रहता है, तथा सूअर, पशु तथा घोड़े भी व्यक्तिगत संपत्ति होते हैं।'' जहां पर सांझ रहन-सहन होगा, वहां पर कम्यून की स्थापना की जाएगी, पर यह अंतिम कदम होगा।

कुछ वर्षों के पश्चात जयप्रकाश को पता चला कि समाजवाद द्वारा उन आदर्शों की प्राप्ति नहीं होती, जिसका लक्ष्य उन्होंने सामने रखा है और मानवता को भी स्वतंत्रता, समानता, भ्रातृभाव तथा शांति के लक्ष्यों की पूर्ती में सहायता नहीं मिलती। अत: 1953 में बोध-गया के सर्वादय-सम्मेलन में, उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि जब तक समाजवाद सर्वोदय में परिवर्तित नहीं होता, स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृभाव का पथ-प्रकाश दूर का स्वप्न ही बना रहेगा। इसके पश्चात, जैसा कि कहा जा चुका है, जयप्रकाश जीवनदानी बन गए। उनके लिए राज्य महत्वपूर्ण साधन न रहा वे सर्वोदय के सिद्धांत की ओर झुक गए जिसमें राज्य तथा राजनीति का कोई स्थान नहीं है।

सर्वोदय का सिद्धांत– समाजवाद की एक नई पद्धति

जैसा कि ऊपर कहा गया है बोधगया-सम्मेलन में, जयप्रकाश ने राजनीति का त्याग करके जीवनदानी के रूप में विनोबा के प्रति अपनी सेवाएं अर्पित करने की घोषणा की। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि कानून दिलों को जोड़ नहीं सकता। राजनीतिक दल कानून पास करके भूमि को समाज की संपत्ति नहीं बना सकते। वास्तविक स्वतंत्रता केवल राजविहीन समाज में ही पूर्णरूप से प्राप्त की जा सकती है। उन्होंने लोकतंत्रीय समाजवादी कम्युनिस्टों तथा कल्याणकारी कर्ताओं को राजनीतिज्ञ ही माना, जो राज्य को लाखों में

टिप्पणी

प्रवेश करने के लिए पहले मालिक बनाने और बाद में राज्य के कार्यों को सम्मिलित करने की बात को सोचते हैं। उनका विचार है कि राज्य एक शक्तिमान व्यक्ति (Leviathan) है, जो लोगों की स्वतंत्रता को समाप्त करता है। अत: उन्होंने राज्य द्वारा शक्ति को बनाए रखने का विरोध किया और राज्य की निरंतर बढ़ रही शक्तियों के कारण उत्पन्न हुए सभी रोगों का एकमात्र इलाज माना है। उनके शब्दों में, ''एकमात्र इलाज यही है कि राज्य द्वारा शक्ति के प्रयोग के स्थान पर लागों के ऐच्छिक प्रयत्नों द्वारा समाजवादी जीवन का निर्माण तथा विकास किया जाए।'' अत: जो इलाज उन्होंने बताया है, वह है राज्य के समाजवाद के स्थान पर लोगों के समाजवाद को अपनाया जाए। उनके विचारानुसार सर्वोदय लोगों का समाजवाद है। जितना अधिक लोगों का ऐच्छिक समाजवाद होगा और राज्य के लागू किया गया समाजवाद कम होगा, उतना ही संपूर्ण तथा अधिक वास्तविक समाजवाद होगा। अत: इस प्रकार के समाजवाद में शक्ति तथा दल का कोई स्थान नहीं होगा। आत्मत्यागी कार्यकर्ताओं की एक टोली जनता में रहेगी, जो उनमें घूमेगी और उन्हें आत्मनिर्भर तथा आत्मसंयम के आधार पर अपने जीवन को बनाने के लिए उनकी सहायता करेगी। ऐसा लगता है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात, गांधी जी के कांग्रेस को तो तोड़ देने तथा लोक-सेवक संघ की भूमिका को निभाने के निर्देश का जयप्रकाश नारायण पर भी प्रभाव पड़ा, जिसके कारण उन्होंने ऐसा विचार लोगों के सामने रखा।

राज्य की बढ़ती हुई शक्ति पर प्रतिबंध लगाने के लिए, उन्होंने विकेंद्रीकरण की राय दी। इसके लिए उन्होंने गांधीवाद से भी सहायता ली। अत: उनके समाजवाद को गांधी जी द्वारा संसोधित समाजवाद कहा गया है। भूदान, ग्रामदान संपत्तिदान तथा ग्राम-स्वराज्य जयप्रकाश नारायण के नई किस्म के समाजवाद के विशेष लक्षण हैं, जिसे सर्वोदयवाद कहा जा सकता है। भूदान की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, ''मात्र सतही दृष्टिपात करने वालों के लिए भूदान मात्र एक ग्राम-सुधार का ही आंदोलन है। परंतु जिनकी दृष्टि की पैठ गहरी है, उनके लिए यह एक कहीं अधिक महत्वपूर्ण आंदोलन है। यह एक सर्वतोमुखी सामाजिक और मानवीय क्रांति है। मानवीय इसलिए क्योंकि समाज के साथ यह मनुष्य में भी परिवर्तन चाहता है। यह एक सामान्य, व्यापक स्तर पर अहिंसात्मक क्रांति की गांधीवादी तकनीक को व्यवहार में लाना है।''

इसी प्रकार वह ग्राम-राज की परिभाषा भी करते हैं, ''ग्राम-राज का अर्थ है स्वायत्त शासी ग्राम जो स्वत: विकसित होता है। यह एक ग्रामीण गणराज्य है। मात्र एक पंचायत नहीं है। ग्राम-राज ग्रामवासियों को ही अपने परिश्रम से स्थापित करना है और सरकारी अभिकरणों (Agencies) की सहायता के नहीं।'' वास्तव में मानवीय स्वतंत्रता की लगन ने जयप्रकाश को सर्वोदय के बारे में सोचने पर मजबूर किया। उन्होंने जोर देकर कहा, ''जब तक समाजवाद को सर्वोदय वाद में परिवर्तित नहीं किया जाता, लक्ष्यों की पूर्ति करना संभव नहीं होगा और जिस प्रकार हमें स्वतंत्रता की राख को चखना पड़ा था, उसी प्रकार आने वाली पीढ़ियों को भी समाजवाद की राख को चखना होगा।''

इससे स्पष्ट है कि वे वर्तमान समाज को बदलने के लिए उत्सुक हैं। उनकी कल्पना वाला समाज पेचीदा तथा ऊपर से भारी नहीं होगा। यह नौकरशाही प्रबंधकों, व्यावसायिक शासक-समर्थकों तथा राजनीतिज्ञों के लिए रहने का स्थान नहीं होगा। यह ऐसा भी समाज नहीं होगा, जिसका लालन-पालन खोखली रूढ़िवादिता द्वारा किया जाएगा। वास्तविक समाजवादी समाज का उद्देश्य स्वशासन, स्वप्रबंध, परस्पर सहयोग,

समानता, स्वतंत्रता तथा भातृभाव वाला समाज होगा। यह दलवाद से मुक्त होगा। हम एक दलहीन राज्यतंत्र चाहते हैं। हम न तो किसी के पक्षधर हैं तथा न विरोधी। यद्यपि विचारात्मक, धरातल पर सर्वोदय का विचार समाजवाद तथा साम्यवाद के निकट है, तथापि हम आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता का विकेंद्रीकरण इसलिए चाहते हैं जिनसे जनता के सामूहिक संगठनों में यह सत्ता निहित हो। इस प्रकार का समाज केवल उसी दशा में संभव हो सकता है, जब कि मनुष्य छोटे-छोटे समुदायों में रहता हो। व्यक्ति के संतुलित विकास के लिए प्रकृति तथा संस्कृति का, जिसकी कि वह उपज है, मिश्रण जरूरी है। इस प्रकार का मिश्रण केवल छोटे समुदायों में ही संभव हो सकता है।

टिप्पणी

वह गांधीवादी मार्ग था। गांधी जी के अनुसार भी भारतीय गांव तथा 'ग्राम-राज्य' उसके समाज के आधार हैं, समाज तथा स्वतंत्र लोगों का समाज, जो भारतीय भी भांति शांतिपूर्वक ढंग से रहते हैं।

नए समाज में शक्ति की राजनीति तथा दलीय राजनीति का कोई स्थान नहीं होगा। जयप्रकाश नारायण पर केवल गांधी जी तथा विनोबा का ही प्रभाव नहीं अपितु एम.एन. राय का भी प्रभाव पड़ा है जो इन्हीं की भांति मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के सिद्धांत तथा व्यवहार से भ्रांतिमुक्त हो गए।

1959 में जयप्रकाश नारायण ने युगोस्लाविया के ढांचे पर भारतीय शासन का मॉडल प्रस्तुत किया, जो विकेंद्रीकरण के सिद्धांत पर आधारित है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राजनीति विकेंद्रीकरण के बाद आर्थिक विकेंद्रीकरण भी अवश्य ही होना चाहिए। वास्तव में जयप्रकाश नारायण पूर्ण रूप से साझेदारी का लोकतंत्र कायम करने के पक्ष में हैं। इस प्रकार के लोकतंत्र की स्थापना के लिए पंचायती राज एक साधन समझा गया। उन्होंने पंचायती रात की स्थापना के लिए भी कुछ शर्तें प्रस्तुत की हैं। उनकी धारणा वाले पंचायती राज को क्षेत्र जिला-स्तर तक ही सीमित नहीं है। उसे शिखर के ढांचे तक ले जाना होगा। उनके शब्दों में, ''अगर (क) प्रांतीय स्तर के नीचे कोई 'स्व-शासन' की संस्था नहीं होगी तथा (ख) विभिन्न सरकारी स्तरों को आपस में एक नहीं किया जाता और ऊपर का स्तर नीचे वाले से अपनी शक्ति प्राप्त नहीं करता और अंतिम रूप में सारा ढांचा ग्राम-सभाओं पर ही आधारित नहीं होता, जिसमें कि देश की सारी वयस्क जन-संख्या सम्मिलित हो, तो न तो शक्ति विकास कर सकती है और न ही शासन का विकेंद्रीकरण हो सकता है।''

साझेदारी के लोकतंत्र के विचार का विश्लेषण करने से पता चलता है कि यह गांधीवाद के विकेंद्रीकरण तथा विनोबा के ग्राम-स्वराज्य का ही विकसित रूप है। डॉ. गोयल ने ठीक ही राय दी है कि, ''गांधी जी ने ढांचा प्रस्तुत किया, विनोबा ने रूप-रेखा प्रस्तुत की और जयप्रकाश नारायण ने उसमें ब्यौरा भरा है। और ब्यौरा जो पहले एक पिंजर ही नजर आता था, अब उसका विकास किया गया है तथा उसे परिमार्जित किया गया है।''

सर्वोदय समाज का विकास कैसे किया जाए

गांधी जी द्वारा जिस अहिंसक सामाजिक क्रांति की सिफारिश की गई है, उसके द्वारा आत्मनिर्भर तथा आत्मनियंत्रित सदस्यों वाले राज्य-विहीन तथा रेणी विहीन सर्वोदय समाज का निर्माण किया जाएगा। ऐसी क्रांति में बल प्रयोग का त्याग कर उसके स्थान में समझाने-बुझाने के उपाय का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की क्रांति में साध्य तथा साधन एक हो जाते हैं। चूंकि विश्व ने इस प्रकार की पद्धति का पहले कभी कोई तजुर्बा

टिप्पणी

नहीं किया, अतः इसे संदेह तथा संकोच की दृष्टि से देखे जाने की संभावना है। भारतीयों के लिए, जिन्हें इस विधि द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ''विनोबा के नये विचारों तथा पद्धति की सराहना करना कठिन नहीं होगा, क्योंकि यह उन्हीं विधियों तथा पद्धतियों का विस्तार है जिन्हें पहले राष्ट्रपिता ने प्रयुक्त किया था।''

नवीन सामाजिक व्यवस्था के लिए उनके द्वारा सुझाया गया अध्याय

जयप्रकाश जी ने केवल प्रजातंत्र को सुधारने के ही उपाय सुझाए वरन देश के अनेक दरिद्र लोगों को कतिपय महत्वपूर्ण सामाजिक और आर्थिक अधिकार दिलाने के लिए निम्न उपाय सुझाए-

(1) जनता के दुर्बल वर्ग के लिए जीवन योग्य आवश्यक सामग्री सुलभ कराने की व्यवस्था।

(2) आवश्यक वस्तुओं के मूल्य का लागत से संबद्ध रखना और कृषि तथा औद्योगिक मूल्यों में संतुलन बनाए रखना, जिससे मूल्यों को स्थिर किया जा सके।

(3) आवश्यकतानुसार न्यूनतम आया और वेतन का सभी के लिए प्रावधान हो।

(4) आर्थिक असमानताओं को यथासंभव कम करके उनमें 1:10 का अनुपात रखा जाए।

(5) कृषि श्रमिकों को न्यायोचित वेतन के प्रति आश्वस्त करने और भूमि के समान पुनर्वितरण को क्रियान्वित कर भूमि-सुधारों को लागू किया जाना चाहिए। इस प्रकार के वेतन का मुख्य भाग वस्तु रूप में दिया जाना चाहिए।

(6) पूर्ण रोजगार का आश्वासन तथा तदर्थ समुचित व्यवस्था की जाए। संबंधित तकनीक का प्रयोग कर ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था तथा कृषि के विकास को उच्चतम प्राथमिकता दी जाए। औद्योगीकरण के ऐसे कार्यक्रम भी लागू किए जाएं, जो ऐसी योजनाओं और तकनीकों पर आधारित हों, जिनमें विशाल स्तर पर जनसंघटन हों।

(7) विलास सामग्री के आयात और देश में उसके निर्माण पर प्रतिबंध लगाकर राष्ट्रीय मितव्यिता का वातावरण उपस्थित किया जाए।

(8) राष्ट्रीय आवश्यकता को ध्यान में रखकर शिक्षा के गुणात्मक और अंतर्विषय संबंधी स्तर को सुधारने के लिए प्रभावशाली उपाय किए जाएं।

(9) माध्यमिक स्तर से शिक्षा को व्यवसायपरक बनाया जाए और इसके साथ एक ऐसी आर्थिक आयोजना की व्यवस्था भी हो, जो रोजगार का निश्चित अवसर दे।

(10) पांच वर्षों में सार्विक (Universal) प्राथमिक और प्रौढ़ शिक्षा के लक्ष्य की प्रगति को उच्चतम प्राथमिकता दी जाए।

(11) सरकारी हस्तक्षेप पर, शिक्षण संस्थाओं का जहां तक संबंध है, नियंत्रण रखना और इनके प्रबंध को शिक्षक वर्ग को सौंप दिया जाए, जिससे विद्यार्थियों के प्रजातांत्रिक सहयोग से वह उन विद्यालयों का संचालन कर सके।

(12) सार्वजनिक जीवन को भ्रष्टाचार रूपी कैंसर के रोग से मुक्त कर उसे स्वच्छ किया जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि उच्च सत्ता प्राप्त अधिकारियों की नियुक्ति की जाए, जो उच्च पदासीन व्यक्तियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच कराएं।

टिप्पणी

ऐसी जांच के लिए संथानम् समिति की सिफारिशों को लागू किया जाए। श्रीमती गांधी के अधिनायकवादी शासन के विरुद्ध अनके दलों को एकत्र करने की उनकी कोशिशें सफल हुई। लोगों ने उनके आह्वान के प्रति अपना समर्थन जताया। नवगठित जनता पार्टी चुनावों में विजयी हुई। नई पार्टी उन्हें अपना आलोक-स्तम्भ मानती थी। भारत की कष्ट में फंसी जनता ने उन्हें लोक नायक की संज्ञा दी और कई ऐसी पार्टियों से मिलकर जो कभी-कभी अलग पक्ष रखतीं, अलग विचारधारा की बात करती थीं, को बचाने वाला मानकर उनका अभिनंनद किया।

इसके अलावा दलीय प्रणाली को समाप्त करने से गुटबंदी के रोग को नहीं हटाया जा सकता। दलीय प्रणाली के स्थान या गांवों में स्थानीय गुट बन जाएंगे। अत: राष्ट्रीय दलों का स्थान स्थानीय दल ले लेंगे, जो कि स्थिति को और बिगाड़ देंगे। इसके साथ सभी दलों को समाप्त करने से उचित चिर-विभिन्नता को समाप्त करने की बुराई भी सामने आ जाएगी। जयप्रकाश नारायण की दल-विहीन प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए मौरिस जोंस ने ठीक ही कहा है, ''गलियों के सिरों पर, जहां पर भागीदारी तथा हितों की समानता के लेबल लगे हैं, वहां पर अत्याचार तथा अनुकूलता के भद्दे चित्र देखने को मिलते हैं।'' वास्तव में जेपी स्वयं यह अनुभव करते थे कि दलीय प्रणाली समाप्त नहीं की जा सकती। अत: उन्होंने बाद में यह सम्मति व्यक्त की थी कि वह दलीय प्रणाली के विरुद्ध इतना नहीं है जितना भेदपूर्ण भाव के इस व्यवहार के वह विरोधी हैं जिसे दलों ने अपना लिया है। जनता पार्टी को स्थापित करने तथा उसे जीवित और सशक्त करने के लिए उनके निरंतर प्रयत्नों से पता चलता है कि वह उस समय तक अपने विचारों में स्पष्ट परिवर्तन ला चुके थे। एकाधिपत्य की स्थिति वाले दल के स्वस्थ विकल्प के रूप में वह जनता पार्टी को बढ़ते देखना चाहते थे।

सही बात यह है कि निर्णय लेने में मतैक्य संबंधी उनका विचार भी तीखी आलोचना का विषय रहा है। अंत में, मतैक्य संबंधी अवधारणा, जिसे वह निर्णय लेने के लिए आवश्यक मानते थे, उसे भी तीव्र आलोचना का विषय बनाया गया। यह कहा गया कि अंततोगत्वा मतैक्य यथावत स्थिति बनाए रखने के लिए एक छलावरण ही सिद्ध हो सकता है।

सार्वजनिक जीवन को भ्रष्टाचार के कैंसर के समान फैलते रोग के समाप्त करने के लिए उन्होंने उच्च पदस्थ व्यक्तियों पर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों की जांच संबंधी संथानम समित की सिफारिशों की स्वीकृति का आग्रह किया।

विभिन्न राजनीतिक दलों को मिलाने के उनके प्रयत्न जिनका उद्देश्य श्रीमती गांधी के अधिनायकवादी राज्य की चुनौती देना था, उसका परिणाम सामने आने लगा।

उनके आह्वान की लोगों में अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। नव गठित जनता पार्टी चुनावों में जीत गई। नई पार्टी ने उन्हें प्रकाश, प्रेरणा स्तम्भ के रूप में मान्यता दी। उन्हें लोकनायक के रूप में सम्मिलित किया गया। कष्ट संवलित जनता ने उन्हें अपना तथा उस पार्टी का रक्षक माना, जो अब तक पृथक ही नहीं, वरन विरोधी विचारधाराओं को मानने वाली पार्टियों से बनी थी।

पूर्ण क्रांति की अवधारणा

5 जून, 1974 को जेपी ने लोगों को भ्रष्ट सरकार, निकृष्ट अर्थ-व्यवस्था तथा जातिवादग्रस्त सरकार के लोगों को मुक्त कराने के उद्देश्य से क्रांतिकारी कार्यक्रम आरंभ

टिप्पणी

किया। 50,000 विद्यार्थियों के विशाल समुदाय को पटना में संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, ''मैं एक क्रांतिकारी कार्यक्रम आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं। यह एक पूण क्रांति है। हम यहां मात्र इस उद्देश्य से एकत्र नहीं हैं कि विधान सभा भंग हो। यह तो हमारे लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रथम सोपान है। हमें सुदीर्घ मार्ग तय करना है। 27 वर्ष की स्वतंत्रता के पश्चात भी हमारे सामने राष्ट्र का ऐसा परिदृश्य है कि हमारे राष्ट्रवासी भूख, महंगाई तथा भ्रष्टाचार की त्रासदी में पिस रहे हैं। घूस के बिना कोई काम नहीं होता। जनता का दमन तथा उत्पीड़न अन्याय द्वारा किया जा रहा है। अनके युवा विद्यार्थियों के जीवन विनाश के कगार पर हैं और उनका भविष्य अंधकारमय है। हमारी शिक्षण संस्थाएं भ्रष्ट हैं। प्रतिदिन जीवन-वृत्ति से हीन व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो रही है।'' गरीबी हटाओ का प्रचण्ड से प्रचंडतर करता जा रहा है। भूमिहीनों की संख्या प्रतिदिन बढ़ रही है। छोटा किसान लंगड़ाते-लंगड़ाते विपन्नता और विनाश की स्थिति में पहुंच रहा है। ऐसी स्थिति में संपूर्ण क्रांति के अतिरिक्त हम कुछ नहीं चाहते। उन्होंने अपने लक्ष्य निर्धारित करते हुए इस प्रकार मूर्त रूप दिया। (1) विधान सभा को भंग करना (2) सरकार को निष्क्रिय करना (3) कर तथा आबकारी शुल्क न देना (4) एक वर्ष के लिए शिक्षण संस्थाएं बंद रखकर जनता को संगठित कर उन्हें लोगों की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाना। इसके अतिरिक्त अन्य निर्धन अशक्त व्यक्तियों की समस्याएं सुलझाने और नैतिक मूल्यों का प्रचार भी उन्हें करना होगा। जेपी ने तो इस आंदोलन के विषय में यहां तक कहा, ''यह दूसरा 'भारत छोड़ो' आंदोलन है, 1942 का।'' उन्होंने विद्यार्थियों से एक वर्ष के लिए अपना अध्ययन बंद करने को कहा। विद्यार्थियों को प्रेरणा दी कि वह संकटग्रस्त राष्ट्र के लिए कोई रचनात्मक कार्य करने में अपनी शक्ति लगाएं। उन्होंने कहा, ''मैं इन विद्यार्थियों से कहता हूं कि वह बाहर आकर कार्य की तैयारी करें। गांधी जी ने लोगों से असहयोग करने का आग्रह किया था किंतु मैं आपसे केवल एक वर्ष मांगता हूं। यदि आप एक वर्ष भी नहीं दे सकते तो कुछ नहीं हो सकता।''

जेपी की सम्मति में सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और वैयक्तिक जीवन में भी क्रांति होनी चाहिए। उनके अनुसार संपूर्ण क्रांति में सर्वांगीण क्रांति (सात क्रांतियों–सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैचारिक, बौद्धिक, शैक्षिक तथा आध्यात्मिक, इन सभी क्रांतियों का जिसमें समावेश हो, वही होता है। इनकी संख्या बढ़ाई अथवा घटाई जा सकती है क्योंकि इनका आगे और श्रेणी में वर्गीकरण हो सकता है। दूसरे शब्दों में जेपी के आंदोलन का उद्देश्य मात्र सरकार को हटाना ही नहीं है, यद्यपि भ्रष्टाचार, भाई-जातिवाद तथा कार्य अकुशलता की स्थिति में ऐसा अवर्जनीय हो सकता है। उनकी सर्वांगीण क्रांति में समाज के सामूहिक परिवर्तन के विचार को भी समाविष्ट किया गया है। ब्रह्मानंद के इन शब्दों में एक रूढ़ि न होकर जीवन का एक दृष्टिकोण है। आकस्मिक परिवर्तन के अर्थ में यह क्रांति नहीं है। यह अपनी क्रमबद्धता तथा उद्देश्यों की दृष्टि से भिन्न है। इसके व्यवस्था-क्रम में हिंसा को कहीं प्रश्रय नहीं है। मूलत: यह एक जनआंदोलन है। यह पक्ष विशेष एक सीमित आंदोलन नहीं है। इसका उद्देश्य मनुष्य जीवन की सभी विधाओं-आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक संबंध में आमूल परिवर्तन है। वास्तविक तथा प्रभावी जनशक्ति का आधार, जिनके द्वारा सभी का उत्थान हो, उनकी कल्पना है।'' सरकारी क्षेत्र में वह सुझाव देते हैं कि (1) एक ऐसी स्वशासी संस्था का गठन जिसे केंद्र तथा राज्य दोनों में कानूनी अधिकार प्राप्त हो। केंद्र में इसे लोकपाल कहा जा सकता है। पांच सदस्यीय इस संस्था को यह अधिकार हो कि वह जांच के कार्य की पहल अपनी

टिप्पणी

ओर से, किसी नागरिक, निजी संस्था अथवा दोनों की मांग कर करवा सकती। (2) निर्वाचन की प्रक्रिया को सत्ता बनाया जाए। उसे सच्चा प्रातिनिधिक स्वास्थ्य प्रदान किया जाए तथा प्रशासन को जनता के अधिकाधिक निकट लाय जाए। जागरूक और सजग रहने वाली ऐसी जन समितियों का गठन किया जाए, जो यह सुनिश्चित करें कि जनता को दिए वचनों का पालन किया जा रहा है। राजनीति के अतिरिक्त वह समाज में शिक्षा संबंधी सुधारों के लिए इन उपायों का सुझाव देते हैं। (1) शिक्षा का संबंध राष्ट्र की समस्याओं से संबद्ध हो और इसके माध्यम से शिक्षित व्यक्ति उन समस्याओं से जूझने की योग्यता प्राप्त करें। (2) शिक्षा का माध्यम व्यापक हो और निरक्षरता और अज्ञान को देश से निष्कासित कर दिया जाए। (3) विभिन्न आयोगों द्वारा प्रस्तुत आमूल परिवर्तन संबंधी सभी सुझावों को स्वीकार कर लागू किया जाए। प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालयीय स्तर तक शिक्षा प्रणाली का पूरी तरह पुनर्कल्पन (Overhaul) किया जाना चाहिए। (4) विद्यार्थी गांवों में झुग्गी में रहने वाले प्रत्येक आयु से व्यक्ति का परिचय शिक्षा के मूलभूत सिद्धांतों से, उसके आद्यांगों (Rudiments) से कराएं।

इसी प्रकार उन्होंने समाज में व्याप्त कुछ कुरीतियों को उन्मूलित करने का भी सुझाव दिया। इन कुरीतियों में से अनेक उत्तराधिकार प्राप्त हुई है। उनके विचार से जाति, प्रथा, विवाह, जन्म तथा मृत्यु से संबद्ध कुछ रीतियों ऐसा की कुछ बुराइयां हैं। इन बुराइयों का समूलोच्छेदन अत्यंत आवश्यक है। हरिजन तथा अनुसूचित जातियों के उन व्यक्तियों को, जो आर्थिक दृष्टि से निर्धन और सामाजिक दृष्टि से पिछड़ हुए हैं, को भारतीय समाज की मुख्य धारा में शामिल किया जाए।'' अतः उन्होंने युवकों को सुझाव दिया। ''यह हमारे कार्य का मुख्य घोषणा पत्र या मोर्चा होना चाहिए कि युवकों को बुराइयों से लड़ने को प्रेरित किया जाए, बुराइयां जो दहेज प्रथा, जाति, वर्ग भेद, अस्पृश्यता तथा अनेक संप्रदायों में मतभेदों के रूप में आज भी विद्यमान हैं।'' वे आर्थिक मोर्च पर, किसानों, भूमिहीन श्रमिकों, कर्मचारियों तथा अन्य मध्यवर्गीय लोगों के सामने आने वाली दिन-प्रतिदिन की समस्याओं से अच्छी प्रकार परिचित थे। अतः उनका सुझाव था (1) मूल्य-वृद्धि पर रोक जिससे महंगाई पर नियंत्रण किया जा सके। (2) कृषक मजदूरों की स्थिति में उनके पारिश्रमिक में वृद्धि कर सुधार लाना। राष्ट्र का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा, ''गांधीवादी वैचारिक परिधि के अंतर्गत सामाजिक, आर्थिक समानता के आधार पर विशुद्ध प्रजातंत्र की स्थापना की जानी चाहिए।''

इसकी प्रगति के उपाय

जेपी सपनों की इस पूर्ण क्रांति को अहिंसात्मक उपायों के द्वारा प्राप्त किया जाना है। उन्होंने कहा था, ''पूर्ण क्रांति को शांतिपूर्ण उपायों द्वारा प्राप्त करना है। यह कार्य समाज की प्रजातांत्रिक रचना को किसी प्रकार का आघात पहुचाए बिना होना चाहिए। लोगों की प्रजातांत्रिक जीवन-पद्धति को भी स्थिर रखना होगा।'' किंतु, वह लोगों द्वारा सीधी कार्रवाही का सुझाव देने में संकोच नहीं करते। इस कार्रवाई के अंतर्गत नागरिक, अवज्ञा, शांतिपूर्ण प्रतिरोध, असहयोग–संक्षेप में सत्याग्रह का व्यापक प्रयोग ही है। इस सत्याग्रह की कुछ अनकहीं बात जो अर्थापत्ति से प्राप्त होता है, वह है आत्म परिवर्तन। उन्होंने दो प्रकार की समितियों के गठन का सुझाव दिया, ''एक में विद्यार्थी होंगे तथा दूसरी में सामान्य जनता। पहली का गठन कालिजों तथा उत्तर माध्यमिक स्कलों में किया जाएगा तथा दूसरी का ग्राम पंचायतों के स्तर पर। लोगों को इस बात के लिए समझाया-बुझाया जाएगा कि वह अपने

टिप्पणी

विवाद थानों अथवा न्यायालयों में न ले जाएं। विवादों को उन्हें स्वयं ही सुलझा लेना चाहिए। इसका सम्भावित परिणाम समान्तर प्रशासन के उभरने के रूप में साने आ सकता है। विश्वविद्यालय बंद कर दिए जाएं। कक्षाओं और परीक्षाओं का बहिष्कार किया जाए। उन्होंने अविभावक तथा माता-पिताओं से भी अनुरोध किया कि इसे एक साधारण आंदोलन के रूप में न देखें। वास्तव में यह एक ऐसा आंदोलन है जिसके लाभ से पूरे समाज में परिवर्तन आ जाएगा।''

क्रांति की उनकी धारणा पर यह टिप्पणी डॉ. लाल ने उपयुक्त ही की है। वह कहते हैं, 'इस अर्थ में कि यह क्रांति सत्ता अथवा पद संबंधी कोई ठोस लक्ष्य अपने सामने नहीं रखती, इसकी सफलता अथवा असफलता का निर्णय किया जाना कठिन है। इसके सामने एक पारंपरिक राजनीतिक विजय का भी लक्ष्य नहीं है। इसका लक्ष्य व्यक्ति में पुनर्जागरण के द्वारा एक नये मानव में उसे रूपांतरित करना है। इस लक्ष्य की ओर जेपी का जीवन एक जय-यात्रा है, विजय की ओर एक यात्रा।'' वास्तव में तो क्रांति का उत्स होता है लागों का हृदय तथा मन। पूर्ण क्रांति के झरने भी वहीं होते हैं। एक राजमहल में सत्ता में परिवर्तन करने की क्रांति एक रात में की जा सकती है। परंतु जेपी के सपनों की पूर्ण क्रांति तो दूसरे ही प्रकार की है। इसके अनुसार तो सदियों से उनकी मानसिकता में अधिश्लिष्ट (Ingrained) रची बसी वैचारिकता, दृष्टिकोण और मूल्य इन्हें दूर करने कीबात आती है। इसके अतिरिक्त इसके लिए समर्पित, उत्साहित और उत्साह भरते व्यक्तियों की आवश्यकता है, ऐसे लोगों की जो अच्छी प्रकार इस सम्पूर्ण क्रांति के उद्देश्यों की जनता को जानकारी देकर उनका समर्थन पा सकें। जयप्रकाश जनमानस को चिरयुगीन अंधविश्वासों और ऐसी पुरातन, सर्वथा अप्रासंगिक और अनुपयोगी रीतियों के पास से मुक्त देखना चाहते हैं। उनकी अवधारणा सर्व समावेशकारिणी है। वह प्रत्येक व्यक्ति को मिलाना चाहते हैं इस काम में कि समाज की पुनर्रचना हो जिससे यह अधिक से अधिक अंश में आत्मनियमन का उद्देश्य सिद्ध कर सके, सरकार का निगमन भी इस प्रकार हो कि वह एक परीक्षित और विश्वस्त माध्यम सिद्ध हो–जनादेशक को प्रभावी रूप से क्रियान्वित करने की सुपरीक्षित तथा विश्वस्त माध्यमों की भूमिका निभा सकें।

समग्र क्रांति की उनकी अवधारणा को देश के शान्त वातावरण में उद्वेलन उत्पन्न करने की कुचेष्टा के रूप में आलोचना करने वालों को जेपी का यह उत्तर है, ''मैं मात्र इतना ही कहना चाहूंगा कि जब राष्ट्रीय आंदोलन चल रहा हो तो उसका मात्र यही सीमित उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि इसमें पूर्व आरंभ में क्या स्थिति थी। उचित तो यह है कि क्रांति के इस गर्म वातावरण का लाभ उठाते हुए, हम अपने उद्देश्यों में व्यापकता लाएं, उन अन्य क्षेत्रों को समाविष्ट करते हुए जहां सुधार की अपेक्षा है।''

वास्तव में जेपी की क्रांति तो सामाजिक परिवर्तन के लिए सामाजिक क्रांति के रूप में एक गांधीवादी विकल्प ही है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा विधा को अपने परिवर्तनोन्मुखी करने के लिए यह एक जनतांत्रिक और अहिंसात्मक संघर्ष का वैज्ञानिक दर्शन है। यह स्पष्ट है कि जेपी को किसी भी स्थिति में यह अभिप्रेत नहीं था कि राष्ट्र की प्रजातांत्रिक संरचना में किसी प्रकार की कोई विकृति अथवा लोगों की प्रजातांत्रिक पद्धति पर कोई कुप्रभाव पड़े। परंतु उनकी यह सम्मति अवश्य थी, कि यह प्रजातंत्र की क्रिया वृत्ति को मात्र निर्वाचन, विधायन, संयोजन तथा प्रशासनिक क्रियान्वयन (Administrative Execution) तक ही सीमित रखा जाए। इसके अंतर्गत लोगों द्वारा सीधी कार्रवाई भी होनी चाहिए– जो व्यापकतम अर्थ में सत्याग्रह है। ऐसे सत्याग्रह का एक अकथित,

टिप्पणी

अप्रत्यक्षत: पड़ने वाला प्रभाव होगा, आत्म-परिवर्तन...। वास्तव में ऐसी क्रांति व्यक्ति तथा समाज में होने वाले गहरे परिवर्तन का परिचय देती है। इसका उद्देश्य है मनुष्य के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में सर्वपक्षीय, सर्वांगीण परिवर्तन लाना। सभी को कष्टमुक्त, सुखी करने के लिए इसकी परिकल्पना एक ऐसी सत्ता की है जो विशुद्ध रूपेण जनता में विहित हो। पहले ही स्थिति को पूर्ववत रखने के विचार के लिए एक आवरण ही सिद्ध हो। इस प्रकार तथाकथित मतैक्य का सिद्धांत, परिवर्तन लाने के मार्ग में अवरोध उपस्थित कर सकता है। कभी-कभी यह धूर्तता पर पड़ा एक आवरण मात्र ही सिद्ध होता है जो परिणाम में चुनाव से भी भयंकर होता है।

मूल्यांकन : जयप्रकाश नारायण के मानवतावाद के बारे में कोई विवाद नहीं है। उनके मानवतावादी दृष्टिकोण के कारण ही डकैतों ने, जो पुलिस से भी नहीं दबते थे, हथियार डाल दिए। जनता को साम्राज्यवादी राजनीति प्रभुत्व तथा देसी सामंतशाही से मुक्ति दिलवाने के लिए समाजवादी विचारधारा के अनुस्थापन के प्रयत्न सराहनीय हैं। उनका राजनीति का त्याग करके जीवनदानी बनने का निर्णय भी अमूल्य है। वास्तव में उनका नये प्रकार के समाजवाद जो कि गांधी तथा विनोबा का जनता की सेवा का ढंग, केवल भारतीय समाज का सामाजिक तथा आर्थिक दर्शन ही नहीं है अपितु यह भारतीयों का नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के लिए भी एक निष्कपट प्रयत्न है। उनकी स्वतंत्रता तथा पीड़ित मानवता के प्रति श्रद्धा तथा लगन के कारण ठीक ही उनकी प्रसिद्धि अलौकिक शिखरों को छू सकी है।

परंतु उनके कुछ विचारों के कारण आलोचकों ने उन पर स्वप्नवादी चिंतक, आदर्शवादी स्वप्नद्रष्टा तथा एक उदार अंतर्राष्ट्रीय होने का आरोप लगाया है। कश्मीर समस्या के बारे में भी उनके दृष्टिकोण की कटर राष्ट्रवादी तथा युवक नेताओं विद्यार्थियों द्वारा कटु आलोचना की गई है। उन्होंने यहां तक कह दिया है कि जयप्रकाश नारायण दृढ़ राष्ट्रवादी होने के बजाय आदर्शवादी अंतर्राष्ट्रवादी है।

दूसरे, उनके विकेंद्रीकरण के सुझाव तथा केंद्र को दुर्बल बनाकर उसे सवायत्त गांव समुदायों का नेतृत्व करने तथा उन्हें परामर्श देने का ही काम सौंप देने की बात राजनीतिक दृष्टि से संभव नहीं है। भारत दोबारा ऐसी महान गलती नहीं कर सकता। कमजोर केंद्र के कारण विदेशी आक्रमणकारी भारत में आकर अपने पांव पक्के करते रहे हैं। एक वास्तववादी राजनीतिज्ञ केंद्र को कमजोर करके कभी भी भारत की स्वतंत्रता को खतरे में डालने के लिए तैयार नहीं होगा। जयप्रकाश नारायण इस प्रकार की आलोचना के बारे में सजग हैं। अत: उन्होंने कहा है कि, ''एक मजबूत केंद्र प्रत्येक मामले में दखल देकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन तो कर सकता है परंतु वास्तव में वह धीमी चाल चलने वाला अयोग्य तथा दुर्बल सिद्ध हो सकता है। राष्ट्रीय एकता अथवा शक्ति की निर्भरता उन विषयों की सूची पर नहीं होता, जो कि केंद्रीय सरकार के पास होते हैं वरन इसकी निर्भरता कई दूसरे तत्वों पर है। जैसेकि भावात्मक एकता, सामान्य तजुर्बों तथा महत्वाकांक्षाओं, राष्ट्रीय स्वाभाविक विशेषताओं, परस्पर सद्भाव तथा समझौतों तथा राष्ट्रीय नेताओं के हृदयों की विशालता तथा बुद्धिमत्ता, इत्यादि।'' वास्तव में जयप्रकाश नारायण ने राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने के लिए शक्तिशाली केंद्रीय महत्व को नहीं समझा।

तीसरे, उनके विचारों में ग्रामीण संस्कृति वाले, जोकि भूतकाल का चिह्न हैं, आधुनिक पदार्थवादी सभ्यता तथा विकसित प्रोद्योगिकी में ठीक नहीं बैठ सकते।

टिप्पणी

पांचवें, जयप्रकाश दल-प्रणाली से कुछ बहुत अधिक ही दुखी नजर आते हैं। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार दलीय प्रणाली के बिना लोकतंत्र उसी तरह है, जिस तरह किश्ती पतवार के बिना अथवा जहाज चालक के बिना हो। ब्रिटिश लोकतंत्र के लिए दलीय प्रणाली संपत्ति सिद्ध हुई है। भारत में वर्तमान बहुदलीय प्रणाली के स्थान पर द्वि-दलीय प्रणाली अच्छी सिद्ध हो सकती है। दल प्रणाली के समाप्त होने से गुटबंदी समाप्त नहीं होगी। दलों का स्थान ग्रामों में गुट लेंगे। राष्ट्रीय दलों का स्थान स्थानीय दल लेंगे जिससे स्थिति और बिगड़ेगी। इसके अतिरिक्त दलों का समाप्त होना अधिक हानिकारक सिद्ध होगा क्योंकि वास्तविक (Genunine) मतभेदों को कुचला जाएगा क्योंकि मॉरिस जौन ने जेपी को दल विहीन प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए कहा, ''जन सहभाग और जनहित की समानता का स्थान निरंकुशता और पूर्ण सहमति (Conformity) लेगी। वास्तव में जेपी ने महसूस किया कि दल प्रणाली समाप्त नहीं हो सकती, इसलिए उन्होंने यह राय दी कि वह दल प्रणाली के विरोधी नहीं हैं बल्कि पक्षपात की भावना, जो दल के समर्थकों के मन में आ जाती है। नि:संदेह श्रीमती इंदिरा गांधी के विरुद्ध जनता पार्टी का गठन करना, इस बात को सिद्ध करता है कि वो दलविहीन लोकतंत्र के समर्थक नहीं रहे।

छठे, निर्णय लेने में सभी के एकमत होने के उनके आग्रह को भी तीखी प्रतिक्रिया का केंद्र बनाया गया है। एकमत होना अंतत: स्थिति को यथावत रहने देने के लिए एक आवरण मात्र ही हो सकता है। इस प्रकार सर्वसम्मत होने के यह सिद्धांत परिवर्तन लाने के मार्ग में गतिरोध ही सिद्ध हो सकते हैं। किसी समय, यह धूर्तता छिपाने के लिए एक आवरण सिद्ध हो सकता है। यह चुनावों से भी घातक हो सकता है।

सातवें, प्रत्यक्ष चुनावों की उनकी आलोचना अनावश्यक है। नि:संदेह, चुनाव आवेगों को उभारते हैं, जातिगत और वर्गगत भावनाओं को भी उभारते हैं तथापि वह प्रत्याशियों को सत्ता की ओर लुभाते हैं और उन्हें विकास के लिए उत्प्रेरणा भी देते हैं। इस प्रकार वह एक बोझ होने के स्थान पर एक गुण है।

आठवां, जेपी के सर्वोदय चिंतन को समाजवाद नहीं कहा जा सकता। सर्वोदय जिसे जेपी जन समाजवाद कहते हैं। एक कल्पना थी भूदान आंदोलन, जिसे सर्वोदय की ओर एक महत्वपूर्ण कदम कहा जाता है, असफल रहा। जेपी ने स्वयं इस बात को भी स्वीकार किया। इसी प्रकार ग्रामदान और ग्राम स्वराज्य असंभव प्रतीत होते हैं। हर तरह के दान वास्तव में अस्थायी दौर समझे जाते हैं क्योंकि दानी भावना में बहकर दान की घोषणा करते हैं। समाजवाद भी धीरे-धीरे नई आर्थिक नीतियों–उदारता और निजीकरण के कारण समाप्त हो जाता है।

नवां, उनके द्वारा विद्यार्थियों की अपनी पढ़ाई को छोड़कर भ्रष्ट सरकार को उलट देने की राय के भयंकर परिणाम निकल सकते हैं। प्राय: विद्यार्थी मार्गभ्रष्ट अस्त्र होते हैं। वे मुसीबत खड़ी कर सकते हैं और हिंसा पर उतारू हो सकते हैं, जिसे जयप्रकाश ने ठीक नहीं समझा, परंतु अगर युवक राजनीति में भाग लेंगे तो उन्हें रोकना असंभव होगा। चतुर तथा चरित्रहीन राजनीतिज्ञ अपने हितों की पूर्ति के लिए बड़ी आसानी से उनका शोषण कर सकते हैं।

अंतिम बात यह है कि पूर्ण क्रांति की उनकी संकल्पना शीघ्र प्रसिद्धि प्राप्त करने का एक सुलभ उपकरण ही लगता है। यह उनके आलोचकों की सम्मति है। अहिंसा का

प्रवक्ता एक असाधारण विद्रोही बन गया। उनके द्वारा प्रज्वलित क्रांति की अग्नि शीघ्र फैलने लगी। युवक पागल हो गए। आशंका थी कि राष्ट्र को गंभीर क्षति होगी यदि सारा महाद्वीप इस आग की चपट में आ जाएगा। जेपी के राजनीतिक तथा आर्थिक विचारों के विरुद्ध आलोचकों की तीखी टिप्पणियां अतिश्योक्ति में ही हैं। उन्होंने मौन अहिंसात्मक क्रांति का मात्र प्रसार ही नहीं किया, स्वयं उस विचार के अनुरूप उनका व्यवहार भी था। मार्च, 1977 के लोकसभा निर्वाचनों में जनता पार्टी की भव्य सफलता, यह प्रमाणित करती है कि जेपी को लोकनायक की उपाधि उचित ही दी गई थी। उन्होंने जो स्वर उठाया, वह नक्कारखाने में तूती की आवाज के समान अप्रभावी नहीं रहा। राष्ट्र ने इस समय जिस जागरूकता का परिचय दिया, उसके परिणामस्वरूप उत्तरोत्तर क्षरण की ओर बढ़ने वाले हमारे राजनीतिक जीवन में क्रांति आई। निश्चय ही इसका श्रेय जेपी को ही जाता है, जो अंतिम सांस तक राष्ट्र-सेवा में संलग्न रहे।

सर्वोदय तथा इसका राजनीतिक तात्पर्य

सर्वोदय : इसकी परिभाषा–जैसा कि ऊपर के पृष्ठों में कहा गया है, सर्वोदय अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की मशीनरी तथा उसके उपकरणों के विरुद्ध है। यह राजनीति को बिलकुल पसंद नहीं करता। यह दलीय दलविहीन लोकतंत्र का समर्थक है, जिसे (1) सामुदायिक भावना को, पंचायतें स्थापित करके तथा दान और ग्रामदान आंदोलन चलाकर, पैदा करना (2) ऐसे समाज की स्थापना करना, जो कि दलों के रोग से तथा दलीय आधार पर चुनाव-प्रणाली से मुक्त हों। (3) सबके द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए देश सभी अच्छे तथा ईमानदार व्यक्तियों का साझा मोर्चा बनाना। (4) पार्टी-भावना तथा पार्टी के निर्देशों का अंधाधुंध तरीके से पालन करने की अपेक्षा अंत:करण के आदर्शों के अनुसार काम कर सकें आदि उपायों से प्राप्त करना।

इसके अतिरिक्त यह राजनीतिक तथा आर्थिक, दोनों क्षेत्रों में विकेंद्रीकरण का प्रचार करता है। विकेंद्रीकरण की सृजनात्मक नागरिकता के स्वस्थ विकास के लिए आवश्यकता होती है, जिसका विकास, लोगों को उनके अपने मामलों के प्रबंध तथा नियंत्रण के लिए प्रशिक्षित करने तथा अनुशासित करने से विकसित किया जा सकता है। अत: ग्राम-पंचायतों को ''ग्राम गणराज्यवाद तथा सामुदायिक लोकतंत्र के लिए स्वाभाविक रूप से शिक्षण-केंद्र के रूप में काम करना चाहिए।'' ग्राम राज्य तभी संभव हो सकता है जब कि सारी राजनीतिक सत्ता ग्रामीणों के हाथ में हो। लोगों द्वारा प्रशासन को चलाने का वही सिद्धांत जिला तथा प्रांतीय स्तर पर लागू किया जाए। सर्वोदय की धारणा के अनुसार स्वशासन ही तानाशाही के अतिक्रमण के आगे रोक लगा सकता है।

इसके अतिरिक्त सर्वोदय स्वशासन द्वारा लोगों के सक्रिय भागीदारी से ग्राम कर्मचारियों के ऊपर कड़ी निगरानी रखी जाए ताकि वे भ्रष्ट तथा पतित न होने पाएं। सर्वोदय लोगों को ऊपर उठाता है और उन्हें ध्यान का केंद्र बना देता है। वर्तमान स्वराज्य पर लिखते हुए विनोबा ने कहा, ''स्वराज्य आया है परंतु क्या लोगों को इससे उत्साह मिला है? स्वराज्य का अर्थ सत्ता का विकेंद्रीकरण होता है।'' ग्रामदान अथवा ग्रामीणीकरण से वह शक्ति लोगों के पास आई है, जो कि उनकी है, परंतु दुर्भाग्यवश इसके बारे में वे सचेत नहीं थे। इससे अधिक दुर्भाग्य की बात यह है कि यह सत्ता दिल्ली जैसे स्थान पर केंद्रित है, लोगों की स्वतंत्रता द्वारा ही आज के दिल्ली राज्य को ग्राम-राज्य तथा राम-राज्य में परिवर्तित किया जा सकेगा।''

टिप्पणी

सर्वोदय का उद्देश्य जितना शीघ्र हो सके, वास्तविक अहिंसावादी लोकतंत्र की स्थापना है। यह अधिकेंद्रित कल्याणकारी राज्य की निंदा करता है, जो लोगों की गतिविधियों पर एकाधिकार जमाता है और लोगों को, 'अधिकेंद्रित व्यूहरचना के पाताल में ले जाकर' सुलगा देता है। अत: सर्वोदय लोगों को यह सीखने की प्रेरणा देता है कि, ''वही सरकार उत्तम है जो कम शासन करती है (That government is the best, which governs the least)। सर्वोदय लोकशक्ति के महत्व पर बल देता है और इसे दंड शक्ति अर्थात दमनकारी हिंसा की शक्ति-का प्रतिरूप (Substitute) समझता है।

सर्वोदय का अंतिम लक्ष्य राज्य का अंत करना है।

इसका राजनीतिक तात्पर्य :

सर्वोदय का तात्पर्य सबके लिए खुशी तथा सबकी प्रगति है। अत: इसके दो महत्वपूर्ण राजनीतिक तात्पर्य हैं– (1) वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत का परित्याग। (2) बहुमतवाद की धारणा का अंत करके अल्पमत के अधिकारों तथा हितों की सुरक्षा।

(1) वर्ग संघर्ष का विरोध

वर्ग संघर्ष की धारणा का समर्थन इस आधार पर किया जाता है कि सामाजिक ढांचे में विभिन्न तथा विरोधपूर्ण हित बने होते हैं। दूसरी ओर सर्वोदय समाज में अपना काम मैत्री तथा सामंजस्य से शुरू करता है। सर्वोदय समाज में सामाजिक तथा राजनीतिक प्रयत्नों का लक्ष्य श्रेष्ठ प्राणी को प्रसन्न करने की अपेक्षा सारे समाज की भलाई को बढ़ावा देना होता है। सर्वोदय अहंवाद से अलग रहता है तथा सत्ता के लिए लालसा और धन के लोभ से घोर घृणा करता है। यह निरपेक्ष सेवा तथा लोक-कल्याण पर बल देता है। अत: यह मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत के विरुद्ध है, जो कि निरंतर श्रेणी-प्रतिवादिता तथा हिंसा का समर्थन करता है। सर्वोदय समाज में वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के समाज में हिंसा का बिलकुल कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार के समाज में सामाजिक भलाई तथा सामंजस्य का सिद्धांत कार्ल मार्क्स के वर्ग संघर्ष सिद्धांत का स्थान ले लेता है। सामाजिक सामंजस्य के सिद्धांत की केवल ऊपर से सराहना नहीं की जानी चाहिए बल्कि इसका प्रयोग दैनिक आचरण में होना चाहिए। अमीरों से जबर्दस्ती धन नहीं छीनना चाहिए। वरन इसके स्थान पर जरूरतमंद को इस धन में साक्षी बनाने के स्वाभाविक प्रयत्न किए जाने चाहिए। अत: जनता के नैतिक प्रस्ताव द्वारा शांतिमय, समाजिक पुनर्निर्माण के युग का आरंभ करना चाहिए। इस प्रकार के शांतिमय प्रस्ताव का उद्देश्य सत्ता को हथियाना नहीं होगा बल्कि इससे लोगों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आएगा। इससे सामाजिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता तथा न्याय कायम होगा।

(2) बहुमतवाद की धारणा की अस्वीकृति

सर्वोदय के प्रचारक बहुमतवाद की धारणा को भी स्वीकार नहीं करते। उनके विचारानुसार यह जरूरी नहीं कि विशिष्टता का तत्व बहुमत के निर्णय में विद्यमान हो। समाज एक आंगिक ढांचा है और इसके सदस्य नैतिक तथा सांस्कृतिक मायनों (Values) को धारण करने वाले हैं। अत: छोटे-से-छोटे व्यक्ति के जीवन तथा हितों को हानि पहुंचाने का कोई औचित्य नहीं है। किसी एक गुट में नाम लिखवा लेने अथवा फीस देकर किसी

टिप्पणी

दल की सदस्यता प्राप्त करने से कोई भी व्यक्ति बहुमत में अपना स्थान ग्रहण कर सकता है। अत: सत्य का गला घोंट दिया जाएगा अगर बहुमत के निर्णय का अनुसरण किया जाएगा। इसके स्थान पर अगर प्रत्येक सदस्य की सम्मति तथा महत्वाकांक्षा को मान्यता दी जानी हो तो आम समझौता के सिद्धांत को माना जा सकता है। विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद से अथवा तर्क-वितर्क से आपसी सद्भाव पैदा किया जा सकता है। किसी निर्णय पर पहुंचने के लिए अथवा किसी सामाजिक कर्म के लिए अप्राकृतिक ढंग से सिरों को गिनने की अपेक्षा यह बहुत बढ़िया तरीका होगा। अत: बहुमतवाद की धारणा को आम समझौता की धारणा से बदलना चाहिए। सर्वोदय आम समझौता के सिद्धांत का समर्थन करता है, जिससे विनोबा एक निर्णय के पक्ष में जबर्दस्त बहुमत (overwhelming majority) को मानने के लिए तैयार हैं। अल्पसंख्यक वर्ग के हितों की सुरक्षा के लिए सर्वोदय अनुपाती प्रतिनिधित्व (Proportional representaiton) की विधि को ठीक नहीं समझा। वह बहुत तथा थोड़े की गिनती की कसौटी के सतही सिद्धांत को अधिक हित विभिन्न दलों को जन्म देते हैं। अत: यह सामाजिक हितों के सांख्यिक (Plurality) सिद्धांत को समाज की नैतिक एकरूपता के बुनियादी हितों में परिवर्तन करना चाहता है।

(3) भूदान तथा सत्याग्रह

सत्याग्रह स्वार्थी हितों के विरुद्ध सत्य की प्राप्ति के लिए गांधी जी की एक सोची-समझी तकनीक है। यह भूदान के मुकाबले में एक अधिक प्रावैगिक (dynamic) तथा अभिघाती (aggressive) विधि है। सर्वोदय तर्क-वितर्क तथा समझौते में विश्वास करता है यद्यपि शांतिमय संघर्ष की संभावना को भी मानता है। बहुत से अवसरों पर एक अकेले व्यक्ति को जाग्रत अंत:करण भी सत्य के साथ एकस्वर होता है, चाहे बहुमत उसके विरुद्ध होता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को सत्याग्रह का मार्ग ही अपनाना होता है। डॉक्टर वर्मा का विचार है कि, ''सर्वोदय के आंदोलन में गांधी जी के मौलिक सत्याग्रह के सिद्धांतों को नहीं अपनाया गया है। यह इसलिए है, क्योंकि गांधी जी का संघर्ष एक विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध था। दूसरी ओर, सर्वोदय आंदोलन का लक्षण ग्रामीण जीवन का उत्थान करना है। अत: इसमें सत्याग्रह पर इतना बल दिया गया, जितना कि हम गांधीजी के जीवन तथा चिंतन में देखते हैं।''

अपनी प्रगति जांचिए

3. 'समाजवाद एक ऐसी टोपी है जिसने सबके पहनने से अपना आकार खो दिया है'– यह किस विचारक का कथन है?

   (क) शूमपीटर का (ख) संड्रूय हेवुड का

   (ग) सी.ई.एम. जोड का (घ) टॉमस मूर का

4. 'युद्ध राजनीति की निरंतरता है' और 'राजनीतिक बल बंदूक की नली से निकलता है'– यह किसका कथन है?

   (क) ट्रंप का (ख) गांधी जी का

   (ग) अंबेडकर का (घ) माओ का

टिप्पणी

4.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (क)
3. (ग)
4. (घ)

4.5 सारांश

साम्यवाद की मान्यता है कि जिस समूह विशेष अथवा व्यक्ति के पास उत्पादन का अवसर होता है वह दूसरे समूह अथवा व्यक्ति विशेष (मजदूर) को अपने अधीन करके उसका भाग्य एवं जीवन निर्धारक बन जाता है। और यहीं से सर्वहारा वर्ग के शोषण का आरंभ हो जाता है जिसके फलस्वरूप वह वर्ग विशेष जिसे उत्पादन का अवसर प्राप्त हुआ है वह उसे निज अधिकार मानकर उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त कर लेता है और परिणामस्वरूप समस्त पूंजी का वह स्वामी बन बैठता है। उसके प्रभाव में तत्कालीन सत्ता व सरकारें भी आ जाती हैं तथा इस प्रकार समूह विशेष सर्वशक्तिशाली पूंजीवादी वर्ग बन जाता है और दूसरा समूह विशेष (सर्वहारा) इस वर्ग का शोषित हिस्सा बन जाता है।

इस प्रकार की परिस्थितियों का जन्म ही न हो और यदि विद्यमान हो तो उन्हें रोकना यही साम्यवादी विचारधारा का प्रमुख कार्य है। साम्यवादी का कहना है कि उत्पादन एवं अर्जित पूंजी पर मजदूर तथा उत्पादक का एक समान अधिकार होना चाहिए। इसी समानता के अधिकार की प्राप्ति के लिए अनेक साम्यवादी दलों ने सर्वहारा वर्ग एवं पूंजीवादी वर्ग के मध्य संघर्ष की शुरुआत की। तथा इस प्रकार किए गए संघर्ष में साम्यवादियों को अनेक यूरोपीय क्षेत्रों में सफलता भी प्राप्त हुई। लेकिन यहां समस्या तब उत्पन्न हुई जब उत्पादन के आधार पर समानता देने का प्रयास हुआ, तो यह मुद्दा उठा कि यदि उत्पादन का स्वामी कोई एक समूह विशेष हुआ तो निर्मित परिस्थिति पूंजीवाद को ही जन्म देगी। इसके निराकरण स्वरूप उत्पादन के क्षेत्रों में संपत्ति का स्वामित्व समाज को देने का प्रावधान भी हुआ और इस भाव को साक्षात रूप देने के लिए तथा समाज के अंतिम स्तर तक इसके पालन करने हेतु सामाजिक रचना द्वारा चुनी गई सरकार को अधिकार देना सुनिश्चित किया गया। अर्थात राज्य एवं सरकार अनिवार्य माने गए। साथ ही परिस्थितियों पर नियंत्रण रखने एवं पूंजीवादी संभावनाओं के विनाश हेतु सरकारों को मजबूत करना आवश्यक था। उसी प्रकार दूसरा पक्ष अपने आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के द्वारा कोई नवीन आंदोलन न खड़ा करें, इस बात का संज्ञान भी सरकार को लेना था। इस प्रकार इन सभी संभावनाओं को साधने के लिए राष्ट्र की समस्त इकाइयों पर सरकार का दबाव एवं पहरा आवश्यक हो गया। फलस्वरूप सरकारों को अनेक अधिकार दिए गए एवं राष्ट्र की समस्त शक्ति का केंद्र बनाया गया। यह प्रक्रिया कई राष्ट्रों में सफलतापूर्वक अपनायी गई। भारत भी इस वाद से अछूता नहीं था।

टिप्पणी

समाजवाद के विभिन्न पहलू हैं। पिछले कई दशकों से समाजवाद की विभिन्नता का फैशन चला आ रहा है। समाजवादी विचारकों द्वारा दिए गए स्थायी योगदान के बावजूद, उन पर एक सुसंगत विचारधारा बनाने में विफल होने का आरोप लगाया जाता है।

समाजवाद एक खंडित विचार के रूप में सामने आया, जिसमें विचारकों के बीच सर्वसम्मति पैदा करने की कमी रही और उनके द्वारा इसे विभिन्न रूपों में देखा गया। इतना ही नहीं, बल्कि श्रमजीवी वर्ग पर पूंजीपति वर्ग का वर्चस्व मानने के लिए भी समाजवाद की आलोचना की गई।

मार्क्सवाद के विपरीत, पूंजीवाद राज्य को उखाड़ फेंकने की जगह, समाजवाद द्वारा इसे वैध करार दिया गया है। यहां ऐसे समाजवाद को काल्पनिक ठहराया गया है, जो वैज्ञानिक तर्क पर आधारित नहीं। वैसे इसके कुछ प्रकार, जैसे संघ समाजवाद और श्रमिक संघवाद, श्रमिक वर्ग के अधिकारों पर केंद्रित हैं लेकिन इनके द्वारा ये मामले उस तरह नहीं उठाए गए जैसे मार्क्सवाद द्वारा उठाए गए थे। इस प्रकार निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि समाजवाद, एक संरचित और व्यवस्थित विचारधारा के रूप में उभरने में असफल रहा।

20वीं सदी में विकासवादी समाजवाद बेहद प्रभावी रहा है, क्योंकि इसने निम्न वर्ग को ऊंचा उठने के प्रयास किए, विशेष रूप से श्रमिक वर्ग को। चाहे, इसने पूंजीवादी वर्ग को खत्म करने हेतु मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन नहीं किया और पूंजीवादी समाज को वर्गरहित समाज बनाने में भी असफल रहा, लेकिन लोकतंत्र के हल्के से रंग सहित समाजवाद, गरीब वर्ग के लिए सबसे लोकप्रिय विचारधारा बनी। इसने एक ऐसी जागरूकता पैदा की जिसके कारण न केवल श्रमजीवी वर्ग बल्कि पूंजीवादी वर्ग ने भी श्रमिकों के हित में समाज में सुधार लाने का फैसला किया।

मार्क्सवाद की असफलता के साथ, जो अंत में उभर कर आया उसे एक प्रभावी और संभव विचारधारा कहा जा सकता है। अपने पुनर्जन्मित दृष्टिकोण वाली, समाजवाद नामक यह विचारधारा एक व्यवहार्य विकल्प लगती है। कल्याणवाद, सामाजिक समावेश, समानता के बहुपक्षी विचारों ने समाजवाद के बने रहने में सहायता की है।

4.6 मुख्य शब्दावली

- स्वामित्व : मालिकाना हक, नियंत्रण।
- प्राधिकरण : संस्था, एजेंसी।
- समाविष्ट : शामिल।

4.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. साम्यवाद किस प्रकार की विचारधारा का समर्थन करता है?
2. भारतीय साम्यवादी दल का गठन कब और कहां हुआ था?

टिप्पणी

3. भारत में साम्यवाद का उदय कब हुआ था?
4. ऑक्सफोर्ड अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार समाजवाद क्या है?
5. समाजवाद की शुरुआत कब हुई थी?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. साम्यवाद की अवधारणा से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
2. भारत में साम्यवाद की स्थापना, विस्तार एवं विकास की व्याख्या कीजिए।
3. समाजवाद के उद्‌गम की विवेचना कीजिए।
4. समाजवाद के प्रमुख प्रकारों का वर्णन कीजिए।
5. साम्यवाद एवं समाजवाद के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

4.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी ए. और अवस्थी आर. के., *आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन* (नई दिल्लीः रिसर्च पब्लिकेशन, 1997)।
2. ए. आचार्य, *'लिबरलिज्म'*; आर. भार्गव एवं ए. आचार्य (संपा) *पॉलिटिकल थ्योरी : एन इन्ट्रोडक्शन,* (नयी दिल्लीः पियर्सन, 2008) पृ. 236–243।
3. ए. डी. आशीर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्र, *राजनीतिक विज्ञान,* (नई दिल्ली : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1992) 11वां हिन्दी संस्करण।
4. ऐलन रेयान, *'लिबरलिज्म'*; आर. गुडिन एवं पी. पेटिट (संपा). *ए कम्पेनियन टु कंटम्परेरी पॉलिटिकल फिलासफी,* (ऑक्सफोर्डः ब्लैकवेल, 1993) पृ. 360–362।
5. चंद्रा बी, *हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्लीः ओरिएंट ब्लैक्स्वान, 2009)।
6. प्रधान आर सी (2008), *राज टू स्वराज,* नई दिल्ली : मैकमिलन इंडिया लिमिटेड।
7. बारिया धरमपाल, *गोपालकृष्ण गोखले* (दिल्ली : मनोज पब्लिकेशन्स, 2003)।
8. वर्मा वी. पी., *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* (आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, 2009)।

इकाई 5 जाति व्यवस्था की समीक्षा

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 जाति व्यवस्था की आलोचना
5.3 अंबेडकर का समग्र राष्ट्रवाद
5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.5 सारांश
5.6 मुख्य शब्दावली
5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

यों तो जाति और रंग–भेद के मुद्दे विश्व के कई देशों में पाए जाते हैं, लेकिन भारत जाति व्यवस्था के मामले में सबसे आगे नजर आता है। यहां हर प्रांत में जाति से जुड़ी परेशानियां अलग–अलग रूपों में मौजूद हैं। विश्व के किसी भी हिस्से में जाति के भेद–भाव और ऊंच–नीच को बढ़ावा नहीं दिया जाता, किंतु न चाहते हुए भी ऐसी समस्याएं उजागर होती रहती हैं। संसार के हर कोने में जाति व्यवस्था की भरपूर आलोचना की जाती है, परंतु यह मामला ठंडा नहीं पड़ता।

अनेक समाज सुधारकों ने जाति व्यवस्था की निंदा की है और इसे खत्म करने का यत्न किया है, लेकिन ये प्रयास पूरी तरह सफल नहीं कहे जा सकते। भीमराव अंबेडकर ने बचपन से जाति व्यवस्था के दंश को झेला था। उन्होंने जाति के भेद–भाव को सहन किया था और अपमान से दुखी भी हुए थे। कठिन परिस्थितियों का सामना करते हुए अंबेडकर ने न सिर्फ अपनी शिक्षा पूरी की, बल्कि आगे चलकर एक विशेष स्थान भी प्राप्त किया। उन्हें भारत के गिने–चुने विशेष और महान लोगों में सम्मिलित किया जाता है। आज जाति व्यवस्था विकास के स्थान पर तथाकथित राजनीति का आधार बनती जा रही है।

प्रस्तुत इकाई में जाति व्यवस्था की आलोचना के साथ–साथ बाबा साहब अंबेडकर के समग्र राष्ट्रवाद का अध्ययन किया गया है।

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- जाति व्यवस्था के मर्म को अनुभव कर पाएंगे;
- सामाजिक क्रांतिकारी के रूप में अंबेडकर के कार्यों को जान पाएंगे;
- भारत में जाति व्यवस्था की समीक्षा कर पाएंगे;
- अंबेडकर की आदर्श समाज की अवधारणा से परिचित हो पाएंगे;
- अंबेडकर के समग्र राष्ट्रवाद के विभिन्न पहलुओं को समझ पाएंगे।

5.2 जाति व्यवस्था की आलोचना

टिप्पणी

जाति व्यवस्था की कमियों का सामना करने वाले प्रमुख और महान व्यक्तियों में बाबा साहब अंबेडकर का नाम अग्रणी है। अंबेडकर ने न सिर्फ जाति व्यवस्था की आलोचना की बल्कि इसके सुधार के अनेक सार्थक प्रयास भी किए।

बाबा साहब अंबेडकर के नाम से मशहूर भीमराव रामजी अंबेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को मध्य प्रदेश के इंदौर के पास स्थित महू में एक महार परिवार में हुआ था जो एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। रामजी मालोजी सकपाल और भीमबाई की वे चौदहवीं संतान थे। अंबेडकर के पूर्वज लंबे समय से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करते रहे थे। उनके पिता महू छावनी में भारतीय सेना में थे।

जब वे पांच वर्ष के थे, तभी उनका नाम महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में दापोली के एक स्कूल में लिखवाया गया। वहां उन्हें आभास हुआ कि उनके तथा उनके परिवार के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार होता है। स्कूल में शिक्षक अपवित्र होने के डर से उनकी कॉपी–किताबें नहीं छूते थे। नाई भी उनकी जाति से श्रेष्ठ माने जाते थे, इसलिए वे भी उनके बाल काटने से इनकार कर देते थे। गाड़ीवान भी उन्हें गाड़ियों में नहीं बैठाते थे।

मुंबई के एलिफिंस्टन हाईस्कूल में उन्हें कक्षा में नीचे एक कोने में फट्टा बिछाकर बैठना पड़ता था जबकि अन्य छात्र मेज–कुर्सी पर बैठते थे। उन्हें स्कूल में अन्य छात्रों के लिए रखे पानी को पीने की भी अनुमति नहीं थी।

बचपन से उन्होंने इसी तरह का भेदभाव सहन किया था और इसे वे जीवन भर नहीं भूल पाए। बड़े होकर अंबेडकर को महसूस हुआ कि सामाजिक रूप से दबी–कुचली जाति में जन्मे हर व्यक्ति के साथ ऐसा ही अमानवीय व्यवहार होता है। इस तरह के अपमान तथा कठिन परिस्थितियों के बावजूद अंबेडकर ने 1907 में मैट्रिक की परीक्षा पास की और आगे की पढ़ाई के लिए एलिफिंस्टन कॉलेज में दाखिला लिया। इंटरमीडिएट के बाद भीमराव को बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ से छात्रवृत्ति मिल गई और 1912 में उन्होंने कला स्नातक की उपाधि हासिल की। उनके विवाह के समय उनकी पत्नी की उम्र मात्र 9 साल थी। 1912 में ही उनकी पत्नी ने पहले पुत्र यशवंत को जन्म दिया।

1913 में बड़ौदा के राजा ने उन्हें महीने के शुरू में तीन साल तक 11.50 डॉलर की छात्रवृत्ति देने की घोषणा की। इस घोषणा के बाद उनके लिए पोस्टग्रेजुएट की पढ़ाई के लिए यूनाइटेड स्टेट के कोलंबिया यूनिवर्सिटी में दाखिला लेने का रास्ता खुल गया। इस प्रकार अंबेडकर किसी विदेशी विश्वविद्यालय में पढ़ने जाने वाले पहले महार विद्यार्थी बने। छात्रवृत्ति के बदले अंबेडकर को बड़ौदा रियासत में दस साल तक नौकरी करनी थी। जून, 1915 में उन्होंने एम.ए. की उपाधि हासिल की जिसमें उनका विषय अर्थशास्त्र के साथ–साथ समाजशास्त्र भी था। उन्होंने 'एनशिएंट इंडियन कॉमर्स' शीर्षक से शोधप्रबंध भी प्रस्तुत किया। मई, 1916 में उन्होंने डॉ. गोल्डॉनवाइजर द्वारा प्रायोजित मानवशास्त्र पर हुए सेमिनार में 'द कास्ट्स इन इंडिया, देयर मैकेनिज़्म, जेनेसिस एंड डेवलपमेंट' विषय पर शोधपत्र प्रस्तुत किया। जून, 1916 में उन्होंने पीएच. डी. के लिए 'नेशनल डिविडेंट फॉर इंडिया : ए हिस्टॉरिक एंड एनालिटिकल स्टडी शीर्षक' से शोध प्रबंध प्रस्तुत किया। बाद में यह शोध प्रबंध 'द इवॉल्यूशन ऑफ

प्रॉविन्शियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया' नाम से किताब के रूप में प्रकाशित हुआ। कोलंबिया विश्वविद्यालय से वे स्नातक छात्र के रूप में लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स गए। तभी उनकी छात्रवृत्ति बंद हो गई और उन्हें भारत लौटना पड़ गया।

टिप्पणी

बड़ौदा के महाराजा ने डॉ. अंबेडकर को बड़ौदा सिविल सेवा में राजनीतिक सचिव नियुक्त किया। डॉक्टर की उपाधि हासिल कर चुके भीमराव को शीर्ष स्तर के पद के लिए प्रशिक्षण दिया गया। इतने मान–सम्मान के बावजूद अंबेडकर को भारत में भेदभाव झेलना पड़ता था। उन्हें ऑफिस में कोई भी व्यक्ति फाइलें हाथ से नहीं देता था। नौकर तक उनकी मेज पर फाइलें फेंककर चला जाता था। निचली जाति का होने के कारण उन्हें पीने का पानी तक नहीं मिलता था। भीमराव के लिए यह व्यवहार बहुत दुखदायी और अपमानजनक था क्योंकि वे लंबे समय तक विदेश में रहे थे जहां किसी भी तरह का सामाजिक भेदभाव नहीं होता था। अंबेडकर ने सिर्फ 11 दिनों में ही नौकरी से इस्तीफा दे दिया और बड़ौदा से मुंबई चले गए।

अंबेडकर ने 1918 में मुंबई के सिडेनहम कॉलेज में पढ़ाना शुरू कर दिया। वे बहुत श्रेष्ठ शिक्षक तथा विद्वान माने जाते थे, लेकिन सामाजिक व्यवहार वहां भी ऐसा ही था। डॉ. अंबेडकर ने 31 जनवरी, 1920 को कोल्हापुर के शाहूजी महाराज की सहायता से 'मूक नायक' नाम का समाचारपत्र निकालना शुरू किया। शाहूजी भी वंचित वर्गों के उत्थान के लिए सजग थे। उन्होंने अस्पृश्य लोगों की कई सभाएं और सम्मेलन भी कराए थे। इन सभाओं और सम्मेलनों में भीमराव भाषण देते थे। कुछ धन इकट्ठा होने पर अंबेडकर सितंबर, 1920 में अपनी पढ़ाई पूरी करने फिर से लंदन गए। उन्होंने बैरिस्टर की उपाधि हासिल की और विज्ञान में डॉक्टरेट भी पाई। जून, 1921 में उन्होंने अपना शोध प्रबंध, 'प्रॉविंशियल डिसेंट्रलाइजेशन ऑफ इंपीरियल फाइनेंस इन ब्रिटिश इंडिया' पेश किया और लंदन से अर्थशास्त्र में एम. ए. की डिग्री हासिल की। अप्रैल, 1923 में वे वकालत करने भारत लौट आए।

वकालत के साथ–साथ अंबेडकर ने जुलाई, 1924 में बहिष्कृत हितकारणी सभा की भी स्थापना की जिसका उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक रूप से वंचित तबकों का उत्थान और उन्हें भारतीय समाज की मुख्य धारा में शामिल करना था। 1927 में उन्होंने महार मार्च (जुलूस) निकाला और जाति प्रथा के प्रति विरोध जताने तथा अस्पृश्यों को सार्वजनिक तालाब का पानी इस्तेमाल करने देने के अधिकार के लिए मुंबई के पास कोलाबा में चावदार तालाब पर मनुस्मृति की प्रतियां जलाईं। लंदन से वापस आने के बाद अंबेडकर ने पाया कि इतने सालों में कुछ भी नहीं बदला। अस्पृश्यता की प्रथा के रहते उनकी सारी योग्यताएं निरर्थक थीं और उनके आगे बढ़ने में सबसे बड़ी बाधा यही जाति प्रथा थी। इस सबके बावजूद अंबेडकर ने बेहतरीन शिक्षा हासिल की और दलित समुदाय के नेता के रूप में अपने को तैयार किया। वे कानून के विशेषज्ञ थे और उत्कृष्ट तथा प्रभावी वक्ता होने के कारण ब्रिटिश आयोग के सामने प्रभावशाली तर्क पेश कर सकते थे। भीमराव ने अपना शेष जीवन इसी कार्य में लगाया। अंबेडकर को आज दलितों–पिछड़ों का मसीहा, साहित्यप्रेमी, विद्वान, उत्कृष्ट शिक्षाविद्, राजनीतिक दार्शनिक, सुयोग्य सांसद तथा महान विचारक माना जाता है।

अंबेडकर के जीवन का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू भी था जिसकी चर्चा करना जरूरी है। वह था उनका बौद्ध धर्म स्वीकार करना। अंबेडकर ने बौद्ध धर्म का गहन

टिप्पणी

अध्ययन किया था। बौद्ध धर्म में हिंदू जाति व्यवस्था को अस्वीकार किया गया था। यह बात अंबेडकर तथा अन्य वंचित वर्ग के नेताओं को आकर्षित करती थी। 1950 के दशक में अंबेडकर ने पूरा ध्यान बौद्ध धर्म की ओर लगा दिया और बौद्ध विद्वानों तथा भिक्षुओं के सम्मेलन में भाग लेने श्रीलंका भी गए। 1955 में उन्होंने भारतीय बौद्ध महासभा का गठन किया। 1956 में उन्होंने नागपुर में एक विशाल सार्वजनिक समारोह करके अपने समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अंबेडकर ने एक बौद्ध भिक्षु से पारंपरिक तरीके से तीन रत्न ग्रहण करके और पंचशील को अपनाते हुए बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। एक अनुमान के मुताबिक उनके साथ करीब 500,000 समर्थकों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

सामाजिक क्रांतिकारी के रूप में अंबेडकर

व्यक्तिगत अपमान तथा अमानवीय व्यवहार के उनके अनुभव बहुत कटु थे। उच्च जाति के हिंदुओं ने अस्पृश्य जातियों के लिए कई तरह के बंधन लगा रखे थे। हालांकि अंबेडकर किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं थे, लेकिन उन्होंने हिंदुत्व और उससे भी अधिक ब्राह्मणवाद के खिलाफ सक्रियता से कार्य किया, क्योंकि मानवीय समाज की स्थापना में वह सबसे बड़ा बाधक था। उनका मानना था कि मानवीय समाज का लक्ष्य प्रत्येक व्यक्ति को समृद्ध तथा भरा–पूरा जीवन जीने देना होना चाहिए जिसमें सभी के मस्तिष्क के विकास के अवसर हों और सभी अपनी भौतिक जरूरतें पूरी कर सकें।

अंबेडकर, बुद्ध, कबीर और ज्योतिबा फुले से बहुत अधिक प्रभावित थे। बुद्ध और कबीर से उन्होंने मानव समानता का दर्शन सीखा। समाज सुधारक ज्योतिबा फुले से उन्होंने उच्च जातियों के प्रभुत्व के विरुद्ध लड़ना तथा शिक्षा एवं आर्थिक उत्थान के जरिए जनता के उन्नयन के लिए काम करना सीखा। अंबेडकर के अनुसार, 'शिक्षा ऐसी चीज है जो सबकी पहुंच में होनी चाहिए।' उन्होंने महसूस किया कि निचली जातियों को उच्च जातियों के भेदभाव तथा अन्याय से मुक्त कराने का एक रास्ता शिक्षा ही है। उनके अनुसार– 'प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य यह देखना है कि प्राथमिक स्कूलों में आने वाला हर बच्चा साक्षर बनने से पहले पढ़ाई न छोड़े और शेष जीवन साक्षर बना रहे।' अंबेडकर के विचार स्वतंत्रता, समानता तथा सद्भाव पर आधारित समाज की स्थापना करने के पक्ष में थे। वे विद्यमान जाति प्रथा के विरुद्ध लड़ने के लिए दृढ़–संकल्प थे। उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्रता से अधिक महत्व सामाजिक परिवर्तन को दिया। उनका उद्देश्य परंपरावादी सामाजिक व्यवस्था का विरोध करना तथा अस्पृश्यों के राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ना था। उन्होंने समाज और राजनीति, दोनों क्षेत्रों में सक्रिय योगदान दिया।

अंबेडकर ने अस्पृश्यता तथा जाति प्रथा के विरुद्ध संघर्ष शुरू करने से पहले हिंदू समाज का पूरा अध्ययन और विश्लेषण किया। उन्होंने जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने से पहले इन बुराइयों के आरंभ का विश्लेषण करने की कोशिश की। अंबेडकर ने महसूस किया कि निचली जातियों का दमन दो कारणों से होता है– पहला, सशक्त अंदरूनी वर्णानुक्रम और दूसरा, जाति आधारित असमानता। इस प्रकार अंबेडकर ने निचली जातियों के लोगों से अपनी जीवनशैली में बदलाव की अपील की। उन्होंने दलितों से मरे हुए जानवरों को उठाने का काम छोड़ने को कहा। उन्होंने मरे हुए जानवरों का मांस खाना, शराब पीना और भीख मांगना छोड़ने की भी सलाह दी।

टिप्पणी

उन्होंने पढ़ने और अच्छे कपड़े पहनने का भी आग्रह किया। अंबेडकर ने निचली जातियों के लोगों में गौरवशाली इतिहास की भावना जगाने की कोशिश की ताकि उन्हें वैकल्पिक, जातिरहित पहचान हासिल करने में मदद मिले और वे अपने मतभेद भुलाकर आत्मसम्मान हासिल कर सकें। अंबेडकर जाति प्रथा के नाश के लिए पूरी तरह से प्रतिबद्ध थे। उनका विचार था कि जाति प्रथा सिर्फ श्रम का विभाजन नहीं, बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है। यह स्तरीकरण की प्रणाली है जिसने श्रमिकों को एक के ऊपर एक स्तर पर रखकर विभाजित किया। श्रम का विभाजन व्यक्तिगत रुझान या संबंधित व्यक्ति की पसंद पर आधारित नहीं था। उन्होंने इसे नुकसानदायक माना क्योंकि यह मनुष्य की नैसर्गिक शक्ति तथा पूरी शक्ति से अपनी कार्य करने की योग्यता का दुरुपयोग है।

अंबेडकर के अनुसार– आत्मसम्मान तथा मानवीय गरिमा की भावनाएं लोकतांत्रिक देश में महत्वपूर्ण आवश्यकताएं हैं। उन्होंने स्तर की समानता के पावन उद्देश्य का समर्थन किया। उनका विचार था कि व्यक्ति की गरिमा तथा देश की एकता सुनिश्चित करने के लिए हर भारतीय को समान अवसर मिलने चाहिए। वे एक महान विद्वान ही नहीं थे, बल्कि ऐसे बुद्धिजीवी तथा चिंतक भी थे जिन्होंने अपना समूचा जीवन दबे–कुचलों के उत्थान के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने समाज के वंचित और दबे–कुचले वर्गों की मर्यादा तथा उत्थान के लिए लड़ाई लड़ी।

उन्होंने साम्यवाद का कभी समर्थन नहीं किया और हमेशा व्यापक समाज के हित के लिए कार्य किया। उनका जीवन मानवता की सेवा के लिए समर्पित था। उन्होंने अन्याय, असमानता, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध संघर्ष किया। डॉ. अंबेडकर का सिद्धांत व्यक्ति के नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई का था। उनका मानना था कि किसी व्यक्ति या उसके दृष्टिकोण को उसके पीड़ित साथियों की पीड़ा के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता; उनके अनुसार उत्तरदायी सामाजिक परंपराएं हैं जो असमानताओं की सामाजिक प्रणाली का समर्थन करती हैं।

अंबेडकर की आदर्श समाज की अवधारणा (नई सामाजिक व्यवस्था)

अंबेडकर उस नई सामाजिक व्यवस्था के मुख्य नायक थे जो स्वतंत्रता, समानता और सद्भाव के आदर्शों पर आधारित थी। जाति प्रथा, अस्पृश्यता तथा महिला की स्थिति जैसी सामाजिक समस्याओं के बारे में उनके विचारों ने उनके सामाजिक–राजनीतिक आदर्शों की नींव रखी। जीवन के उनके अनुभवों तथा उनके बौद्धिक ज्ञान ने उन्हें हिंदू धर्म तथा उसकी सामाजिक व्यवस्था के प्रति संदेही बना दिया था। उनकी व्यावहारिकता तथा आदर्शवाद ने उन्हें सामाजिक न्याय पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था के लिए काम करने को प्रेरित किया ताकि भारतीय लोकतंत्र का भविष्य मजबूत तथा स्थायी हो सके।

अंबेडकर उपेक्षित मानवता के नेता तथा प्रवक्ता थे। उन्होंने अस्पृश्यों की दयनीय स्थिति को दुनिया के सामने रखा और उन्हें समाज की मुख्य धारा में लाने के लिए ईमानदारी से प्रयास किये। डॉ. अंबेडकर की प्रगतिशील विचारधारा उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार रही। हालांकि उनका जन्म महार जाति में हुआ था, लेकिन उन्होंने अपने को कभी इसी जाति तक सीमित नहीं रखा, बल्कि सामाजिक और आर्थिक रूप से पिछड़े सभी लोगों का प्रतिनिधित्व किया।

टिप्पणी

उन्हें दबे–कुचलों के अधिकारों का मसीहा, साहित्य प्रेमी, प्रखर शिक्षाविद्, राजनीतिक दार्शनिक, सुयोग्य सांसद तथा महान चिंतक बिल्कुल सही माना जाता है। डॉ. अंबेडकर ने अस्पृश्यों के साथ–साथ समाज के वंचित वर्गों को आत्मसम्मान हासिल करने के लिए तैयार करने हेतु कोई कोर–कसर नहीं छोड़ी। इन वर्गों के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ वे सतत लड़ाई लड़ते रहे।

अंबेडकर ने महसूस किया कि भाईचारे पर आधारित समाज ही लोकतंत्र को सफल बना सकता है। उनका विश्वास था कि लोकतंत्र सिर्फ सरकारों का स्वरूप भर नहीं है, बल्कि यह प्राथमिक रूप से सामूहिक जीवन और समान अनुभवों का तरीका है। इसमें अन्य मनुष्यों के प्रति सम्मान की भावना आवश्यक रूप से होनी चाहिए। लोकतंत्र में सबको अपने पेशे के चयन की स्वतंत्रता होनी चाहिए। लोकतंत्र हो लेकिन पेशे की स्वतंत्रता न हो तो इससे गुलामी को बढ़ावा मिलेगा। हालांकि, सच्चे अर्थों में समानता संभव नहीं है, लेकिन हर मनुष्य के साथ समान व्यवहार बिलकुल संभव है। जाति प्रथा और अस्पृश्यता में ऐसे विचारों को नकारा जाता है, इसलिए उन्होंने मांग की कि जाति प्रथा और अस्पृश्यता किसी भी रूप में नहीं होनी चाहिए।

जाति प्रथा

अंबेडकर के अनुसार, हिंदू धर्म की सामाजिक संरचना चार वर्णों या चतुर्वर्ण पर आधारित है जो असमानता पैदा करती है और जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता की जनक है। हिंदू धर्म में सब कुछ जाति केंद्रित और जाति–आधारित है। जाति ही व्यक्ति का सामाजिक स्तर तय करती है। हिंदू मान्यता के अनुसार, चारों वर्ण ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से पैदा हुए हैं। सर्वोच्च जाति ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा मानी जाती है। वे वेदों का पठन–पाठन करते थे। हिंदू समाज में उन्हें सबसे श्रेष्ठ मानव माना जाता था। दूसरा वर्ण क्षत्रिय है, जो ब्रह्मा के हाथों से पैदा माने जाते हैं। उनका काम ईश्वर के बनाए प्राणियों की रक्षा करना होता था। तीसरे वर्ण वैश्य के लोग ब्रह्मा की जांघों से पैदा माने जाते हैं। वे समाज की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कार्य करते हैं। चौथे वर्ण शूद्र के लोग जो ब्रह्मा के पैरों से पैदा माने जाते हैं, उनका काम समाज के अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना होता था। माना जाता है कि हर व्यक्ति का धर्म उसके जन्म से निर्धारित होता है और हर व्यक्ति के पेशे का स्वरूप उसकी जाति से निर्धारित होता है।

सभी मनुष्यों को समान मानने से इनकार करने वाली जाति प्रथा की जड़ें भारत में बहुत मजबूत हैं। सामाजिक व्यवस्था जातियों के वर्गीकरण पर आधारित है जो सम्मान के लिहाज से बढ़ते क्रम में तथा अपमान के क्रम में होती है। इस व्यवस्था में समानता तथा भाईचारे की भावना की कोई गुंजाइश नहीं होती, जो कि सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप में आवश्यक होती है। जाति प्रथा सिर्फ श्रम के विभाजन का नाम नहीं है, बल्कि यह श्रमिकों का पदानुक्रम संबंधी विभाजन है, जो प्राकृतिक रुझान या स्वतः प्रवृत्ति पर आधारित नहीं, माता–पिता की जाति पर आधारित होता है।

अंबेडकर ने जाति प्रथा को पूरी तरह से अवैज्ञानिक बताते हुए इसकी निंदा की। उनका विश्वास था कि सभ्य समाज में श्रम का विभाजन बहुत कड़ा नहीं होना चाहिए, इसलिए इस तरह का विभाजन पूरी तरह से अप्राकृतिक है। श्रम का यह अप्राकृतिक विभाजन व्यक्ति को मजबूर करता है कि वह अपने माता–पिता की जाति के अनुसार

पेशे का चयन करे, न कि अपनी मौलिक क्षमता के अनुसार। अंबेडकर मानते थे कि जाति प्रथा जबरदस्ती अंतरजातीय विवाहों तथा सामूहिक खान–पान से समाप्त नहीं हो सकती।

टिप्पणी

जरूरत मानसिक सोच में बदलाव की है। हिंदू जाति प्रथा को इसलिए नहीं मानते क्योंकि वे अमानवीय होते हैं, बल्कि इसलिए मानते हैं क्योंकि उनका धर्म तथा धर्मग्रंथ ऐसा ही सिखाते हैं। धार्मिक मानसिकता के लोग बिना सोचे–समझे इसका पालन करते रहते हैं। उन्होंने लोगों से आग्रह किया कि वे शास्त्रों के जाल से मुक्त हों और अपने मन से शास्त्रों के जरिए बैठाए विचार हटा दें। लोगों को बुद्ध और नानक की तरह शास्त्रों के वर्चस्व को नकार देना चाहिए।

अस्पृश्यता

अस्पृश्यता का अर्थ माना जाता है कि कुछ खास लोगों के छूने से कोई खास जाति या परिवार अपवित्र हो जाएगा। माना जाता है कि अस्पृश्यता का संबंध हिंदू समाज से ही है। अस्पृश्यता का आरंभ भारत में 400 ईसवी के आस–पास हुआ। इसकी शुरुआत बौद्ध तथा ब्राह्मणवाद के बीच श्रेष्ठता की लड़ाई से हुई। अस्पृश्यता शब्द का इस्तेमाल अंबेडकर ने स्वयं हिंदू समाज में व्याप्त छुआछूत के लिए किया है। स्वतंत्रतापूर्व के दौर में दलितों को अस्पृश्य कहा जाता था। बाद में 1935 में जब इन जातियों के लिए विशेष अधिकारों का प्रावधान हुआ तो इनके लिए अनुसूचित जाति शब्द का इस्तेमाल होने लगा। गांधी जी ने 1933–34 में जब अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान चलाया तो उन्होंने इनके लिए हरिजन शब्द का इस्तेमाल किया जो उन्होंने मध्ययुगीन संत–कवि नरसिंह मेहता से उद्धृत किया था। तभी से अंबेडकर के अनुयायियों को छोड़कर बाकी लोग आमतौर पर हरिजन शब्द का इस्तेमाल करने लगे। अंबेडकर ने गांधी जी के दिए इस शब्द का विरोध करते हुए अस्पृश्यों के लिए दलित शब्द का इस्तेमाल किया।

अस्पृश्यता की शुरुआत कैसे हुई, यह अब तक एक रहस्य बना हुआ है। हालांकि, आमतौर पर माना जाता है कि इसकी शुरुआत जाति प्रथा से ही हुई है। अस्पृश्य जाति से ही आने वाले अंबेडकर ने इस बुराई के ऐतिहासिक और सामाजिक पहलुओं का विश्लेषण किया। अपनी पुस्तक 'द अनटचेबिल्स' में उन्होंने अस्पृश्यता के उद्गम और चलन का विस्तृत विश्लेषण किया है। यह पुस्तक 1948 में प्रकाशित हुई थी।

अंबेडकर ने इस पुस्तक के जरिए अस्पृश्यों पर गंदगी का ठप्पा लगाने का विरोध किया। उन्होंने ऐलान किया कि अस्पृश्यता का चलन निराधार है और मानवता के विरुद्ध है। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता के साथ पवित्र और अपवित्र होने का जो विचार जोड़ा गया है वह किसी समूह, व्यक्ति या वंश के आधार पर लागू नहीं होता। अंबेडकर ने जोर देकर कहा कि कोई व्यक्ति सिर्फ किसी जाति विशेष में पैदा होने के कारण ही अपवित्र नहीं कहा जा सकता। ऊपर बताए गए बिंदुओं के आधार पर अंबेडकर ने अस्पृश्यता को पूरी तरह से हटाए जाने की मांग की। उन्होंने साफ कहा कि अस्पृश्यता उन्मूलन की जरूरत सामाजिक और कानूनी, दोनों स्तरों पर बहुत तीव्रता से है।

उन्होंने अस्पृश्यों को सलाह दी कि उन्हें खुद पहल करके मरे जानवरों को उठाना और शराब पीना बंद कर देना चाहिए। सामाजिक स्तर पर अस्पृश्यता मिटाने के लिए उन्हें पढ़ाई–लिखाई पर भी गंभीरतापूर्वक ध्यान देना चाहिए।

टिप्पणी

कानूनी स्तर पर अस्पृश्यता हटाने के लिए अंबेडकर ने सरकार के सभी स्तरों पर अस्पृश्यों के प्रतिनिधित्व की मांग की। अंबेडकर के प्रयासों से पूना पैक्ट समझौता हुआ जिसमें सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए सीटों के आरक्षण का प्रावधान था। अंबेडकर के अनुसार, जब तक अस्पृश्यों को अलग मनुष्य माना जाता है, तब तक उन्हें अल्पसंख्यक माना जाना चाहिए। इसी तरह जब तक उन्हें विशेष अवसर दिए जाने की जरूरत महसूस हो, तब तक सरकार में उनका स्वयं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। सरकार को अस्पृश्यों के कल्याण के लिए विशेष योजनाएं चलानी चाहिए।

अपनी प्रगति जांचिए

1. बाबा साहब अंबेडकर का जन्म कब हुआ था?

   (क) 1 अप्रैल, 1891 को (ख) 14 मई, 1891 को

   (ग) 14 अप्रैल, 1891 को (घ) 1 मई, 1891 को

2. उपेक्षित मानवता के नेता तथा प्रवक्ता कौन थे?

   (क) सरदार पटेल (ख) अंबेडकर

   (ग) नेहरू (घ) विवेकानंद

5.3 अंबेडकर का समग्र राष्ट्रवाद

अंबेडकर का समग्र राष्ट्रवाद उनकी महान सोच और मानवता की भावना का परिचायक है। उन्होंने इस बात को समझा कि भारतीय समाज की बुराइयों के खिलाफ आंदोलन करने के लिए वंचित वर्गों को संगठित करने की जरूरत है। उन्होंने तथाकथित अस्पृश्यों को एक संगठन के तले एकजुट करने का प्रयास शुरू किया। 1924 में उन्होंने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' नाम के संगठन की स्थापना की। संगठन का उद्देश्य 'शिक्षा, आंदोलन और संगठन' था। दबे–कुचले वर्गों पर अत्याचार के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत उन्होंने महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों का दौरा करने के बाद की और 'निचली' जातियों के बीच शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने में जुट गए। उन्होंने वंचित वर्गों को अपने अधिकारों के लिए आंदोलन करने की सलाह दी। बाद में उन्होंने अपने संघर्ष का विस्तार करते हुए देशभर का दौरा करना शुरू किया। बहिष्कृत हितकारिणी सभा के उद्देश्य को हासिल करने के लिए उन्होंने जनवरी, 1925 में अस्पृश्य छात्रों के लिए छात्रावास शुरू किया। अंबेडकर ने महसूस किया कि सिर्फ शिक्षा के जरिए ही 'निचली' जातियों में सामाजिक तथा क्रांतिकारी चेतना पैदा की जा सकती है।

सामाजिक रूप से उत्पीड़ित वर्गों के राजनीतिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर अंबेडकर की हितकारिणी सभा ने मनोनयन के सिद्धांत के विचार को खारिज किया और निर्वाचन के सिद्धांत का पक्ष लिया। निर्वाचन प्रणाली के संदर्भ में अंबेडकर ने तर्क दिया कि संगठन सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल नहीं चाहता। सभा ने महसूस किया कि सामाजिक रूप से उत्पीड़ित वर्गों के लिए अगर विधायिका में सीटें आरक्षित की जाएं तो यह पर्याप्त रहेगा। अंबेडकर ने कुछ वादों के साथ संरक्षण की भी मांग की। कुछ वादे निम्नानुसार थे–

टिप्पणी

- प्रांत के राजस्व का पहला इस्तेमाल सामाजिक रूप से दबे–कुचले लोगों की शिक्षा पर होगा और यह हिस्सा पर्याप्त होगा तथा शिक्षा के लिए कुल अनुदान का न्यायपूर्ण हिस्सा होगा, जो स्पष्ट रूप से 'निचली' जातियों के लिए होगा।
- सामाजिक रूप से वंचित वर्गों की सेना या पुलिस में बिना किसी भेदभाव के भर्ती हो सकेगी और इसमें किसी भी तरह की पाबंदी नहीं लगेगी।
- सारी सरकारी नौकरियों में, चाहे वे राजपत्रित हों या अराजपत्रित, तीस वर्षों तक सामाजिक रूप से दबे–कुचले वर्गों को प्राथमिकता दी जाएगी।
- सामाजिक रूप से वंचित वर्गों को हर जिले में अपने समुदाय से एक विशेष पुलिस इंस्पेक्टर नियुक्त करने का अधिकार होगा।
- सामाजिक रूप से वंचित वर्गों को प्रांतीय सरकार द्वारा स्थानीय निकायों में प्रभावी प्रतिनिधित्व देने का अधिकार दिया जाएगा।
- अगर प्रांतीय सरकारें सामाजिक रूप से वंचित वर्गों को उक्त अधिकार नहीं देतीं, तो उन्हें केंद्र सरकार से अपील करने का अधिकार होगा। इतना ही नहीं, केंद्र सरकार के पास यह शक्ति होगी कि वह इस संदर्भ में कानून का पालन करने के लिए प्रांतीय सरकारों को बाध्य कर सके।

अंबेडकर और पूना पैक्ट

महात्मा गांधी ने 1932 में 'अस्पृश्यों' के लिए अलग निर्वाचक मंडल के प्रावधान का विरोध करते हुए अनशन किया था। यह गांधी के अस्पृश्यता के विरुद्ध अपने ही अभियान का आरंभिक बिंदु था। निचली जातियों के लिए अलग निर्वाचक मंडल बनाने का विचार अंबेडकर का था जिसे ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया था। गांधी जी ने इस प्रस्ताव का विरोध किया क्योंकि उन्हें लगता था कि इससे हिंदू समाज का विभाजन हो जाएगा। इस प्रकार, इस मसले पर गांधी जी और अंबेडकर दोनों में ही मतभेद हो गए, हालांकि दोनों ही अस्पृश्यता के विरुद्ध थे और अस्पृश्यों का उत्थान चाहते थे। ब्रिटिश सरकार ने जब अलग निर्वाचक मंडलों का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो गांधी जी जेल में ही आमरण अनशन पर बैठ गए। मजबूर होकर अंबेडकर को अपना प्रस्ताव वापस लेना पड़ा और गांधी जी के साथ समझौता करना पड़ा। 24 सितंबर, 1932 को गांधी जी और अंबेडकर के बीच समझौता हुआ जिसे पूना पैक्ट के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के अनुसार–

1. प्रांतीय विधानसभाओं में वंचित वर्गों के लिए सामान्य सीटों में आरक्षण होगा।
2. ब्रिटिश भारत की केंद्रीय विधानसभा में सामान्य सीटों में से 18 प्रतिशत सीटें वंचित वर्गों के लिए आरक्षित होंगी।

दोनों नेताओं के बीच हुए इस समझौते के बाद गांधी जी ने अपना अनशन समाप्त कर दिया। पूना पैक्ट के बाद की घटनाओं के बाद अंबेडकर ने महसूस किया कि गांधी जी ने उन्हें गुमराह किया। उन्हें लगने लगा कि गांधी जी ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए आमरण अनशन करके उन्हें तथा वंचित वर्गों को ब्लैकमेल किया है।

भारतीय राजनीतिक प्रणाली से संबंधित अंबेडकर के विचार

टिप्पणी

भीमराव अंबेडकर एक सामाजिक क्रांतिकारी और सच्चे उदारवादी थे, जिन्होंने नई राजनीतिक व्यवस्था के लिए कार्य किया तथा 'लोक भारत' और 'अखंड भारत' की कल्पना की। भारतीय राजनीति लंबे समय से आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से गुजरती रही थी। कई महान लोगों ने राजनीति के आधुनिकीकरण में योगदान दिया लेकिन वह सूक्ष्म–दृष्टि अंबेडकर के ही पास थी जिसने समूचे राष्ट्र के आधुनिकीकरण में बहुआयामी भूमिका निभाई। वे उन गिने–चुने लोगों में से थे जिन्होंने महसूस किया कि बिना सामाजिक परिवर्तन के राजनीति के आधुनिकीकरण का विचार अस्पष्ट रहेगा। यही कारण था कि उन्होंने सामाजिक क्रांति के साथ–साथ राजनीति में भी सक्रियता दिखाई। उनका हमेशा यह विचार रहा कि हिंदू धर्म ही भारतीय समाज के विखंडन और नैतिक पतन के लिए जिम्मेदार है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने के मजबूत इरादे के साथ अंबेडकर ने बहिष्कृत हितकारिणी सभा के बैनर तले समाज सुधार आंदोलन शुरू किया।

डॉ. अंबेडकर का मुख्य उद्देश्य सरकार का लोकतांत्रिक स्वरूप तथा वास्तविक सत्ता जनता के हाथों में स्थानांतरित करना था। उन्होंने इस उद्देश्य के लिए आजीवन संघर्ष किया। उनका स्पष्ट विचार था कि जब तक नागरिकों के हाथों में सत्ता नहीं होगी, तब तक सच्चे अर्थों में लोकतंत्र कायम नहीं हो सकता।

अंबेडकर के अनुसार लोकतंत्र में निम्न चार बातें होनी चाहिए–

1. व्यक्ति अपने आप में स्वतंत्र इकाई होता है।
2. हर व्यक्ति के कुछ बुनियादी अधिकार होते हैं, जिन्हें कभी नहीं छीना जा सकता। संविधान को उनकी गारंटी देनी चाहिए।
3. किसी विशेषाधिकार को हासिल करने के लिए किसी व्यक्ति को उसके किसी संवैधानिक अधिकार के त्याग के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए।
4. राज्य किसी भी निजी समूह को अन्य लोगों पर शासन करने का अधिकार नहीं देगा।

डॉ. अंबेडकर की समूची राजनीतिक विचारधारा का सार उनके निम्नलिखित दो बयानों में निहित है–

(क) किसी व्यक्ति या समूह के अधिकारों की रक्षा कानून से नहीं, बल्कि समाज की सामाजिक तथा नैतिक चेतना से होती है।

(ख) समाज का लोकतांत्रिक स्वरूप, सरकार के लोकतांत्रिक स्वरूप की पूर्व शर्त होता है।

मूलभूत अथवा गौण, सभी तरह के अधिकारों की सुरक्षा के लिए सबसे महत्वपूर्ण मापदंड सामाजिक चेतना होती है। व्यक्ति के अधिकार कानून द्वारा रक्षित होने संबंधी प्रचलित विचार बहुत माने नहीं रखते। लोकतंत्र के औपचारिक ढांचे का कोई महत्व नहीं है। लोकतंत्र बुनियादी तौर पर समाज का एक स्वरूप है, जो सामूहिक जीवन का तरीका है। सामाजिक संबंध लोकतंत्र के आधार हैं।

डॉ. अंबेडकर एक संविधान विशेषज्ञ थे और उनकी इस विशेषज्ञता ने भारतीय संविधान में राजनीतिक लोकतंत्र की अवधारणाओं को बहुत हद तक समृद्ध किया।

टिप्पणी

उन्हें संविधान का मुख्य रचयिता माना जाता है क्योंकि वे ही संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे। डॉ. अंबेडकर के बनाए संविधान के प्रारूप में नागरिकों के लिए बहुत सारी नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा की गारंटी दी गई है जिनमें धर्म की स्वतंत्रता, अस्पृश्यता का उन्मूलन और हर तरह के भेदभाव को समाप्त करना शामिल है। अंबेडकर ने महिलाओं के गठन, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों का पक्ष लिया। उन्होंने अनुचित जातियों और जनजातियों के लिए सरकारी नौकरियों, स्कूलों और कॉलेजों में आरक्षण की प्रणाली लागू करने के लिए केंद्रीय विधानसभा में समर्थन भी जीतकर दिखाया, जिसे बहुत सुधारात्मक उपाय माना जाता है।

अंबेडकर के अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र सामाजिक लोकतंत्र के आधार के बिना कायम नहीं रह सकता। सामाजिक लोकतंत्र ऐसी जीवन शैली है जिसमें स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारा जीवन के बुनियादी सिद्धांतों के रूप में रहते हैं। ये सिद्धांत आपस में एक–दूसरे से अलग नहीं, बल्कि जुड़े हुए हैं। इन्हें मिलाकर एक ऐसी तिकड़ी बनती है जिसमें कि इनको एक–दूसरे से अलग किया जाए तो लोकतंत्र का उद्देश्य पराजित हो जाता है। सामाजिक लोकतंत्र की अनुपस्थिति में लोगों के हाथों में सत्ता आना एक कल्पना मात्र हो सकती है। अंबेडकर इस बात से भली–भांति परिचित थे कि सिर्फ सरकार के लिए लोकतांत्रिक प्रणाली स्वीकार कर लेने से ही देश लोकतांत्रिक नहीं कहलाने लगता। उनका मानना था कि प्रत्येक समाज में समानता, कानून तथा प्रशासन की दृष्टि में समानता, संवैधानिक नैतिकता, अल्पसंख्यकों के प्रति बहुसंख्यकों का उदार दृष्टिकोण तथा जनचेतना का विकास भारत में लोकतंत्र की सफलता के लिए बहुत आवश्यक है। अंबेडकर के अनुसार सफल लोकतंत्र की सबसे जरूरी शर्त समाज में समानता थी क्योंकि यह लोकतंत्र के उस शानदार महल की आधारशिला होती है जिसमें उदारता तथा भाईचारे के विचार पनपते हैं। उन्होंने कहा था कि समानता, मानव व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और अगर समानता का अधिकार छीना गया तो सारे प्रयास बेकार हो जाते हैं।

भारत में समाज सुधारकों के नक्षत्रों में डॉ. अंबेडकर पहले थे जिन्होंने भारत में सामाजिक समस्याओं के हल के लिए कानूनी तथा राजनीतिक विचार पेश किये। उन्होंने अस्पृश्यों के सामाजिक स्तर के उत्थान के लिए सकारात्मक प्रयास किये। 1930 के बाद उन्होंने अपने आपको अस्पृश्यों के शैक्षणिक विकास के लिए समर्पित कर दिया। वे पहले समाज सुधारक थे जिन्होंने अस्पृश्यों के राजनीतिक तथा कानूनी अधिकारों की लड़ाई लड़ी क्योंकि उनके अनुसार, क्रांति का अर्थ सिर्फ एक दल से दूसरे दल के हाथ में राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण है। वास्तविक सामाजिक परिवर्तन तभी होगा जब क्रांति के साथ–साथ सत्ता का समाज की सभी ताकतों के बीच समान बंटवारा हो। उन्होंने वंचित वर्गों के सांस्कृतिक, धार्मिक और आर्थिक अधिकारों से संरक्षण वाले मूलभूत अधिकारों का घोषणापत्र तैयार किया और अल्पसंख्यकों की उपसमिति के सामने इसे पेश किया। अस्पृश्यता के उन्मूलन तथा समान नागरिकता के लिए उनका बहुत तीव्र आग्रह था।

डॉ. अंबेडकर का विश्वास था कि समतामूलक समाज व्यवस्था के लिए पुरुषों के बीच ही नहीं, बल्कि महिला और पुरुषों के बीच भी समानता होनी चाहिए। देश के कानून मंत्री के रूप में डॉ. अंबेडकर ने 4 फरवरी, 1951 को हिंदू कोड बिल पेश किया

टिप्पणी

था। हिंदू कोड बिल ने उनके प्रचलित कानून में सिर्फ चार नई बातें जोड़ीं। ये बाते थीं–जन्म से प्राप्त अधिकार के सिद्धांत का उन्मूलन, महिलाओं को संपत्ति में अधिकार, पैतृक संपत्ति में लड़कियों का हिस्सा तथा तलाक का प्रावधान। इसमें संतान को गोद लेने में पति के साथ–साथ पत्नी की भी मंजूरी का प्रावधान था। लड़कियों को भी गोद लेने की अनुमति दी गई। इस प्रकार अंबेडकर भारत के पहले क्रम के नारीवादी थे। अंबेडकर के सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों का मुख्य उद्देश्य समतामूलक सामाजिक व्यवस्था कायम करना था जो कि आधुनिक भारतीय राजनीति की वास्तविक आधारशिला बनी।

डॉ. अंबेडकर का एक अन्य उद्देश्य भारतीय राजनीति को आर्थिक शोषण से मुक्त करना था क्योंकि उनका दृढ़ विश्वास था कि जातिविहीन तथा वर्गविहीन समाज ही भारतीय राजनीति का मुख्य आधार होगा। 1937 में उन्होंने इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी का गठन किया। यह पार्टी शिक्षा, औद्योगिकीकरण तथा सामाजिक समानता के लिए समर्पित थी। बंबई प्रांत में यह पार्टी दूसरी सबसे बड़ी पार्टी बन गई। 15 आरक्षित सीटों में से इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी को 11 सीटें मिलीं। लेबर पार्टी के सदस्य के रूप में अंबेडकर का मुख्य मुद्दा भूस्वामित्व तथा पूंजीवाद समाप्त करना था। 1937 में बंबई विधानसभा में उन्होंने किसानों, खेतिहर मजदूरों तथा समाज के सभी वर्गों के कामगारों की आर्थिक समस्या को उठाया। यह भी बताना जरूरी है कि पहली लोकप्रिय प्रांतीय विधानसभा में अंबेडकर पहले विधायक थे जिन्होंने कृषि बटाईदारों की दासता खत्म करने के लिए विधेयक पेश किया। उन्होंने भूमिहीन मजदूरों, लघु सामूहिक खेती, भूमि राजस्व, मुद्रा प्रणाली, शिक्षा के व्यापीकरण तथा भूमिस्वामित्व–उन्मूलन जैसे मुद्दे भी उठाए। भारत के दो वायसरायों की कार्यकारी परिषदों के श्रम सदस्य के रूप में उन्होंने देश में श्रम कानूनों तथा कल्याण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मजदूरों तथा कामगारों के अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने कई कानूनी प्रावधानों को लाने में अहम भूमिका निभाई। उन्होंने सभी मजदूरों से समान व्यवहार करने पर जोर दिया, फिर चाहे वे औद्योगिक मजदूर हों या खेतिहर।

अंबेडकर का उद्देश्य लोगों के आर्थिक जीवन में संरचनात्मक परिवर्तन लाना था ताकि शोषण की कोई गुंजाइश न बचे। डॉ. अंबेडकर महान स्वप्नद्रष्टा थे। वे ऐसा लोक भारत बनाना चाहते थे जो मजबूत और अखंड हो। अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण ने उन्हें अन्य लोगों से अलग बनाया। उनका विश्वास था कि देश भले ही स्वतंत्र हो गया हो, लेकिन इसके लोग नहीं। राज्य की सत्ता सिर्फ कुछ प्रभावशाली लोगों के हाथों में सीमित है। शोषित और शोषक वाली राजनीतिक व्यवस्था उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। भारत को आधुनिक और सभ्य, वैमनस्य तथा मतभेद मुक्त बनाने के अपने उद्देश्य के एक हिस्से के रूप में उन्होंने राजनीति की अन्य समस्याओं पर भी ध्यान दिया।

देश की एकता और अखंडता को ध्यान में रखते हुए डॉ. अंबेडकर ने भाषा की समस्याओं पर भी ध्यान दिया। उन्होंने एक भाषा–अनेक राज्य का सुझाव दिया। वे भाषाई आधार पर राज्यों के गठन के विरोधी थे। डॉ. अंबेडकर के देशभक्ति से भरे मन में यह विचार कभी नहीं आया कि भाषा के नाम पर भारत की एकता को कोई खतरा हो सकता है। उन्होंने ठोस चेतावनी दी कि जिस तरह से एक धर्म लोगों को एकजुट कर सकता है, उसी तरह से दो भाषाएं लोगों को विभाजित कर सकती हैं। संविधान के प्रारूप में

उन्होंने हिंदी को राष्ट्र भाषा तथा अशोकचक्र को राष्ट्रीय प्रतीक बनाया। वे भारत को शांतिपूर्ण और भाईचारे का देश बनाना चाहते थे। डॉ. अंबेडकर स्वप्नद्रष्टा और क्रांतिकारी, दोनों ही थे। वे राष्ट्रवाद की मजबूत भावना में उदारवादी थे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय, समानता, देश की एकता तथा अखंडता के लिए उनके अपार योगदान के लिए भारत की जनता उन्हें लंबे समय तक याद रखेगी।

अपनी प्रगति जांचिए

3. 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' नाम के संगठन की स्थापना कब की गई?

   (क) 1904 में (ख) 1914 में

   (ग) 1900 में (घ) 1924 में

4. गांधी और अंबेडकर के बीच 24 सितंबर, 1932 को हुए समझौते को किस नाम से जाना जाता है?

   (क) पूना पैक्ट (ख) बंबई पैक्ट

   (ग) मद्रास पैक्ट (घ) दिल्ली पैक्ट

5.4 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ग)
2. (ख)
3. (घ)
4. (क)

5.5 सारांश

जाति व्यवस्था की कमियों का सामना करने वाले प्रमुख और महान व्यक्तियों में बाबा साहब अंबेडकर का नाम अग्रणी है। अंबेडकर ने न सिर्फ जाति व्यवस्था की आलोचना की बल्कि इसके सुधार के अनेक सार्थक प्रयास भी किए।

बाबा साहब अंबेडकर के नाम से मशहूर भीमराव रामजी अंबेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 को मध्य प्रदेश के इंदौर के पास स्थित महू में एक महार परिवार में हुआ था जो एक अस्पृश्य जाति मानी जाती थी। रामजी मालोजी सकपाल और भीमबाई की वे चौदहवीं संतान थे। अंबेडकर के पूर्वज लंबे समय से ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी में काम करते रहे थे। उनके पिता महू छावनी में भारतीय सेना में थे।

जब वे पांच वर्ष के थे, तभी उनका नाम महाराष्ट्र के रत्नागिरी जिले में दापोली के एक स्कूल में लिखवाया गया। वहां उन्हें आभास हुआ कि उनके तथा उनके परिवार के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार होता है। स्कूल में शिक्षक अपवित्र होने के डर से उनकी कॉपी–किताबें नहीं छूते थे। नाई भी उनकी जाति से श्रेष्ठ माने जाते थे, इसलिए वे भी उनके बाल काटने से इनकार कर देते थे। गाड़ीवान भी उन्हें गाड़ियों में नहीं बैठाते थे।

मुंबई के एलिफिंस्टन हाईस्कूल में उन्हें कक्षा में नीचे एक कोने में फट्टा बिछाकर बैठना पड़ता था जबकि अन्य छात्र मेज–कुर्सी पर बैठते थे। उन्हें स्कूल में अन्य छात्रों के लिए रखे पानी को पीने की भी अनुमति नहीं थी।

टिप्पणी

बचपन से उन्होंने इसी तरह का भेदभाव सहन किया था और इसे वे जीवन भर नहीं भूल पाए। बड़े होकर अंबेडकर को महसूस हुआ कि सामाजिक रूप से दबी–कुचली जाति में जन्मे हर व्यक्ति के साथ ऐसा ही अमानवीय व्यवहार होता है। इस तरह के अपमान तथा कठिन परिस्थितियों के बावजूद अंबेडकर ने 1907 में मैट्रिक की परीक्षा पास की और आगे की पढ़ाई के लिए एलिफिंस्टन कॉलेज में दाखिला लिया। इंटरमीडिएट के बाद भीमराव को बड़ौदा के राजा सयाजीराव गायकवाड़ से छात्रवृत्ति मिल गई और 1912 में उन्होंने कला स्नातक की उपाधि हासिल की। उनके विवाह के समय उनकी पत्नी की उम्र मात्र 9 साल थी। 1912 में ही उनकी पत्नी ने पहले पुत्र यशवंत को जन्म दिया।

अंबेडकर के जीवन का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू भी था जिसकी चर्चा करना जरूरी है। वह था उनका बौद्ध धर्म स्वीकार करना। अंबेडकर ने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया था। बौद्ध धर्म में हिंदू जाति व्यवस्था को अस्वीकार किया गया था। यह बात अंबेडकर तथा अन्य वंचित वर्ग के नेताओं को आकर्षित करती थी। 1950 के दशक में अंबेडकर ने पूरा ध्यान बौद्ध धर्म की ओर लगा दिया और बौद्ध विद्वानों तथा भिक्षुओं के सम्मेलन में भाग लेने श्रीलंका भी गए। 1955 में उन्होंने भारतीय बौद्ध महासभा का गठन किया। 1956 में उन्होंने नागपुर में एक विशाल सार्वजनिक समारोह करके अपने समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। अंबेडकर ने एक बौद्ध भिक्षु से पारंपरिक तरीके से तीन रत्न ग्रहण करके और पंचशील को अपनाते हुए बौद्ध धर्म ग्रहण किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार किया। एक अनुमान के मुताबिक उनके साथ करीब 500,000 समर्थकों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

अंबेडकर ने अस्पृश्यता तथा जाति प्रथा के विरुद्ध संघर्ष शुरू करने से पहले हिंदू समाज का पूरा अध्ययन और विश्लेषण किया। उन्होंने जाति प्रथा तथा अस्पृश्यता के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने से पहले इन बुराइयों के आरंभ का विश्लेषण करने की कोशिश की। अंबेडकर ने महसूस किया कि निचली जातियों का दमन दो कारणों से होता है– पहला, सशक्त अंदरूनी वर्णानुक्रम और दूसरा, जाति आधारित असमानता। इस प्रकार अंबेडकर ने निचली जातियों के लोगों से अपनी जीवनशैली में बदलाव की अपील की। उन्होंने दलितों से मरे हुए जानवरों को उठाने का काम छोड़ने को कहा। उन्होंने मरे हुए जानवरों का मांस खाना, शराब पीना और भीख मांगना छोड़ने की भी सलाह दी। उन्होंने पढ़ने और अच्छे कपड़े पहनने का भी आग्रह किया। अंबेडकर ने निचली जातियों के लोगों में गौरवशाली इतिहास की भावना जगाने की कोशिश की ताकि उन्हें वैकल्पिक, जातिरहित पहचान हासिल करने में मदद मिले और वे अपने मतभेद भुलाकर आत्मसम्मान हासिल कर सकें। अंबेडकर जाति प्रथा के नाश के लिए पूरी तरह से प्रतिबद्ध थे। उनका विचार था कि जाति प्रथा सिर्फ श्रम का विभाजन नहीं, बल्कि श्रमिकों का भी विभाजन है। यह स्तरीकरण की प्रणाली है जिसने श्रमिकों को एक के ऊपर एक स्तर पर रखकर विभाजित किया। श्रम का विभाजन व्यक्तिगत रुझान या

संबंधित व्यक्ति की पसंद पर आधारित नहीं था। उन्होंने इसे नुकसानदायक माना क्योंकि यह मनुष्य की नैसर्गिक शक्ति तथा पूरी शक्ति से अपनी कार्य करने की योग्यता का दुरुपयोग है।

टिप्पणी

अंबेडकर का समग्र राष्ट्रवाद उनकी महान सोच और मानवता की भावना का परिचायक है। उन्होंने समझा कि भारतीय समाज की बुराइयों के खिलाफ आंदोलन करने के लिए वंचित वर्गों को संगठित करने की जरूरत है। उन्होंने तथाकथित अस्पृश्यों को एक संगठन के तले एकजुट करने का प्रयास शुरू किया। 1924 में उन्होंने 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' नाम के संगठन की स्थापना की। संगठन का उद्देश्य 'शिक्षा, आंदोलन और संगठन' था। दबे–कुचले वर्गों पर अत्याचार के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत उन्होंने महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों का दौरा करने के बाद की और 'निचली' जातियों के बीच शिक्षा का प्रचार–प्रसार करने में जुट गए। उन्होंने वंचित वर्गों को अपने अधिकारों के लिए आंदोलन करने की सलाह दी। बाद में उन्होंने अपने संघर्ष का विस्तार करते हुए देशभर का दौरा करना शुरू किया। बहिष्कृत हितकारिणी सभा के उद्देश्य को हासिल करने के लिए उन्होंने जनवरी, 1925 में अस्पृश्य छात्रों के लिए छात्रावास शुरू किया। अंबेडकर ने महसूस किया कि सिर्फ शिक्षा के जरिए ही 'निचली' जातियों में सामाजिक तथा क्रांतिकारी चेतना पैदा की जा सकती है।

अंबेडकर का उद्देश्य लोगों के आर्थिक जीवन में संरचनात्मक परिवर्तन लाना था ताकि शोषण की कोई गुंजाइश न बचे। डॉ. अंबेडकर महान स्वप्नद्रष्टा थे। वे ऐसा लोक भारत बनाना चाहते थे जो मजबूत और अखंड हो। अपने उद्देश्य को हासिल करने के लिए उनके व्यावहारिक दृष्टिकोण ने उन्हें अन्य लोगों से अलग बनाया। उनका विश्वास था कि देश भले ही स्वतंत्र हो गया हो, लेकिन इसके लोग नहीं। राज्य की सत्ता सिर्फ कुछ प्रभावशाली लोगों के हाथों में सीमित है। शोषित और शोषक वाली राजनीतिक व्यवस्था उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। भारत को आधुनिक और सभ्य, वैमनस्य तथा मतभेद मुक्त बनाने के अपने उद्देश्य के एक हिस्से के रूप में उन्होंने राजनीति की अन्य समस्याओं पर भी ध्यान दिया।

5.6 मुख्य शब्दावली

- **कटु** : खराब, कड़वा, तीखा।
- **नायक** : किसी विचार या स्थिति के पक्ष में बोलने वाला और तर्क रखने वाला प्रमुख व्यक्ति।
- **निरर्थक** : विफल, बेकार और अर्थहीन।
- **स्तरीकरण** : योग्यता और आवश्यकतानुकूल।
- **प्रखर** : तीव्र, तेज।
- **वंचना** : धोखा देना, छल करना।
- **दृढ़ता** : अटलता, स्थिरता।
- **आधारशिला** : किसी कार्य या वस्तु का मुख्य आधार।

टिप्पणी

5.7 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. अंबेडकर के पूर्वज और पिताजी कहां काम करते थे?
2. अंबेडकर ने मैट्रिक की परीक्षा किस वर्ष पास की थी?
3. अंबेडकर किन लोगों से बहुत अधिक प्रभावित थे?
4. भारतीय समाज की सामाजिक बुराइयों के खिलाफ आंदोलन करने के लिए अंबेडकर को क्या जरूरी लगा?
5. अंबेडकर वास्तविक सत्ता किसके हाथों में स्थानांतरित करना चाहते थे?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. अंबेडकर ने बचपन से जाति व्यवस्था का जो भेद–भाव सहन किया था, उसकी समीक्षा कीजिए।
2. जाति व्यवस्था की आलोचना करते हुए इस पर अपने विचार लिखिए।
3. एक सामाजिक क्रांतिकारी के रूप में अंबेडकर के कार्यों की व्याख्या कीजिए।
4. महात्मा गांधी और अंबेडकर के बीच हुए पूना पैक्ट समझौते पर प्रकाश डालिए।
5. भारत की राजनीतिक प्रणाली के संदर्भ में अंबेडकर के विचारों की विवेचना कीजिए।

5.8 सहायक पाठ्य सामग्री

1. अवस्थी ए. और अवस्थी आर. के., *आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन* (नई दिल्लीः रिसर्च पब्लिकेशन, 1997)।
2. ए. आचार्य, *'लिबरलिज्म'*; आर. भार्गव एवं ए. आचार्य (संपा) *पॉलिटिकल थ्योरी : एन इन्ट्रोडक्शन,* (नयी दिल्लीः पियर्सन, 2008) पृ. 236–243।
3. ए. डी. आशीर्वादम तथा कृष्णकान्त मिश्र, *राजनीतिक विज्ञान,* (नई दिल्ली : एस. चन्द एण्ड कम्पनी, 1992) 11वां हिन्दी संस्करण।
4. ऐलन रेयान, *'लिबरलिज्म'*; आर. गुडिन एवं पी. पेटिट (संपा). *ए कम्पेनियन टु कंटम्परेरी पॉलिटिकल फिलासफी,* (ऑक्सफोर्डः ब्लैकवेल, 1993) पृ. 360–362।
5. चंद्रा बी, *हिस्ट्री ऑफ़ मॉडर्न इंडिया* (नई दिल्लीः ओरिएंट ब्लैक्स्वान, 2009)।
6. प्रधान आर सी (2008), *राज टू स्वराज,* नई दिल्ली : मैकमिलन इंडिया लिमिटेड।
7. बारिया धरमपाल, *गोपालकृष्ण गोखले* (दिल्ली : मनोज पब्लिकेशन्स, 2003)।
8. वर्मा वी. पी., *आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन* (आगरा : लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, 2009)।